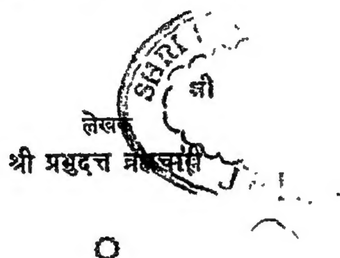
The book is approved by the Director of Public
Instruction U. P., for the use of both
boys and girls' institutions for
Libraries, Prizes. and
Teachers' use.

आदर्श-चरितमाला—प्रथम पुष्प

महाभारत के प्राण

महात्मा कर्ण



लेखक

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

○

प्रकाशक

अनन्तराम श्रीवास्तव

अध्यक्ष—"मानस-पीयूष" कार्यालय

दारागंज, प्रयाग।

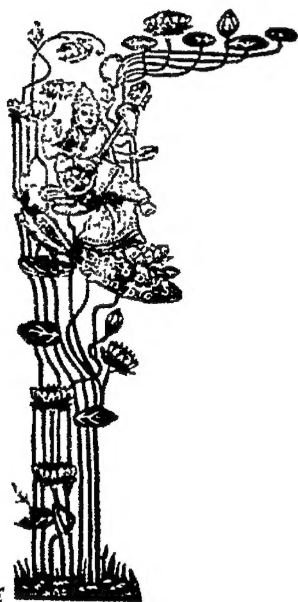
द्वितीय संस्करण] १९४५ [मूल्य २॥।)

प्रकाशक
"मानस-पीयूष" कार्यालय
दारागंज, प्रयाग।



मुद्रक
आई० वी० सक्सेना
माधो प्रिंटिंग वर्क्स
इलाहाबाद।

उपहार



श्रीहरिः

द्वितीय संस्करण की भूमिका

यो दुर्विमर्शपथया निज माययेदम्,
सृष्ट्वा गुणान् विभजते तदनु प्रविष्टः।
तस्मै नमो दुरवबोध विहार तन्त्र—
संसार चक्र गतये परमेश्वराय ॥*

पार्थ सारथी श्यामसुन्दर श्री नटनागर नंदनंदन के तनिक से संकेत को पाकर के प्राणी कर्म-चक्र में व्यस्त होकर निरंतर घूम रहे हैं। और वे खिलाड़ी यवनिका की ओट में बैठे बैठे हँस रहे हैं। जो अपने को स्वतंत्र पात्र मान कर अपने में कर्तृत्व का आरोप कर बैठे हैं, वे भाँति-भाँति के हर्ष विस्मयों में पड़कर क्षण क्षण में दुखी सुखी होते हैं। हर्ष शोक के

---

* जो अपनी दुर्विज्ञेय गति वाली माया के द्वारा इस सम्पूर्ण चराचर विश्व को रच कर फिर सभी में समान रूप से व्याप्त होकर गुणों का विभाजन करते हैं। अर्थात् कर्म और कर्मों के फलों को पृथक् पृथक् करते हैं। मैं उन परमेश्वर श्रीकृष्ण को नमस्कार करता हूँ, जिनकी अचिन्त्य लीला ही इस संसार चक्र की गति का प्रधान हेतु है।

वशीभूत होकर भाँति भाँति की चिन्ताओं से चिन्तित बने रहते हैं। जिन्होंने अपना सम्पूर्ण अपनापन उन्हीं के चरणों में अर्पित कर दिया है, वे हर्ष शोक से पृथक् रह कर उन्हीं की तरह तटस्थ होकर इस क्रीड़ा का निरीक्षण करते हैं। यही दैव और कर्म, प्रारब्ध और पुरुषार्थ का रहस्य है। ये सब बातें हमें महापुरुषों के जीवन-चरित्र पढ़ने से समझ में आती हैं। महात्मा कर्ण का जीवन इसी दृष्टिकोण से लिखा गया था।

मुझे हर्ष है कि जनता ने इस पुस्तक को अपनाया। सात, आठ महीने में ही इसका प्रथम संस्करण समाप्त हो गया। पिछले लगभग एक साल से यह ग्रंथ अप्राप्य हो गया था, अब इसका यह द्वितीय संस्करण पुनः प्रकाशित हो रहा है। अब कुछ कहने वाली बात तो है नहीं, किन्तु पुरुषार्थ और प्रारब्ध का विषय इतना गंभीर है, कि इस पर चाहें जितना कह लो, चाहें जितना लिख लो यह इसका सर्वसम्मत निर्णय न होगा। कुछ लोग प्रारब्ध को श्रेष्ठ मानते हैं, कुछ पुरुषार्थ को और यह मतभेद सदा से ही बना रहा है, सदा ही बना रहेगा। भारतीय शास्त्रकारों ने इस विषय पर अनेक भाँति से विचार किया है। एक कहानी सुनिये—

भगवान व्यासदेव के नाना एक मल्लाह थे, जिनके घर उनकी माता सत्यवती जी पाली-पोसी गई थीं। वे निषाद राज मरने से बड़े डरते थे। एक दिन घूमते फिरते, हरिगुण गाते, वीणा बजाते, जगत को रिझाते देवर्षि नारद जी उनके पास पहुँच गये। निषादराज ने नारदजी को प्रणाम किया, पूजा की, आदर सत्कार के पश्चात अपनी मनोव्यथा सुनाई—'महाराज जी, मुझे मृत्यु से बड़ा डर लगता है, कोई ऐसी तरकीब

बनाइये कि मैं मरूं नहीं। आप तो यमराज के यहाँ जाया ही करते हैं। मेरी शिफारिस कर देना कि मुझे मारें नहीं। मारने के लिये इतना संसार पड़ा है। मुझ अकेले को छोड़ देंगे, तो उनका क्या बिगड़ जायगा।'

यह सुन कर नारद जी मन ही मन हँसे, अपनी हँसी को भीतर ही भीतर रोक कर बोले—'देखो भैया, यमराज से मेरा इतना मेल जोल है नहीं। वे बड़ी रूखी तबियत के हैं। मेरी बात मानी न मानी। मैं तुम्हें एक तरकीब बताता हूँ। तुम्हारी जो लड़की के लड़के हैं व्यास जी ये भगवान के अवतार हैं, ये जिस देवता से जो कह दें, वह उसे टाल नहीं सकता। यदि ये यमराज से कह दें तो बस फिर तुम समझो कि अजर अमर हो गये। फिर मृत्यु तुम्हारे पास फटक भी नहीं सकता। परन्तु ये तुम से बहुत मना करेंगे। तरह तरह से समझावेंगे। उनके भुलावे में मत आजाना।' इतना कह कर अपनी वीणा जल्दी से उठाकर नारद जी यह गये वह गये। थोड़ी देर में नौ दो ग्यारह हो गये।

कालान्तर में व्यास जी अपने नाना के पास आये। कुशल क्षेम आदर सत्कार के अनंतर निषादराज ने वही बात कहना आरम्भ किया—'बेटा मैंने सुना है तुम्हारा बड़ा प्रभाव है। सब देवता तुम्हें बहुत मानते हैं। मेरा एक काम करोगे ?'

व्यास जी ने कहा—हाँ, नाना जी! ऐसी कौन सी बात है आप आज्ञा करें। मैं उसे जरूर करूँगा।'

निषादराज बोले—देखो, पीछे अपने वचन से टल मत जाना।

व्यास जी के कान खड़े हुए। पता नहीं क्या कहेंगे। फिर भी उन्हें अपनी सामर्थ्य का भरोसा था। बोले—'नहीं, कोई बात नहीं है। आप जो आज्ञा करें वही मैं करूंगा।'

तब निषादराज बोले—'देखो, भैया, मुझे मृत्यु से बड़ा डर लगता है तुम यमराज से जाकर मेरी सिफारिश कर दो कि उन्हें मारने के लिये इतना बड़ा संसार पड़ा है एक मुझे छोड़ दें। व्यास जी बड़े चक्कर में पड़े। उन्होंने भाँति-भाँति से उस बूढ़े को समझाया। अनेक प्रकार के आख्यान सुनाये और यह सिद्ध किया कि जिसने जन्म लिया है, उसे मरना अवश्य पड़ेगा, इसे ब्रह्मा भी नहीं मिटा सकते। किन्तु निषाद तो बड़े गुरु के चेला था, उसे तो नारद जी ने पहिले ही सिखा पढ़ा कर ठीक कर दिया था, व्यासजी की एक भी युक्ति उसके गले के नीचे नहीं उतरी। वह बार-बार यही कहता रहा—'देखो, जनम करम में तो मैंने तुमसे एक काम करने को कहा। उसे भी तुम टालमटोल करते हो। तुम यदि चाहो तो सब हो सकता है। यमराज तुम्हारी बात नहीं मानेंगे क्या?'

व्यास जी घबड़ाये अच्छे चक्कर में पड़े। नारद जी का बोया बीज ऐसा ही होता है। क्या करते, बात टालने को बोले—'अच्छी बात है, मैं जाता हूँ यमराम से जाकर कहूँगा।'

बुड्ढा भी बड़ा चालाक था, दुनिया देख चुका था, व्यास जी के हाव-भाव से समझ गया कि कुछ दाल में काला है। बोला—'अच्छा, मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा।' व्यास जी तो फँस गये थे बोले—'अच्छी बात है, आप भी चलो।' अब नाना धेवते दोनों मिल कर यमराज के समीप पहुँचे।

व्यास जी को दूर से ही आते देख कर यमराज जी ने उठ कर उनका स्वागत किया। सिंहासन पर बिठाकर पूजा की। कुशलक्षेम के अनन्तर व्यास जी ने निषादराज का परिचय देते हुए कहा—'ये मेरे नाना हैं, ये मरने से बहुत डरते हैं। ये चाहते हैं आप कृपा करके इन्हें छोड़ दें। इनको आप से भय न हो।'

यमराज ने हाथ जोड़ कर कहा—'भगवन्! आपके नाना हैं, मेरे भी नाना हैं। जब आप इनकी सिफारिश करने आये हैं तब मुझे इसमें क्या आपत्ति हो सकती है। किन्तु मारने आदि का काम मैंने अपने एक मंत्री 'मृत्यु' के जिम्मे कर रखा है। आप उस से कह दें। वह स्वीकार करले, तो बड़ी प्रसन्नता की बात है।'

व्यास जी का ऐसा स्वागत-सत्कार देखकर और यमराज के ऐसे विनीत वचन सुनकर, बुड्ढा मन ही मन प्रसन्न हो रहा था कि अब तो बाजी मार ली। बुड्ढे ने संकेत से व्यास जी से कहा—'इन्हें भी ले चलो सिफारिश के लिये।' अपने नाना का अभिप्राय समझकर व्यास जी ने कहा 'थोड़ा आप भी कष्ट करें तो अच्छा हो।'

यमराज जी भी साथ चले, अब दो से तीन हुए। तीनों मृत्यु के कार्यालय में पहुँचे। अपने स्वामी को व्यास भगवान के साथ आते देख कर मृत्यु हड़बड़ा कर अपने आसन से उठ खड़े हुए। सबकी यथोचित पूजा की। स्वागत सत्कार और कुशल क्षेम के अनन्तर व्यास जी ने अपना राग अलापना आरम्भ किया—'ये मेरे नाना हैं। मरने से बहुत डरते हैं। यमराज जी ने इन्हें क्षमा कर दिया है। आप भी इन पर कृपा करें।'

हाथ जोड़कर मृत्यु ने कहा—'भगवन्! जब मेरे स्वामी धर्मराज ने इन्हें क्षमा कर दिया है और आप आज्ञा दे रहे हैं, तो मुझे क्या आपत्ति हो सकती है? किन्तु मैं जानता नहीं किसे मारना चाहिये। यह काम 'कालदेव', के जिम्मे है। वे जिसके लिये कहते हैं, उसी समय मैं उसे मार कर ले आता हूँ। आप 'काल' से कह दें। इनका लेखा मेरे सामने उपस्थित न करें। मैं इनके पास भी न फटकूँगा।'

काल भगवान का कार्यालय कुछ दूर था। व्यास जी ने कहा—'अच्छा भैया, चलो तुम भी चलो। यह झंझट पूरी तरह निबट जाना चाहिये।' अब तीन से चार हुए।

यमराज, मृत्यु, व्यास जी आदि को आते देख कर काल घबड़ा गये क्या मामला है। अस्तु-पूजा, कुशल क्षेम के अनन्तर व्यास जी ने संक्षेप में सुनाया —'ये मेरे नाना हैं, मरने से बहुत डरते हैं, यमराज, मृत्युदेव ने इन्हें क्षमा कर दिया है। आप भी इन पर कृपा करें।'

सब से बलवान भगवान कालदेव बोले—'प्रभो! मैं तो आप सब का आज्ञाकारी हूँ। मुझे क्या पता। किस की मृत्यु का समय है। यह काम वयमाता के जिम्मे है। वे जिसकी जितनी अवस्था लिख देती हैं, उतनी होने पर मैं मृत्यु को सूचना देता हूँ, वे उस व्यक्ति को पकड़ लाते हैं। आप वयमाता से कह दें उन्होंने जो भी कुछ लिखा हो मुझे न बतावें मैं मृत्युदेव से इनके सम्बन्ध में बात भी न करूँगा।

व्यास जी घबड़ा गये, अच्छे चक्कर में फँसे। एक आदमी की मृत्यु का परलोक में इतना लम्बा चौड़ा हिसाब रहता है वे आज इसे समझे। बोले—'भैया, चलो, इस झंझट को मेंट दो। उनसे भी इसे तै करा दो।' अब चार की जगह पाँच हुए।

वयमाता यमराज, व्यास देव, मृत्यु, काल के सहित उस बुड्ढे को आते देख कर हँस पड़ी। किन्तु इतने बड़े लोगों के सम्मुख हँसना उचित नहीं। यही सोच कर अपनी हँसी को रोक कर उसने सबका यथोचित आदर सत्कार किया। सब की पूजा की। व्यास जी का ध्यान पूजा की ओर नहीं था। जब यह सब शिष्टाचार हो गया, तो वे बोले—'मेरे ये नाना हैं यमराज, मृत्यु और कालदेव ने इन्हें क्षमा कर दिया है। आप भी इनका लेख्या मेट दें जिससे ये मृत्यु के भय से छूट जायें।'

व्यास जी की बात सुनकर वयमाता ने कहा—'भगवन्! जो बाण एक बार धनुष से छूट गया वह फिर लौट कर नहीं आता। वह तो लक्ष्य को भेद कर ही समाप्त होगा। मेरा काम यह है, कि प्राणियों की मृत्यु के संयोग को लिखना। किस समय, किस स्थान पर, कहाँ, किस के सामने, कैसी दशा में, किस की, कब मृत्यु होगी यह मैं लिख देती हूँ। वैसा संयोग जुट जाने पर काल मृत्यु को सूचना देते हैं। तब वे प्राणियों को पकड़ कर यमराज के सामने उपस्थित कर देते हैं। मैं जानती थी कि ये भगवान व्यास देव के नाना होंगे, मृत्यु से बहुत डरेंगे। इसलिये मैंने इनकी मृत्यु का ऐसा असम्भव संयोग लिखा कि जो न आज तक कभी जुटा था, न आगे जुटने की सम्भावना ही थी। मैंने सोचा—'मुझे खाना पूरी तो करनी ही पड़ेगी। ऐसा संयोग लिख दो कि न कभी जुटे न इनकी मृत्यु हो। देखिये, मैंने इनके मृत्यु के संयोग के कोष्टक में क्या लिखा था, यह कह कर वयमाता ने अपने वही खाते को व्यास जी के सम्मुख रखा। व्यास जी उसे पढ़ने लगे—'जिस समय व्यास जी, यमराज, मृत्युदेव, काल ये सब एक साथ

मिल कर वयमाता के यहाँ बैठे होंगे और यह निपादराज भी वहाँ उपस्थित होगा, जब व्यास जी इसके खाते को पढ़ते होंगे, तभी इसकी मृत्यु होगी।'

व्यास जी पढ़ रहे थे, कि उनके नाना जी धड़ाम से नीचे गिर पड़े और उनके प्राण पखेरू को मृत्युदेव ने उसी जगह पकड़कर यमराज के अधीन कर दिया।

वयमाता बड़े जोर से हँस पड़ी और बोली—'भगवन् जीव करता है अपनी रक्षा का उपाय, किन्तु उस से रक्षा न होकर उलटे वह संकट में पड़ जाता है। यह जान-बूझकर अपनी मृत्यु को अपने साथ बटोर लाया।'

इस कहानी की सत्यता असत्यता पर विचार न करें। अपने नित्य प्रति के जीवन में अनुभव करें कि हम जिस काम को करना नहीं चाहते, उसे कोई शक्ति हम से विवशता पूर्वक करा लेती है जिसको हम करना चाहते हैं लाख प्रयत्न करने पर भी वह नहीं होता। जो काम होना होता है बहुत साधारण से उपकरणों से हो जाता है। जो नहीं होने को होता उसमें बड़ी से बड़ी शक्ति लगाते हैं, नहीं होने पाता। एक आदमी जन्म से ही स्वस्थ है, निरोग है, धनी है, ऐश्वर्यवान है। दूसरा पैदा होते ही नाना रोगों से ग्रस्त रहता है, समय पर भोजन नहीं मिलता किसी का स्नेह प्राप्त नहीं होता। एक ही कक्षा में पढ़ने वाले छात्र हैं, एक ही पढ़ने का विषय है, एक ही अध्यापक है। उनमें से बहुत से सुनते ही समझ जाते हैं बहुत से श्रम करने पर समझते हैं। बहुत से ऐसे भी होते हैं, कि लाख प्रयत्न करने पर भी उनकी समझ में बात नहीं आती। एक ही पिता के चार पुत्र हैं। पिता ने समान रूप से शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध किया है। उनमें से एक महान् विद्वान होता है, दूसरा

महामूर्ख, तीसरा व्यापारी और चौथा दुश्चरित्र। चार परमार्थ पथ के साधक एक ही गुरु से दीक्षा लेकर साधना में प्रवृत्त होते हैं। एक तो स्वल्पकाल में ही सिद्ध बन जाता है। दूसरा घोर तप, कठोर व्रत उपवास करके बीसों वर्ष में थोड़ी सिद्धि प्राप्त करता है। शेष ऐसे हैं, कि जिन्हें इस जन्म में सिद्धि मिलती ही नहीं। इन सब बातों का समाधान पूर्व जन्म के सिद्धान्त को मानने पर स्वतः ही हो जाता है। जो लोग पूर्व जन्म को नहीं मान कर इन प्रश्नों का जो उत्तर देते हैं, उनसे किसी भी विचारशील पुरुष का सन्तोष नहीं हो सकता। पूर्व जन्म की बात केवल शास्त्रों के प्रमाणों से ही सिद्ध नहीं है। अनेक प्रत्यक्ष उदाहरण इसके अभी इसी काल में मिले हैं। देहली की एक लड़की ने हजारों आदमियों के सामने मथुरा में आकर अपने पूर्व जन्म के घर का एक एक व्यक्ति का प्रत्यक्ष परिचय दिया। ऐसी ऐसी गुप्त बातें बताईं, जिसे सुन कर सभी आश्चर्यचकित हो गये।

ये बातें समाचार पत्रों से प्रकट होने से सब जान गये। किंतु हमारे यहाँ गाँवों में ऐसी घटनायें रोज ही होती रहती हैं कोई छोटी बच्ची बोलते ही किसी गाँव का नाम लेने लगती है। घर का परिचय देती है। बहुत आग्रह करने पर पिता वहाँ ले जाता है वह ठीक २ बता देती है अमुक जगह मैंने इतने रुपये गाड़े थे खोदने पर उतने ही निकलते हैं। इस तरह एक नहीं अनेक व्यक्ति अपने पूर्व-जन्म का वृत्तान्त बताते हैं। ज्योतिष-शास्त्र से भी पूर्व-जन्मों का फलाफल जानने की प्राचीन पद्धति थी और कभी २ तो वह इतनी सत्य निकलती है, कि आश्चर्य्य होता है। जिनके पास प्राचीन गर्ग संहितायें हैं वे तीन जन्म का वृत्तान्त बताते हैं। इस तरह पूर्व-जन्मों के शुभाशुभ कर्म

हमारे साथ लगे रहते हैं। उनसे ही प्रारब्ध का निर्माण होता है। इसीलिये यह वैषम्य है। हम सब प्रारब्ध के आधीन हो कर कार्य कर रहे हैं। दैव या प्रारब्ध ही हमें नचा रहा है, वही हमें भटका रहा है। जैसा होने को होता है, वैसे ही संयोग जुट जाते हैं, वैसे ही हमारी बुद्धि हो जाती है और उसी भाँति के कर्मों में हमारी प्रवृत्ति होने लगती है। प्रारब्ध को कोई मेंट नहीं सकता, दैव की गति को कोई अन्यथा नहीं कर सकता। भाग्य को कोई बदल नहीं सकता। इसलिये शास्त्रकारों ने कहा है, यदि कोई काम तुम्हारे अनुकूल होजाय तो, तुम विस्मय मत करो, कि यह अकस्मात कैसे हो गया और कोई प्रतिकूल हो जाय, तो शोक, चिन्ता मत करो, कि हाय ! यह क्यों हो गया ?

यह स्मरण रखो, कोई काम अकस्मात् या सहसा नहीं होता, सब का विधान बना हुआ है। बीज जमीन के भीतर दबा रहता है, उसे कोई देखता नहीं है। उसका परिणाम जब प्रकट होता है, अंकुर निकलता है —तो हम अनुमान करते हैं, अरे, अवश्य ही इसके नीचे बीज होगा। शाम को जिस पेड़ पर हम कुछ नहीं देखते, सुबह उठते ही हम उस पर फूल खिला देखकर चकित हो जाते हैं। अरे, यह सहसा फूल कहाँ से आया ? यह सहसा नहीं आया है। बहुत पहिले से बन रहा था भीतर ही भीतर। जब परिणाम व्यक्त हुआ तो हमें दीखने लगा।

जब हम अजामिल को पहिले इतना तपस्वी मातृ-पितृ भक्त, सत्यवादी देखते हैं; और पीछे वही वेश्या के संग से चोर जुआरी और लंपट हो जाता है, तो हम उसे धिक्कारते हैं अरे, उसने कैसा बुरा काम किया। उसी की जब पुत्र के बहाने

से 'नारायण' कहने पर संसार से मुक्ति हो जाती है, उसके समीप विष्णुपार्षद आने की बात सुनते हैं, तो हम इस पर सहसा विश्वास नहीं करते। करते भी हैं तो महान् आश्चर्य प्रकट करते हैं अरे, ऐसे पापी को मुक्ति कैसे हुई ? किन्तु जब हमें उसके पूर्व जन्म का वृत्तान्त ज्ञात होता है कि यह पूर्व जन्म में एक बड़ा भारी तपस्वी था। पौष माघ की सर्दी में वह निरंतर बरफ के जल में खड़ा रहता था। एक समय अत्यंत सरदी से वह बेहोश हो गया। किसी ब्राह्मण ने अपनी युवती कन्या से कहा—'बेटी, इसे अपने शरीर की गरमी से चैतन्य करो।' उस सच्चरित्रा कन्या ने अपने बाहुपाशों में लपेट कर अपने देह की गरमी से उसे चैतन्य किया। तपस्या से बढ़े हुए अभिमान के कारण उसने बिना सोचे समझे उस कन्या को शाप दे डाला—'तू ने मेरा धर्म भ्रष्ट कर दिया, जा तू अगले जन्म में वेश्या हो जायगी।'

कन्या को भी क्रोध आ गया, उसने सोचा—'हवन करते हाथ जलना है। मैंने शुद्ध बुद्धि से इसका उपकार किया। इसने बिना समझे मुझे शाप दे दिया। तब उसने भी शाप दिया—'तू भी दूसरे जन्म में निन्द्य कर्म करने वाला होगा और मेरे ही ऊपर आसक्त होकर तू अपना धर्म कर्म छोड़ देगा।' अच्छा या बुरा कोई कर्म निष्फल तो जाता नहीं। सब का फल होता है, भोगना पड़ता है। वह तपस्वी ही अजामिल हुआ और वह कन्या ही वेश्या हुई जिसके पुत्र 'नारायण' के नाम लेने से अजामिल की मुक्ति हुई। उतना ही पाप भोगना शेष था उसे भोग कर पुण्य पाप से छूट कर वह मुक्त हो गया।

विश्वामित्र जी को देखते हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों दिशाओं में हजारों वर्ष तपस्या की, वह भी केवल

ब्रह्मर्षि बनने के लिये। इतने पर भी कहीं क्रोध आ गया, कहीं अभिमान से तप क्षीण हुआ, कहीं अप्सराने विघ्न डाला। इसके विरुद्ध ५ वर्ष का ध्रुव घर से निकलता है, मधुवन श्री-मथुरा जी में ६ महीने तप करता है, झट भगवान आकर उसे दर्शन देते हैं, उसकी सम्पूर्ण मनोकामना पूर्ण कर देते हैं। तब हम आश्चर्य करने लगते हैं। हमें यह पता नहीं, कि पूर्व जन्म में इसने लाखों वर्ष घोर तपस्या की थी। यह किसी महान् ऋषि का पुत्र था। एक समय राजा वहाँ आखेट को गये। उनके साथ अत्यंत सुन्दर उनके राजकुमार भी थे। ऋषि पुत्र उनके स्वरूप को देख कर मुग्ध हो गये, उनकी भी राजपुत्र होने की लालसा हुई। वे ही आकर ध्रुव हुए। तपस्या तो वे पूर्व जन्मों में कर ही चुके थे ६ महीने की देर थी, सो उसे अब पूरी करके भगवन् साक्षात्कार कर लिया। जिस पुस्तक को हम आधी पढ़ कर सो जाते हैं, दूसरे दिन जहाँ से छोड़ी है, वहीं से पढ़ते हैं। यह नहीं कि नित्य प्रति पहिले से ही आरम्भ करें।

इतनी भूमिका के पश्चात् आप अब कर्ण के पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुन लीजिये। पद्म-पुराण में यह कथा आई है, कि पहिले ब्रह्मा जी के ५ मुख थे। चारों मुखों से तो ब्रह्मा जी चारों वेदों का पाठ करते थे। किन्तु इस पंच मुख का तेज बड़ा असह्य था। देवता, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, सभी इस पंचम-मुख के तेज से कांपने लगे। इसके कारण कोई पितामह के सामने भी नहीं आसकता था। यह मुख अत्यंत दर्प-पूर्ण था। देवताओं ने शिव जी से प्रार्थना की। शिव जी तो भोलेनाथ ठहरे, उन्होंने आव गिना न ताव झट से आकर अपने नख से उस पंचम मुख को काट लिया। काट तो लिया किन्तु वह

मुख शिव जी के हाथ में चिपट गया। ब्रह्मा जी को भी अपने पुत्र रुद्र की इस धृष्टता पर क्रोध आया। उनके मस्तक पर पसीना आ गया। उसे उँगली से पोंछ कर ज्यों ही फेंका, कि उससे एक महा तेजस्वी व्यक्ति उत्पन्न हो गया। उसने हाथ जोड़ कर पितामह से पूछा—'मैं क्या करूँ?' ब्रह्मा जी तो रोष में भरे ही हुए थे। कह दिया—'तुम इन शिव जी को मार डालो।' वह व्यक्ति ज्यों ही शिव जी की ओर झपटा, कि शिव जी मुट्ठी बाँध कर वहाँ से भागे। वह भी छोड़ने वाला नहीं था। शिव जी के पीछे वह भी भगा।

शिव जी का एक ही आश्रय है, वे श्री नारायण जी के समीप पहुँचे और बोले—'महाराज! इस व्यक्ति से मेरी रक्षा करो।' भगवान नारायण ने अपने तेज से उस ब्रह्मा जी के व्यक्ति को जड़वत बना दिया।

कथा बहुत बड़ी है, सारांश यही है, कि फिर कपाल हाथ में लिये शिव जी ने श्री नारायण से भिक्षा माँगी। भगवान ने अपनी भुजा आगे कर के कहा इसमें त्रिशूल मारो। शिव-जी ने वैसा ही किया, उसमें से एक सुवर्ण वर्ण की धारा निकली, जो हजारों वर्ष तक शिव जी के कपाल में गिरती रही। फिर शिव जी ने उसे मथन किया। उसमें से 'नर' की उत्पत्ति हुई। उस नर ने कहा—'मैं क्या करूँ?' शिव जी ने कहा—'ब्रह्मा जी के आदमी को पछाड़ दो।' इतने में ही भगवान ने उस मूर्छित व्यक्ति को चैतन्य कर दिया। भगवान ने उसे चैतन्य क्यों कर दिया? बस, भगवान के काममें क्यों का प्रश्न ही मत करो। वे जो भी करते हैं, अपनी क्रीड़ा के लिये, यह संसार उनका खिलौना है। जैसे मौज आती है खेलते हैं। उनकी माया अनिर्वचनीय है, उनकी लीला अपार

है; उसका कोई पार नहीं पा सकता। अचिन्त्य शक्ति भगवान विनोद के लिये ही ये सब अपूर्व लीलायें करते रहते हैं।

अब ब्रह्माजी के आदमी से शिवजी का 'नर' लड़ने लगा। शिव के नर ने ब्रह्माजी के व्यक्ति को पछाड़ दिया। तब तो कुतूहल-प्रिय भगवान दौड़े-दौड़े ब्रह्माजी के पास गये और बोले—'ब्रह्माजी! कुछ सुना? तुम्हारे आदमी को शिव जी के नर ने पछाड़ दिया।'

ब्रह्मा जी बड़े अप्रसन्न हुए और बोले—'महाराज, यह आपने बड़ी गड़बड़ कर दी। वाह जी, मेरे आदमी को क्यों हरा दिया?' तब भगवान हँसे और बोले - 'अच्छी बात है, अब के तुम्हारे आदमी को जिता देंगे।'

शिवजी के नर को तो इन्द्र को दे दिया और ब्रह्माजी के आदमी को सूर्य्य को दिया। वे ही जाकर दोनों बालि और सुग्रीव हुए। ब्रह्माजी का आदमी सुग्रीव हुआ और शिवजी का हुआ बालि। अपने वरदान के अनुसार श्री रामरूप से भगवान ने सुग्रीव के लिए छल से बालि को मार दिया। इस बात से इन्द्र बड़े नाराज हुए, उन्होंने भगवान से कहा—'महाराज, यह आपने क्या अन्याय किया। सूर्य्य के पुत्र के लिए आपने मेरे पुत्र को मरवा डाला।' भगवान ने उपेक्षा के साथ कहा—'अरे! क्या मरना जीना? अच्छी बात है, अब के तुम्हारे पुत्र से सूर्य्य के पुत्र को मरवा देंगे।'

भगवान के लिए मानों मरने-जीने, जय-विजय का कोई महत्व ही नहीं। गीली चिकनी मिट्टी के सब खिलौने हैं, जब इच्छा हुई हाथी को बिगाड़ कर ऊँट बना लिया, ऊँट को बिगाड़ कर घोड़ा बना दिया। वे ही कर्ण और अर्जुन हुए। दोनों एक ही माता के गर्भ से उत्पन्न हुए— एक सूर्य्य के द्वारा एक इन्द्र के द्वारा। नारायण देव के दोनों खिलौने ही थे।

दोनों को लेकर महाभारत युद्ध में खेले। अर्जुन के हाथ से कर्ण की मृत्यु तो निश्चित ही थी। यद्यपि कर्ण अर्जुन के हाथ से मारे गये, किन्तु जीत कर्ण की ही हुई। क्योंकि वे धर्म से नहीं जीते गये। अधर्म से उनका वध कराया गया। इसे आकाशवाणी ने स्पष्ट कहा। और भगवान ने उसे सुनकर सिर नीचा कर लिया। यद्यपि अर्जुन कम बलवान नहीं थे, उनका भी पराक्रम महान् है, उनका भी चरित्र अद्वितीय है। किन्तु उनका बल पराक्रम परापेक्षित था। उसके रथ पर श्यामसुन्दर न होते, तो वह जीत जाता इसमें सन्देह ही है। वैसे तो सभी के बल वे ही श्रीश्यामसुन्दर ही हैं। कर्ण को भी बल देने वाले वे ही हैं,परन्तु इस बात को कर्ण पहिले ही समझते थे। अर्जुन ने तब समझा जब उसके महान गांडीव धनुष को गोपों ने रास्ते में लाठियों से व्यर्थ बना दिया और उनके देखते-देखते स्त्रियों को लेकर भाग गये। अर्जुन से कुछ भी न बन पड़ा, वे ताकते के ताकते रह गये। तब उन्होंने समझा अरे; यह तो सब श्रीकृष्ण का ही पराक्रम था। बस, इतना ही कर्ण और अर्जुन में अंतर है।

महाभारत कहानियों का संग्रहमात्र ही नहीं है। वह सचमुच पंचम वेद है। श्रद्धा भक्ति सहित अर्थ को समझते हुए कोई सचमुच उसके तीन पाठ करले, तो उसकी दिव्य-दृष्टि हो जायगी इसमें तनिक भी संदेह नहीं। वह ज्ञान का महान सागर है। उसमें कोई बात ऐसी नहीं है, जो संक्षेप या विस्तार से न कही गई हो। यह ग्रंथ तो महाभारत रूपी अनन्त महासागर में से एक लोटा जल के समान है। इसका यथार्थ स्वारस्य तो महाभारत के पारायण से ही आ सकता है।

प्रारब्ध पुरुषार्थ से ही निर्मित है और प्रारब्धानुसार

ही पुरुषार्थ होता है। इन दोनों में बीज और वृक्ष का सा सम्बन्ध है। इसीलिये शास्त्रकारों ने प्रारब्ध और पुरुषार्थ को जीवनरूपी रथ के दो पहिये या पक्षीरूपी पुरुष के दो पंख बताये हैं। जैसे रथ एक पहिये के बिना नहीं चल सकता, जैसे पक्षी एक पंख से अच्छी तरह नहीं उड़ सकता, उसी तरह पुरुषार्थ और प्रारब्ध दोनों के बिना जीवन का प्रवाह नहीं बह सकता। इसलिये मनुष्य को बड़ी सावधानी से, निरालस्य होकर अपने कर्तव्य का, तत्परता के साथ पालन करते रहना चाहिये। उसके फल को प्रारब्ध के, दैव के, भगवान के ऊपर छोड़ देना चाहिये। इसीलिये भगवान ने कहा है—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'

तुम फल की ओर दृष्टि रख कर काम मत करो। कर्तव्य समझ करते रहो। फल की इच्छा से काम करने वाले को कृपण कहते हैं 'कृपणाः फल हेतवः' जो तुम्हें प्राप्त होने वाला होगा, वह अवश्य प्राप्त होगा। इसलिये सोच, विस्मय को त्यागकर दृढ़ता से कर्म करते चलो और इस बात को गाँठ में बाँध लो कि 'जो मेरा है, जिस पर मेरी छाप लगी है; वह दूसरे का त्रिकाल में भी कभी हो ही नहीं सकता।'

अंत में मैं 'महात्मा कर्ण' के कृपालु पाठकों से यही भिक्षा माँगता हूँ कि मेरी श्रीनंदनंदन के चरणों में अहैतुकी भक्ति हो, मेरा मन-मधुप इन संसारी प्रपंचों से हट कर सदा सर्वदा श्रीकृष्ण चरणारविंद के मकरंद का मत्त होकर पान करता हुआ, सदा उनके सुमधुर नामों का गुञ्जार करता रहे। सदा उनके गुणों का ही गान करता रहे।

पुराण-सूत्र-मंडप
भूसी (प्रयाग)
आश्विन कृ० ११।२००२ वि०

सब का अकिंचन सेवक—
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

भूमिका

यच्चिन्तितं तदिह दूर तरं प्रयाति।
यच्चेतसाऽपिन कृतं तदिहाभ्युपेति॥
प्रातर्भवामि वसुधाधिप चक्रवर्ती।
सोऽहं व्रजामि विपिने जटिल तपस्वी। *

महापुरुषों के जीवन-चरित्र हमें भिन्न-भिन्न तरह की शिक्षायें देते हैं। कोई चरित्र तो हमें पुरुषार्थ का पाठ पढ़ाता है, कोई धर्म की दृढ़ता सिखाता है, कोई सत्य का महत्व, कोई ब्रह्मचर्य्य का गौरव, कोई दान का श्रेष्ठत्व। हम पात्रों का नाम सुनते हैं, उनके गुणों की ओर खिंच जाते हैं और उनके लिये मन में एक प्रकार की धारणा स्थिर कर लेते हैं। हरिश्चन्द्र का नाम आते ही हमें सत्य का गौरव दिखाई देने लगता है, महाराज शिवि की चर्चा छिड़ते ही अतिथि-सत्कार और धैर्य का गुरुत्व मालूम पड़ने लगता है। इसी प्रकार प्रत्येक के जीवन के लिए यही बात है। महात्मा कर्ण का जीवन एक भाग्य का उपहास है। प्रारब्ध का प्रतिबिम्ब, भाग्य का चारु-चित्र, पुरुषार्थ के आगे दैव का नग्न-नृत्य देखना हो तो वह कर्ण के चरित्र में मिल सकता है। मनुष्य कितना भी कुलीन हो, कितना भी शूरवीर हो, कितना

---

* जो सोचते हैं, वह होता नहीं। जिसकी मनमें कल्पना भी नहीं करते, वह सहसा हो जाता है। श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं "मैं प्रातःकाल चक्रवर्ती राजा होने वाला था, सो अब चीर-वल्कल-धारी तपस्वी होकर वन को जारहा हूँ। (भाग्य का पता नहीं क्या से क्या कर दे।)"

भी दानी, त्यागी, विनम्र,सत्यवादी क्यों न हो यदि भाग्य उसके प्रतिकूल है तो सब गुण उसके लिये प्रतिकूल हो जाते हैं। संभवतया इसीलिये किसी संस्कृत के कवि ने यह कहा है—
"भाग्यं फलति सर्वत्र न तु विद्या न च पौरुषम्"।

हम हिन्दुओं के शरीर में रामायण और महाभारत आठवीं धातु है। जिस प्रकार मनुष्यों के शरीर में (रस, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, वीर्य और ओज) सात धातु हैं और ये जन्म लेते ही माता के दूध के साथ बढ़ती रहती हैं, उसी प्रकार रामायण, महाभारत की कथाओं को हम माता के दूध के साथ पाते हैं। ऐसाही कोई अभागा हिन्दू बालक होगा जिसे रामायण महाभारत की बहुत सी कथायें न याद हों। महाभारत तथा रामायण के पात्र हमारे नित्यके परिचित पारवारिक पुरुषों के समान बन गये हैं। हमें भरत,शत्रुघ्न,लक्ष्मण के कार्यों के साथ सहानुभूति है। रावण,सूर्पणखा,ताड़का,मारीच,सुबाहु के कार्यों से घृणा है। श्री राम का चरित्र पढ़ते-पढ़ते हम रोने लगते हैं। श्रीरामजी की शपथ दिलाने पर भी कैकेयी के ऊपर क्रोध हमें आ ही जाता है। पांडवों के प्रत्येक कार्य के साथ हमारी सहानुभूति है। हम उनके दुख में दुखी और सुख में सुखी होते हैं। उनके उत्कर्ष को देखकर हमारा हृदय गद्-गद् हो जाता है। उनके पराभव, विपत्ति से हमारा हृदय टूक-टूक होने लगता है। अपने आत्मीय बन्धु की तरह वे अपने हैं। इसके विपरीत दुर्योधन का नाम आते ही हमें उत्तेजना आ जाती है। हम उसके दुख में संतोष मानते हैं। उसकी विजय को पसन्द नहीं करते। उसका ऐश्वर्य्य हमारी आँखों में खटकता है। आरंभ से ही हमारी सब के प्रति अनुकूल प्रतिकूल धारणायें बन जाती हैं।

अपने बाल्यकाल में मैंने बहुतसी रामायण की कथायें सुन-

कर याद कर ली थीं। बहुत से छोटे-मोटे संक्षिप्त महाभारत भी पढ़े थे। उन सब को पढ़कर जैसी सब की धारणा होती है, मेरी भी धारणा होगई थी कि पाँचों पांडव तो धर्म के अवतार हैं और दुर्योधन उसके भाई, शकुनी, कर्ण ये बहुत नीच, धूर्त और अधर्म के साक्षात् स्वरूप हैं। बाल्य-काल में हम गाया भी करते थे—

शकुनी दुःशासन कर्ण खड़े खल घेरी।
बिनु काल आज महाराज लाज गई मेरी।
दुख हरो द्वारिका नाथ शरण मैं तेरी।

इन सब बातों से मेरे हृदय में ऐसी धारणा हो गई थी कि दुर्योधन दुःशासन की भाँति कर्ण भी दुष्ट और अधर्मी है। वह भी भगवान के विमुख और पांडवों का शत्रु है। किन्तु, जब मैंने आरंभ से महाभारत को पढ़ा, तब मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। जिन कर्ण को मैं दुष्ट समझता था, उनका चरित्र तो महात्माओं से भी बढ़कर है। जिनको असुर दानव समझे बैठा था, वे तो देवताओं से भी बढ़कर हैं। जिन्हें मैं साधारण पात्र समझता था, वे तो महाभारत के प्राण निकले। महाभारत के श्रीकृष्ण आत्मा हैं, कुन्ती मूल-प्रकृति हैं, भीष्म महत्तत्व हैं, द्रोणाचार्य अंहकार हैं, दुर्योधन मन हैं, उसके सैकड़ों भाई संकल्प-विकल्प हैं, पाँचों पांडव पंच-महाभूत हैं, द्रौपदी बुद्धि हैं। इन सबको जीवित रखनेवाले कर्ण प्राण हैं। कर्ण के बिना हम महाभारत की कल्पना भी नहीं कर सकते। श्री कृष्ण को छोड़ दीजिये, वे तो पात्र नहीं हैं, पात्रों के निर्माता हैं। उनके बिना तो जगत ही नहीं। वे मन के मन, प्राणों के प्राण और आत्मा के भी आत्मा हैं। उनके लिये तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता। उन्हें छोड़ देने पर महाभारतमें

कर्ण ही कर्ण हैं। कर्ण के बिना महाभारत की कल्पना भी नहीं कर सकते। वे महान् चरित्रवान, परम पराक्रमी, विनयी, श्रीकृष्ण-भक्त, त्यागी, दानी और सर्व-गुण-सम्पन्न थे, किन्तु भाग्य ने उनका साथ नहीं दिया। प्रारब्ध ने पग-पग पर उनका उपहास किया, भाग्य ने उन्हें स्थान-स्थान पर धोखा दिया। वे देवपुत्र होकर भी सूत-पुत्र कहाये। वे राजवंश में होकर भी रथ हाँकने वाले सारथी के नाम से प्रसिद्ध हुए। वे महान शूरवीर, पराक्रमी होने पर भी अर्ध-रथी बताये गये, वे विनयी होने पर भी धृष्ट और महात्मा होने पर भी दुष्ट कहलाये। यह सब भाग्य का चक्र है। प्रारब्ध की विडंबना है।

कर्ण की दानवीरता तो संसार में विख्यात है। लोग उन्हें दानी के ही नाम से जानते हैं, किन्तु दानी होने के साथ वे कितने धर्मात्मा, कितने महान थे, इसे महाभारत के पढ़ने वाले ही जान सकते हैं। उनका चरित्र विशुद्ध है, उनके गुण महान हैं। उनमें क्षुद्रता नहीं, नीचत नहीं, वे अपनी धुनि के पक्के हैं। वे क्षणिक प्रलोभनों में फँसकर अपने गौरव को खोने वाले नहीं। वे मानी, पराक्रमी, सत्य-परायण, माता, पिता, भाई-बन्धु मित्र सभी के विश्वासपात्र और भक्त हैं। उनके गुणों की प्रशंसा आनन्द-कन्द श्री कृष्णचन्द्र जी ने जितनी की है उतनी दूसरा कोई कर ही नहीं सकता। भगवान ने तो यहाँ तक कह दिया है 'कर्ण को मैं स्वयं भी नहीं जीत सकता।' इससे बढ़ कर और उस महापुरुष के लिये कौनसी गौरव की बात हो सकती है? यह हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश तो विधि के हाथ है। दैव जिसे यह दे। इतना सब होने पर भी कर्ण का संसार में अभी तक गौरव है। भाग्य विपरीत होने पर भी लोगों के हृदय में उनके प्रति श्रद्धा तथा गौरव है।

हम देखते हैं अपने बच्चों का नाम सब लोग राम, लक्ष्मण भरत, शत्रुघ्न, युधिष्ठिर, अर्जुन, सहदेव रखते हैं किन्तु रावण, कुम्भकरण, दुर्योधन, दुःशासन कोई नहीं रखता। द्रौपदी नामकी लड़कियां बहुत होंगी, किन्तु सूर्पणखा तो गाली समझी जाती है। किन्तु कर्ण के लिये यह बात नहीं। क्षत्रियों में कर्णसिंह नाम बड़े गौरव से रक्खा जाता है! उत्तर भारत में कर्ण के नाम से अनेकों नगर और गांव हैं। कानपुर का असली नाम कर्णपुर ही है। कहते हैं महाराज कर्ण यहाँ रहते थे। बुलंदशहर जिले में गंगा किनारे कर्णवास नाम का एक तीर्थ है। कहते हैं यहाँ कर्ण देवी जी की आराधना करते थे। उनके जमाने के कुछ शिला-लेख भी बताये जाते हैं। उत्तराखंड में पंच-प्रयाग प्रसिद्ध है। उनमें एक कर्ण-प्रयाग भी है। यहाँ भगवती अलकनंदा में कर्ण-गंगा आकर मिलती है। कहते हैं कर्ण ने यहाँ तपस्या की थी। कर्ण-गंगा और अलकनंदा के संगम में कर्ण-कुंड प्रसिद्ध है। इस प्रकार उनकी विमल कीर्ति अब तक है और जब तक उनके पिता सूर्य संसार में रहेंगे, तबतक उनकी कीर्ति इसी तरह बनी रहेगी। महाभारत में तो नहीं, संहिता में यह कथा है कि जब महाभारत के अंत में वेष बदल कर श्रीकृष्ण अर्जुन सहित कर्ण की दान-वीरता की परीक्षा करने गये तो कर्ण ने मृत प्राय होने पर भी अपने दाँतों में लगे सुवर्ण को पत्थर मारकर निकाला और ब्राह्मण वेषधारी श्रीकृष्ण को दे दिया। इस पर भगवान बहुत प्रसन्न हुए और कर्ण से वरदान माँगने को कहा। कर्ण ने कहा "प्रभो! आपही मेरे शरीर का दाह करें और ऐसी जगह करें जहाँ आज तक कोई दाह न किया गया हो।" भगवान समस्त भूमंडल पर घूमे। ऐसी जगह पृथ्वी पर कहाँ है जहाँ आज तक कोई जलाया न गया हो। तब भगवान् ने अपनी

हथेली पर रख कर कर्ण के शरीर को जलाया। इसीलिये प्रातः उठते ही दोनों हथेलियों को मलने से अब तक मुरदे की गंध आती है। इससे कर्ण की भक्ति और मृत्यु दोनों का स्मरण बना रहता है। इस प्रकार भगवान् के साथ महात्मा कर्ण भी प्राणीमात्र के प्रातः स्मरणीय बन गये हैं।

मैंने इस पुस्तक में अपनी ओर से बनाकर कुछ भी नहीं लिखा है। महाभारत में जहाँ-जहाँ कर्ण का उल्लेख है, उन्हीं प्रकरणों को अपनी भाषा में लिख दिया है। ऊपर जो श्लोक दिये गये हैं, वे भी लगभग सब महाभारत के ही हैं। महाभारत रूपी बड़े गन्ने के रस को एक छोटे से बर्तन में रख दिया है। यही साहस मैंने किया है। जब-जब महाभारत को मैं पढ़ता, तभी मुझे कर्ण का चरित्र लिखने का संकल्प उठता। पूर्व जन्म के दुष्कृतों के कारण भगवत्-स्मृति, भगवत्-चिंतन, भगवत्-ध्यान तो होता नहीं। तिसपर भी मान-प्रतिष्ठा के लिये बहुत से कार्यों में मन लगा रहता है। किस काम के करने से खूब नाम होगा, किस काम से जनता में मान प्रतिष्ठा बढ़ेगी, यह सूक्ष्म वासना सदा बनी रहती है। इसी वासना की पूर्ति के लिये परोपकार और परमार्थ की आड़ में बहुत से कार्यों में शरीर और मन को फँसाये रखना पड़ता है। इसलिये बहुत सी बातें लिखना भी चाहते हैं, तो लिख नहीं सकते। लिखने में भी दो हेतु हैं। प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा की भावना तो है ही, साथ ही जब धूम-धड़ाके का कोई काम नहीं रहता तो मन को बहलानेके लिये, समय काटने के लिये कुछ लिखने की सूझती है।

परार-साल गर्मियों में श्री बदरीनाथ जाने के पूर्व लगभग महीनेभर मंसूरी के समीप सहस्रधारा पर रहना हुआ। बड़ा ही शांत, एकान्त और स्वास्थप्रद स्थान है। गंधक के जल का एक

स्रोत है, पहाड़ से वर्षा की तरह सहस्रों धारायें अविच्छिन्न रूप से गिरती रहती हैं। वह स्थान मुझे बहुत ही पसन्द है। नैपाल के महाराज, कुमार नरेन्द्र शमसेर राणा तथा उनकी धर्मपत्नी रानी राजवती ने मेरे कहने से वहाँ एक छोटासा बँगला अपने रहने के लिये बनवा लिया है। वे लोग तो वहाँ कभी रहते नहीं, खाली ही पड़ा रहता है। अतः मैं कभी-कभी उसी में जाकर महीने दो महीने ठहर जाता हूँ। उसी शांत एकांन्त स्थान में मैंने इस कर्ण-चरित्र को लिखा। दो वर्ष से यह अप्रकाशित ही पड़ा था। अब परम प्रिय श्री अनन्तराम श्रीवास्तव ने कहा कि मैं इसे छापूँगा। उन्हीं के उद्योग से इस कागज की मँहगाई में, यह पुस्तक सुन्दर कागज और सुन्दर छपाई के साथ निकल सकी। यह श्री अनन्तराम जी के उत्साह और पुरुषार्थ का ही फल है! आशा है, पाठक इस नवयुवक बालक के उत्साह को बढ़ावेंगे।

भगवान हमें शक्ति दें, हम महात्मा कर्ण के गुणों का अनुसरण कर सकें और इस नश्वर शरीर का मोह छोड़कर अविनाशी श्रीकृष्ण की भक्ति की ओर बढ़ें। श्रीकृष्ण भक्ति ही जीवन का परम लक्ष्य है, यही परम पुरुषार्थ है, यही सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है, यही प्राणीमात्र का ध्येय है। श्रीकृष्ण हमें अपने पाद-पद्मों की भक्ति प्रदान करें, यही उनके पुनीत पाद-पद्मों में पुनः पुनः प्रार्थना है।

प्राणिमात्र का सेवक बनने का इच्छुक—

अखंड संकीर्तन यज्ञ
झूसी (प्रयाग)
फाल्गुन कृष्णा १२ संवत २०००



❀ श्रीहरि ❀

महाभारत के प्राण

महात्मा कर्ण

मङ्गलाचरण

वंशीविभूशित करान्नवनीरदाभात्।
पीताम्बरादरुणविम्ब फला धरोष्ठात्
पूर्णेन्दुसुन्दर-मुखादरविन्दनेत्रात्।
कृष्णात् परं किमपि तत्वमहं न जाने ॥*

हे प्रभो! तुम्हारे पाद पंकजों में प्रणाम है। हे अन्तर्यामिन्! मैं आपके श्री चरणों में नत्-मस्तक होकर अभिवादन करता हूँ। स्वामिन्! यह जीव अल्पज्ञ है, आप सर्वज्ञ हैं। सर्वज्ञ होकर भी मेरे स्वामी! आप कभी-कभी अल्पज्ञों की श्रेणी में आकर हम मति-

---

*जिनका श्री हस्त वंशी से सुशोभित है, नूतन मेघ के समान जिनकी आभा है, जो पीला वस्त्र धारण किये हैं, विम्बाफल के समान जिनके लाल ओष्ठ हैं, शरद के पूर्ण चन्द्र के समान जिनका श्रीमुख है और कमल के समान सुन्दर सलोने बड़े विकसित जिनके नेत्र हैं, उन श्रीकृष्ण से परे मैं और कोई तत्व नहीं जानता।

मंदों की ही तरह क्रीड़ा करने लगते हैं। आपकी क्रीड़ा किसी स्वार्थ के लिये नहीं होती। प्राप्त तो वही करना चाहेगा, जिसे कोई चीज अप्राप्त हो। हे अखिल ब्रह्मांड के विधायक ! आपतो आप्त काम हैं, आपका फिर स्वार्थ ही क्या ? आप अपने आनन्द के लिये कुछ करते हैं; यह कहना भी नहीं बनता। जिसे एक कार्य में क्लेश हो वह उसे भुलाने और उससे अधिक अच्छे कार्य को सुख के लिये, आनन्द के लिये करता है, किन्तु आपतो भीतर-बाहिर सर्वत्र आनन्द के रूप ही हैं। आप यह मानवीय क्रीड़ा क्यों करते हैं ? यह क्यों का प्रश्न ही हमारी स्वार्थ परता है। हमारी बुद्धि का ढाँचा ही आपने ऐसा बना दिया है कि हम 'क्यों और कैसे' के बिना कोई कार्य करना चाहते ही नहीं। हम तुम्हें भी अपनी ही श्रेणी में बिठाकर बातें करते हैं। यही हमारी भूल है। हे मेरे स्वामी ! आपके लिये कोई कर्तव्य नहीं। आप विधिनिषेध से परे हैं। आपका निःश्वास ही शास्त्र है। आपकी इच्छा ही सृष्टि है। आपका अवलोकन ही पालन है। आपका नेत्रोंन्मीलन ही प्रलय है। आप में न ज्ञान है न अज्ञान, आप आपही हैं; आपकी क्रिया का कोई कथन नहीं कर सकता। 'आपकी सत्ता है' यह कहना भी अज्ञान है; 'आप नहीं हैं' यह कथन भी मूढ़ता से खाली नहीं है। 'आप चैतन्य हैं' यह कहना आपकी हँसी उड़ाना है, 'आप अचैतन्य जड़-स्थावर हैं' यह भी आपके विषय में नहीं बनता; फिर भी श्रुतियाँ आपको सच्चिदानन्द नाम से निर्देश करती हैं। यह केवल निर्देशमात्र ही है। जब आप संसार में आते हैं और हमारी तरह क्रियायें करने लगते हैं, तो जो अज्ञानी होते हैं वे तो मोह को प्राप्त होते हैं और आपके प्रत्येक कर्म की आलोचना-प्रत्यालोचना करते हैं; किन्तु जिनको आपनेबुद्धि-योग प्रदान कर दिया है, वे तो एकान्त

भावसे बिना तर्क-वितर्क किये आपकी उस अनुपम क्रीड़ा को देख-देखकर आनंद के सागर में निरंतर डुबकियाँ लगाते रहते हैं। जैसे कोई राजा वेष बदलकर साधारण आदमियों में जाकर उस वेष से लड़ाई-झगड़ा करता है तो उसके असली स्वरूप को जाननेवाले उस क्रिया को देखकर मनही मन मुस्कराते रहते हैं। उसके लड़ने का कोई विशेष प्रयोजन नहीं। वहाँ वह अपने साधारण स्वभाववश नहीं लड़ रहा है। उनका विनोद मात्र है। इसी तरह जो मायामोहित जीव आपको साधारण जीव-कोटि में लाकर आपके कार्योंको मानवीय तराजू पर तौलते हैं, वे आपकी गुण-मयी माया के पाश से आबद्ध हैं। उन्हें आपके सहज स्वरूप का ज्ञान नहीं। आप तो समस्त जीवोंमें 'सूत्रेमणिगणा इव' मोती की माला में सूत की भाँति आबद्ध हैं, आखिर आपका संसार में इस प्रकार की क्रीड़ा करने का हेतु क्या है? फिर वही पागलपन। अरे हेतु! क्या? वे तो अहैतुक हैं, क्रीड़ा के लिये क्रीड़ा करते हैं। करना चाहिये, इसलिये आप करते हैं। तब क्या कर्तव्य के वशीभूत होकर? नहीं! नहीं! आपके लिये क्या कर्तव्य; क्या अकर्तव्य, सभी आपके लिये समान हैं। तथापि इन अनंतजन्मों से मायापाश में बंधे हुए जीवों को सुख हो, आपकी ओर बढ़ सकें, आपकी ललित लीलाओं के श्रवण से उनकी चित्त की वृत्तियाँ आपकी ओर लग सकें इसीलिये आपकी क्रीड़ा संसार के सुख के लिये, जीवों के उपकार के लिये, जन्म-मरण के पाश को छेदन करने के लिये होती है। हे मधुसूदन! आपके गुण श्रवण करने में मन लगे, हे प्रभो! आपकी लीलाओं में मानवीय दृष्टि न हो। हे नाथ! आपकी स्मृति हृदय पटलपर सदा बनी रहे। यही आपके श्रीचरणों में प्रार्थना है। आपकी लीला में हमें विरोधाभास दीखता है। कहीं आप अपने भक्तों को अपने हाथों से कट-

वाते हैं, कहीं उनकी रक्षा करते हैं। कहीं धोखा देकर भक्त को बचाते हैं, कहीं धोखा दिलवाकर उन्हें मरवाते हैं। आपके लिये न कोई अपना है, न पराया। आपके भक्त अनेक प्रकार के हैं। महाभारत में आपके अनेक प्रकार के भक्त हैं। कोई आपकी पूजा करता है, कोई आप पर प्रहार करता है। आप दोनों पर ही कृपा करते हैं। कहीं कहीं तो ऐसा देखा गया है कि पूजा करने वाले की अपेक्षा प्रहार करने वाले के प्रति आपका प्रेम अत्यधिक होता है। महामना महात्मा कर्ण भी आपके अनुपम भक्त थे। इस मंदमति लेखक ने तो पूरे महाभारत में एक कर्ण को ही ऐसा पाया जो निर्दोष और आपका सच्चा भक्त था। वैसे सभी आपके सच्चे ही भक्त हैं। किन्तु मेरे हृदय पर तो दानवीर कर्ण ने अपनी छाप बैठा दी। हे जगदीश्वर ! मैं उन्हीं आपके भक्त महावीर कर्ण की यत्किंचित गुणावली का संग्रह करना चाहता हूँ।

प्रभो! आप कराओ तो भी अच्छा, न कराओ तो भी अच्छा। अच्छा प्रणाम, प्रणाम, प्रणाम ! मेरे मालिक अनंत प्रणाम !

—:०:—

व्यास-वंदना

नमोऽस्तु ते व्यासविशालबुद्धे, फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र।
येन त्वया भारत तैलपूर्णः प्रज्वलितो ज्ञानमयः प्रदीपः ॥*

जब किसी वस्तु का ह्रास होने लगता है और मनुष्य उस महान् वस्तु की उपयोगिता के विषय में किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाते हैं, तो उस समय उसे सरल, संक्षिप्त सर्वोपयोगी बनाने के लिए जो आते हैं वे भगवत्-विभूति कहलाते हैं। उनके अनेक भेद हैं—अवतार, अंशावतार, कलावतार। प्रकृति स्वभावतः अधो गामिनी है। वह स्वभावतः शनैः-शनै नीचे की ही ओर खिसकती जाती है। जिस प्रकार वह शनैः शनैः नीचे की ही ओर जाती है उसी प्रकार वह स्वतः क्रमशः ऊपर को नहीं उठ सकती! कोई प्रबल शक्ति उसे एक साथ उठा कर ऊँचे चढ़ा देती है। इसीलिये तो घोर कलियुग के बाद एक साथ ही शुद्ध सतोगुणी सत्ययुग आ जाता है। सत्ययुग से कलियुग आने में तो बहुत देर लगती है, क्योंकि पतन की ओर तो वह स्वभाव से ही जा रही है। जैसे पहाड़ों से समुद्र की ओर ढालू होने के कारण पानी स्वतः ही बहता जाता है, किन्तु समुद्रों से पहाड़ पर उसे फिर पहुंचाने के लिये बादल उसे बहुत ऊपर उड़ाकर ले जाते हैं और एक साथ ही ले जाकर वर्षा देते हैं। प्रकृति के नियम अटल हैं।

---

*हे कमलनयन भगवान् वासुदेव! आपने अपनी अलौकिक मेधा से परमस्निग्धता युक्त इस महान ज्ञान-पूर्ण मणिमय दीपक को जलाकर सब के हृदय-अंधकार को दूर कर दिया है, अतः आपके चरणों में बार-बार प्रणाम है!

सृष्टि की शृंखला अनादि है। कर्म बन्धन सनातन है। द्वंद्वों का प्रभाव सदा है। सृष्टि का स्वरूप ही जोड़ा है। अद्वैत में सृष्टि कहाँ ? सृष्टि के लिये तो एक से दो होने की इच्छा आवश्यक है। इस रहस्य को सृष्टि के आदि में लोक प्रजापति ब्रह्मा भी भूल जाते हैं और जब एकाकी मनुष्यों द्वारा सृष्टि वृद्धि न देख कर स्वयं ही घबराने लगते हैं, तब उनके अंतःकरण में प्रभु प्रेरणा होती है और अपने देह के दो भाग करके जोड़ा बनाते हैं, तभी सृष्टि क्रम यथेष्ट रूप से बढ़ने लगता है। धर्म अधर्म, पाप-पुण्य, सुख-दुख, जीवन-मरण, सत्य-अनृत, इन्हीं सबका नाम द्वंद है। यही संसार है। जब प्रभु को अधर्म की वृद्धि करनी होती है तो अपनी विभूति को, अपने तेज को यक्ष, राक्षस और असुरों में निहित करते हैं; उनके बल को बढ़ा देते हैं। उस तेज को पाकर वे नाना भाँति के उपद्रव करने लगते हैं। साधुओं को क्लेश देते हैं, अधर्म की वृद्धि होने लगती है तब स्वयं ही उस अधर्म को कम करने की इच्छा से, साधुओं की रक्षा करने की भावना से, धर्म को बढ़ाने के निमित्त सत्व प्रधान रूपसे अवतीर्ण होते हैं और धर्म की मर्यादा को स्थापित करते हैं। उनकी इच्छा के बिना न अधर्म होसकता है, न धर्म। धर्म अधर्म दोनों के ही वे नियामक हैं। दोनों ही उनके शरीर के अंग हैं; एक आगे का उज्वल अंग है, दूसरा पृष्ठ भाग का छिपा अंग है। न धर्म का कभी अत्यन्ताभाव होता है न अधर्म का। सत्युग के पश्चात् त्रेता का आना अनिवार्य है त्रेता का अंत द्वापर है और द्वापर समाप्त होने पर कलियुग आवेगा ही। इन सब में धर्म की मर्यादा को बनाये रखने के लिये भगवान नाना रूपों में अवतार धारण करते हैं। यह प्राणी अधर्म में धर्म मानता है, तभी तो पतन की ओर स्वतः

हो जारहा है। यदि धर्म अधर्म का इसे यथार्थ ज्ञान हो जाय तो वह इस आवागमन के चक्कर से सदा के लिये मुक्त ही हो जाय। विभूतिमान पुरुष धर्म का यथार्थ रूप बताते हैं, युगों के अनुरूप वे धर्माधर्म का निर्णय करते हैं और प्राणियों को एक नियमित मर्यादा में चलने के लिये प्रेरित करते हैं। अवतार प्रायः युगों की संधि में होते हैं, या यों कहिये— जब विशेष परिवर्तन की आवश्यकता होती है तब विशिष्ट विभूति उत्पन्न होती है। वेद की ऋचायें अनंत हैं। वेद की कोई पुस्तक नहीं, उसकी कोई संख्या नहीं, कर्मकांड महान् है। ज्ञानकांड अथाह समुद्र है। शास्त्र असंख्य हैं। विद्या का पारावार नहीं। बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं है, फिर जीवों का कैसे कल्याण हो? कलिकाल में जीवों की आयु अल्प है। बुद्धि क्षुद्र है। इसीलिये भगवान प्रत्येक द्वापर के अन्त में व्यास रूप से प्रकट होते हैं। वे वेदों की मर्यादा स्थापित करते हैं; उनका अत्यन्त संक्षिप्त सार संग्रह करते हैं। शास्त्रों का स्वरूप स्थापित करते हैं। पुराणों का संकलन करते हैं। इतिहास को क्रमबद्ध बनाते हैं और लोगों के सुख के लिये भगवान के चरित्रों का गान करते हैं।

भगवान के चरित्र अचिन्त्य हैं। उनका गान मानवीय बुद्धि कर ही नहीं सकती। अतः स्वयं ही भगवान ऋषिरूप से अपनी लीलाओं का प्राकट्य अपने आप ही करते हैं, जिससे दुःख शोक में पड़े हुए जीव उन चरित्रों को गा गा कर इस अपार भवसागर से सुगमता के साथ पार हो जायँ। इतिहास मर्त्य-शील मनुष्यों का कभी नहीं होता। जिनके द्वारा भगवत् लीला का स्मरण हो, वे ही इतिहास के यथार्थ पात्र हैं। वास्तव में तो इतिहास के एकमात्र पात्र वे श्रीहरि ही हैं। वे ही नाना रूपों में

क्रीड़ा कर रहे हैं। सब पात्र उनकी आज्ञा से उनका रुख देखकर अभिनय करते हैं। चक्रवर्ती जब एकान्त में अपने अनुयायी अनुचरों के साथ मनोविनोद के लिये सुखकर क्रीड़ा करता है, तो अपने अनुचरों में से किसी को राजा बना देता है, किसी को पुरुषसे स्त्रीका वेष बना देता है, स्वयं सिपाही बन जाता है, राजा के सामने हाथ बाँधे खड़ा रहता है; किन्तु सभी पात्र समझते हैं कि यह सब चक्रवर्ती की इच्छा से उसके विनोद के लिये हो रहा है। वह जिस क्षण चाहे तत्काल खेल समाप्त कर सकता है। इसीलिये इतिहास का यथार्थ अर्थ है भगवन् लीलाओं का संस्मरण। भगवान व्यास ने यही इतिहास का अर्थ किया है 'आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते'।

इस युग में भगवान बादरायण व्यास रूप से अवतरित हुए। प्रजापति ब्रह्मा के मानस पुत्र भगवान वशिष्ठ हुए। वशिष्ठजी के सैकड़ों पुत्र हुए क्योंकि वे प्रजाओं के पति थे। उनके एक पुत्र महर्षि शक्ति हुए। शक्ति के पुत्र महर्षि पराशर हुए। पराशर के यहाँ ही कुमारी सत्यवती के गर्भ से भगवान वेदव्यास कृष्ण-द्वैपायन का जन्म हुआ। जिन्होंने एक वेद के चार भाग किये। उनका संकलन, संपादन और संशोधन किया। पुराणों को संक्षिप्त करके उन्हें १८ भागों में विभाजित किया। समस्त शास्त्रों का स्वरूप प्रकट किया और सबसे बड़ा कार्य यह किया कि वेदों का सार प्राकृत भाषा में भारत या महाभारत के नाम से बनाया। महाभारत को पंचम वेद कहते हैं। भगवान वेदव्यास ने मनुष्य मात्र पर कृपा करके ही इस अनुपम ज्ञान दीप को प्रज्वलित किया। वेदों का अधिकार स्त्री, शूद्र तथा वर्णाश्रम से इतर पुरुषों को नहीं है, या यों कहिये इन पुरुषों में उसे धारण करने की क्षमता नहीं। कलिकाल के जो नाममात्र के द्विजाति-द्विज-

बन्धु हैं वे भी वेदाध्ययन में असमर्थ हैं। उन पर करुणा करके भगवान ने वेदों के सार को महाभारत के रूप में प्रकट किया।

हे ज्ञानावतार! जो मंदमति पुरुष आपको साधारण लेखक मानते हैं वे आपकी माया से मोहित हैं। हे सर्वज्ञ! आप ही ब्रह्मा हैं, आपही विष्णु हैं, आपही महेश्वर हैं। नाथ! समस्त ज्ञान के आपही स्वामी हैं। संसार का समस्त ज्ञान आपका उच्छिष्ट है। संसार आपका चिर ऋणी है। आपही जीवों के आश्रय दाता और आलोक दाता हैं। जो मतिमंद यह कह कर अभिमान करते हैं, 'यह मेरी मौलिक रचना है, मेरी बुद्धि की स्वाभाविक शक्ति है' वे यह नहीं जानते कि आपने समस्त ज्ञान को एक बार चख लिया है। समस्त कवि, समस्त लेखक, समस्त कलाकार आपके ही एक एक उच्छिष्ट कण को लेकर उछल कूद कर रहे हैं। हे समस्त ज्ञान के दाता! आपकी ही कृपा से यह जगत उद्भासित हो रहा है। मुमुक्षु आपकी ही शरण में जाकर मोक्ष के मार्ग को पा सकता है। आप सर्वत्र हैं, सदा हैं। आपका प्रादुर्भाव तिरोभाव कभी होता ही नहीं। आज भी हमारे यहाँ ज्ञान के आसन को गद्दी कहने की प्रथा है। जो भी निर्मत्सर भाव से आप के ग्रंथों का गान करता है, हम उसे आपका ही स्वरूप मानकर उसकी पूजा करते हैं; क्योंकि जगत-गुरु समस्त संसार को ज्ञानालोक प्रदान करने वाले आप ही तो हैं। हे स्वामिन्! इस दीन हीन पर कृपा कीजिए। नाथ! आपके अथाह सागर से कुछ कण लेकर मैं आपके प्रिय भक्त महात्मा कर्ण का कुछ प्रसङ्ग स्मरण करना चाहता हूँ। उनके गुण गान की शक्ति तो मुझमें कहाँ है? आपने जैसा स्वरूप उनका बताया है उसी का स्मरण करके मेरा रोम रोम प्रफुल्लित हो उठता है। हे सर्वेश्वर माली! उसी भाग से जिसमें अनंत फूल हैं, असंख्यों

प्रकार के सुन्दर से सुन्दर सुमन हैं, उनमें से थोड़े से फूल चुनकर एक धागा डाल देता है। अज्ञानी लोग उसे उस माली की बनाई माला कहने लगते हैं। इसी प्रकार मैं जो भी कुछ कह रहा हूँ, आपकी अनुपम अनन्त बृहद् वाटिका के कुछ चुने हुए पुष्पों की एक छोटी सी माला है। मैं उन पुष्पों में एक कच्चा धागा डालना चाहता हूँ। क्यों मेरे जगत गुरु! डालूँ न? आज्ञा है न?



महाभारत-महिमा

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित ॥*

आ० प० अ० ६२ श्लो० ५३

शास्त्र अनंत हैं, विद्यायें बहुत हैं। सबका लक्ष्य है सुख। जिससे इहलोक तथा परलोक में सुख की प्राप्ति हो वही सच्ची विद्या है। मनुष्य सुख चाहता है। समस्त प्राणिमात्र के परिश्रम का लक्ष्य सुख है। हम जो भी क्रिया करते हैं, उसके भीतर सुख प्राप्ति की भावना संनिहित है। शास्त्रों के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। कोई किसी मार्ग से जाना चाहता है, कोई किसी मार्ग से; किन्तु उद्देश सबका एकमात्र सुख की प्राप्ति ही है। इतिहास भी एक शास्त्र है। आजकल इतिहास शब्द यथार्थ अर्थ में प्रयुक्त नहीं हो रहा है। अमुक राजा इतने वर्ष गद्दी पर बैठा, उसका शासन काल इतने दिन रहा, उसने इतने कार्य किये, अमुक संवत् में पैदा हुआ, अमुक संवत् में उसकी मृत्यु हुई, बस, इसी को लोग इतिहास समझते हैं। आधुनिक पाठशालाओं में ये ही बातें रटाई जाती है, किन्तु यह तो इतिहास का एक बहुत ही अनावश्यक अंग है। इतिहास का यथार्थ प्रयोजन तो मोक्ष है, जिसे सुनकर इस संसार से, इस संसार के प्रपंचों से विराग हो उसे ही इतिहास कहते हैं। आधुनिक काल में इतिहास की सीमा अत्यंत ही संकुचित हो-

---

*हे राजन धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में जो बातें यहाँ (महाभारत में) हैं उन्हीं का रूपान्तर सर्वत्र है, जो बातें यहाँ नहीं वह किसी भी स्थान में नहीं हैं।

गई है। पाश्चात्य इतिहासवेत्ता पाँच हजार वर्ष से आगे बढ़ते ही नहीं। पाँच हजार वर्ष से परे के काल को इतिहास से अगम्य बताते हैं। किसी ने मुझसे कहा था कि पश्चिमीय दर्शन शास्त्र जहाँ जाकर समाप्त होता है, पूर्वीय दर्शन शास्त्र का वहाँ से श्री गणेश होता है। यह बात चाहे अत्युक्तिपूर्ण भले ही हो किन्तु इतिहास के विषय में तो मैं दावे के साथ कहता हूँ कि इतिहास का जहाँ से आधुनिक इतिहासज्ञ आरंभ मानते हैं और उन्होंने अपनी व्यर्थ कल्पना के आधार पर जो आर्यों के आगमन का काल, वैदिक युग, पौराणिक युग आदि की कल्पनायें की हैं, वे कल्पनायें एकदम असत्य और व्यर्थ हैं। महाभारत के पश्चात् तो इतिहास में उल्लेखनीय कोई विषय ही नहीं रह जाता। जो गाथा हमें भगवान की ओर नहीं ले जाती वह तो व्यर्थ की वाणी है।

अमुक यवन राजा किस सम्वत् में हुआ; उसने अमुक देश पर किस तिथि को चढ़ाई की; इससे हमें क्या प्रयोजन ? हमारे बच्चे इन बातों को कंठस्थ करके क्या लाभ उठा सकते हैं ? 'सा विद्या या विमुक्तये' विद्या वही है जो हमें मुक्तिमार्ग की ओर ले जाय। शास्त्र अनादि हैं, वे कभी नाश नहीं होते। प्रलय में भी उनका अत्यंताभाव नहीं होता। वे सदा सर्वदा एक रस बने रहते हैं। इसी तरह 'महाभारत' इतिहास अनादि है। उसे भगवान वेदव्यास ने संग्रह किया है। अपनी योग दृष्टि से उसका संकलन किया है। जितना हमें आज महाभारत उपलब्ध है, उतना ही महाभारत थोड़े ही है; यह तो उसका शतांश भी नहीं है। प्रत्येक युग में यह भारत इतिहास ज्यों का त्यों बना रहता है। इसकी रूपरेखा बदल जाती है। यथार्थ तत्व तो सर्वदा एक सा ही बना रहता है। देवता, यक्ष, गन्धर्व, भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्गलोक

सभी लोकों के जीवों को इसकी आवश्यकता होती है और सभी, इसका श्रवण पठन करते हैं। कलियुग के जीवों को अल्प बुद्धि और अल्पायु देखकर भगवान वेदव्यास ने यह लक्ष श्लोकों का ग्रन्थ कृपा करके मर्त्यलोक के प्राणियों के लिये प्रदान किया। भगवान वेदव्यास ने कई स्थलों पर इस बात को दावे के साथ कहा है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में जो इसमें है वही सर्वत्र है। जो बात इसमें नहीं, वह कहीं भी नहीं। मैंने सब भाषाओं की कहानियाँ तो पढ़ी नहीं, किन्तु मैं इस बात को दृढ़ता के साथ कहता हूँ कि कोई भी कहानी किसी भाषा में ऐसी नहीं बन सकती जिसका ढाँचा महाभारत में न हो। मनुष्य की बुद्धि की जहाँ तक सीमा है, जहाँ तक मनुष्य सोच सकता है; वे सभी बातें सूत्र रूप से—कहीं संक्षेप में, कहीं विस्तार से महाभारत में हैं। भारत एक ऐसा अद्भुत ग्रंथ है कि इसके टक्कर का दूसरा ग्रंथ मिलना कठिन ही नहीं, असंभव है। मनुष्य स्वभाव का, प्रकृति का, जीवों की मनोवृत्ति का जैसा जीता जागता चरित्र चित्रण भगवान वेदव्यास ने किया है, वैसा कोई मनुष्य कर ही नहीं सकता। महाभारत एक अथाह समुद्र है, समस्त कवियों को उसी में आश्रय मिलता है। उसकी अगाधता, दुरूहता, महानता और खारीपने को देखकर लोग प्रायः कह उठते हैं, "चाहे कितना भी महान् क्यों न हो यह जल है तो अपेय। इस खारी जल को सब कोई तो पान नहीं कर सकते। हमें तो कूओं की ही शरण लेनी होगी। हमारा काम तो नदियों से ही चलेगा।" किन्तु हम पूछते हैं—नदियों में और कूओं में भी जल कहाँ से आया? वह भी तो समुद्र से ही लाया गया है? समस्त रत्न तो समुद्र के ही गर्भ में छिपे हैं? आज जितने काव्य, जितने नाटक, जितने इतिहास बने हैं, बन रहे हैं, बनेंगे उन सबका

आश्रय तो महाभारत ही है। जैसे बिना विधिपूर्वक समुद्र के जल का खारापन दूर किये कोई उसे पान नहीं कर सकता, उसी प्रकार बिना किसी सत्शास्त्रज्ञ की सहायता के महाभारत से कोई लाभ नहीं उठा सकता। उसे भाँति भाँति के भ्रम हो जाते हैं। आधुनिक लोग महाभारत के विषय में विचित्र विचित्र बातें कहते हैं। उन सबका यहाँ उल्लेख करना अप्रासंगिक होगा। यहाँ केवल इस प्रसंग की चर्चा करने का प्रयोजन इतना ही है कि महाभारत एक अपूर्व ग्रंथ है। इसे सुनने समझने के लिये श्रद्धा की आवश्यकता है। वह श्रद्धा भी भारतीय संस्कृति की श्रद्धा हो। आज पश्चिमीय अनार्य संस्कृति ने हमारे देशवासियों के मस्तिष्क को इतना दूषित और विकृत बना दिया है, कि वे सब बातों में एकदम भौतिकवादी बन गये हैं। वे इस दीखने वाले देश को ही सब कुछ मानते हैं। स्वर्ग पाताल कुछ नहीं। समुद्र पार टापू ही पाताल लोक है; यक्ष, राक्षस, देवता, किन्नर ये मनुष्यों की जाति हैं। ऐसी भ्रम पूर्ण बातें आजकल हमारी होनहार संतानों के मस्तिष्क में भरी जाती हैं। हम अपने काव्यों के पात्रों की महत्ता को एकदम भूल गये हैं जो वास्तव में यथार्थ पात्र थे। आज पश्चिमीय लेखकों के काल्पनिक उपन्यासों के पात्रों के चरित्रों को पढ़ कर हम प्रसन्नता का अनुभव करते हैं और उन पश्चिमीय आलोचकों के स्वर में स्वर मिलाकर हम चिल्लाने लगते हैं "ऐसा चरित्र चित्रण व्यास और वाल्मीकि ने भी नहीं किया" यह हमारी अनभिज्ञता है। महाभारत की धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की बातों को छोड़ दीजिये। केवल उसके पात्रों के चरित्रों को ही शांत चित्त से, स्थिर बुद्धि से श्रद्धापूर्वक पढ़िये। कितना रस, कैसा आनंद आवेगा? आपका मन-मयूर नृत्य करने लगेगा। महाभारत के समस्त

पात्र कैसे अलौकिक हैं, उनका जीवन कितना उत्कृष्ट है, उनकी शूरता, वीरता कैसी प्रशंसनीय है? उनका चरित्र कैसा महान है? सब के विषय में तो इस अल्प स्थान में उल्लेख करना असम्भव है। हम केवल महावीर कर्ण के ही चरित्र के सम्बंध में कुछ बातें पाठकों के सम्मुख रखना चाहते हैं। ऐसा विशुद्ध चरित्र, इतिहास का पात्र, खोजने पर भी संसार की अन्य भाषाओं के इतिहास में कहाँ मिलेगा? कर्ण महाभारत के मुख्य पात्र हैं, या यों भी कह सकते हैं कि कर्ण ही महाभारत के कारण हैं। इन सब बातों का उल्लेख तो अगले अध्यायों में पाठक पढ़ेंगे ही। यहाँ तो बहुत संक्षेप में उनके चरित्र की कुछ बातें कही जायेंगी। उनका यथार्थ और पूरा चरित्र तो महाभारत के पढ़ने से ही पता चलेगा। महाभारत के पढ़ने से चरित्र ज्ञान या स्वर्ग प्राप्ति ही नहीं होती, अपितु मोक्ष भी मिलता है। यह यथार्थ सत्य है।

—:o:—

महाभारत के प्राण महात्मा कर्ण

क्षत्रं स्वर्गं कथं गच्छेत शस्त्रपूतमिति प्रभो।
संघर्षजननस्तस्मात् कन्यागर्भो विनिर्मितः॥*

इस बात को पूर्ण निश्चय के साथ कोई नहीं कह सकता कि महाभारत का प्रधान कारण क्या था ? जब हम आदि से अंत तक महाभारत को पढ़ जाते हैं तो हमारे मन पर एक ही छाप शेष रह जाती है, वह यह—"प्रारब्ध को कोई मेट नहीं सकता। दैवेच्छा ही प्रधान है। मनुष्य जो करना चाहता है उसे कर नही सकता और जिसे नही करना चाहता वह उसे प्रारम्भ वश अवश्य करना पड़ता है।" इसी बात पर सम्पूर्ण महाभारत में जोर दिया गया है। स्थान स्थान पर यह बात दुहराई गई है। युद्ध करना कोई भी नहीं चाहता। धर्मराज तो केवल ५ गावों का राज्य लेकर दुर्योधन के अधीन रहने को भी तैयार थे, किन्तु दैव की इच्छा ऐसी नहीं थी। महाभारत हुआ और उसमें समस्त क्षत्रियों का संहार हुआ। पृथ्वी निःक्षत्रिय हो गई। भगवान इस पृथ्वी को छोड़ गये और अधर्म-बन्धु कलियुग का अधिकार इस अवनि पर हुआ।

अब यहाँ इस बात पर विचार करना है कि महाभारत के प्रधान पात्र कौन माने जा सकते हैं ? भगवान मधुसूदन

---

*हे राजन् ! एक बार ब्रह्मा जी ने सोचा –"ये पृथ्वी के क्षत्रिय युद्ध में शस्त्रों द्वारा मर कर स्वर्ग में किस प्रकार जायें ? इसीलिये उन्होंने क्षत्रियों के बीच में युद्ध रूपी अग्नि को उत्पन्न करने वाला एक पुरुष (कर्ण) उत्पन्न किया जो कुन्ती की कन्यावस्था में प्रकट हुआ था"।

श्रीकृष्ण को तो छोड़ दीजिये। उन्हें तो हम प्राकृत पात्र मानते ही नहीं। उनकी इच्छा न होती तब तो महाभारत की क्या जगत की भी कल्पना हम नहीं कर सकते। वे ही सब के घट घट में प्रवेश करके समस्त क्रियायें कराते हैं। महाभारत उनकी ही इच्छा से हुआ, उन्होंने ही कराया। वे चाहते तो महाभारत को रोक देते। वे चाहते तो दुर्योधन को पकड़ कर बन्दीगृह में डाल देते। वे चाहते तो द्यूत सभा होती ही नहीं। वे चाहते तो पांडव वन जाते ही नहीं। वे ही महाभारत नाटक के एक-मात्र सूत्रधार हैं। उन्हें छोड़ कर शेष पात्रों में से किसे हम महाभारत का प्रधान कारण कहें, जिन्हें निकाल देने पर हम महाभारत की कल्पना भी नहीं कर सकते ?

बहुत से लोग कहते हैं द्रौपदी महाभारत होने में कारण है। राजसूय यज्ञ में जब दुर्योधन को जल में स्थल का और स्थल में जल का भ्रम हुआ और जल को स्थल समझ कर वह घुस गया, उसके कपड़े भीग गये तथा स्थल को जल समझकर कपड़े समेटने लगा और रपट पड़ा उस समय द्रौपदी का हँसना ही महाभारत का सूत्रपात है। उस समय द्रौपदी द्वारा अपमान न हुआ होता तो संभव है महाभारत न होता; किन्तु यह बात हमारी समझ में आती नहीं। जो भी पांडवों की रानी वहाँ होती वही हँसती और उसके द्वारा ही दुर्योधन का अपमान होता। हमारी समझ में द्रौपदी को यह नहीं कह सकते कि द्रौपदी के निकाल देने से महाभारत की कल्पना ही नहीं कर सकते। आप कहेंगे यह तो प्रत्येक प्रधान पात्र के लिये लागू हो सकता है। दुर्योधन ही न होता तब ही महाभारत क्यों होता ? या धर्मराज युधिष्ठिर ही न होते तब भी महाभारत न होता। किन्तु ध्यान-पूर्वक विचार करें तो इनके बिना भी महाभारत की कल्पना

की जा सकती है। धृतराष्ट्र के सभी पुत्र लड़ाकू थे, दुर्योधन न भी होता तो वे ९९ ही लड़ते। धर्मराज की अनुपस्थिति में भी चारों भाई अपने भाग के लिये लड़ सकते थे, किन्तु सम्पूर्ण महाभारत को पढ़ने पर यही बात ध्यान में आती है कि एकमात्र कर्ण ही ऐसे पात्र हैं, जिन्हें निकाल देने पर हम महाभारत की कल्पना ही नहीं कर सकते। यह बिलकुल सत्य है कि महाभारत के प्रधान कारण कर्ण ही थे। सम्पूर्ण महाभारत में ऐसा सर्वगुण सम्पन्न पात्र ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलेगा। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उनमें सभी गुण थे। उनके सभी गुण एक से एक बढ़ कर थे। वे नर-रत्न थे, उनकी टक्कर का उस समय पृथ्वी पर दूसरा पुरुष था ही नहीं। उनके एक एक गुण की प्रशंसा में पोथे के पोथे लिखे जा सकते हैं। उनकी कुलीनता, सच्चरित्रता, दानशीलता, ब्रह्मण्यता, उदारता, महानता, सहृदयता गंभीरता, हृदय की विशालता, धीरता, शूरवीरता, धर्मपरायणता, उचितज्ञता एक से एक अवर्णनीय है। सभी गुणों के वे समुद्र थे अपने समान में स्वयं ही थे। उनकी टक्कर का एक भी गुण में कोई दूसरा पुरुष नहीं था। यों धर्म परायणता में धर्मराज भी थे, शूरवीरता में अर्जुन-दुर्योधन भी थे; नीति में विदुर भी थे, किन्तु समस्त गुणों का एक ही स्थान में समावेश महात्मा कर्ण के ही जीवन में पाया जाता है। वे सभी गुणों में अद्वितीय थे; किन्तु भाग्य ने उनका साथ नहीं दिया। परिस्थितियों ने उनके गुणों को चमकने नहीं दिया। आरंभ से ही दैव उनके अनुकूल नहीं रहा। राजपुत्र होकर भी वे सूत-पुत्र कहलाये। चक्रवर्ती पद के अधिकारी होकर भी वे दूसरे के आश्रय में ही सदा रहे। आश्रयदाता भी ऐसा नीच पुरुष मिला कि जिसने अपने उपकार से उन्हें इतना लाद दिया जिससे विवश

होकर भी उन्हें उनका अनेक उचित अनुचित काम में साथ देना पड़ा। वे अपनी गुणशीलता को भी हृदय खोलकर सबके सम्मुख नहीं कर सके; क्योंकि देवता से लेकर मनुष्य तक सब उनके विरुद्ध हो गये। संसार की पूरी शक्ति उनके विरुद्ध हो गई। तीनों लोकों में उनके विरुद्ध षड्यन्त्र रचा गया; फिर भी उस वीर को धर्म-युद्ध में कोई जीत नहीं सका। वह अधर्म-पूर्वक ही हराया गया।

कर्ण के जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं का उल्लेख तो पाठक अगले प्रकरणों में पढ़ेंगे ही; यहाँ तो केवल उनके दो चार गुणों का दिग्दर्शन मात्र ही कराया जाता है। इससे आप समझेंगे कि महाभारत के प्रधान कारण वे ही थे। वे स्वयं भी नहीं चाहते कि महाभारत हो; किन्तु ब्रह्माजी ने उन्हें पैदा ही इसीलिये किया था कि महाभारत के वे ही कारण बनें और समस्त क्षत्रिय परस्पर में लड़कर मर जायें।

दुर्योधन यद्यपि वीर था, किन्तु भीरु था। उसे अपने बल पर विश्वास नहीं था। यद्यपि वह जन्म से ही पांडवों से द्वेष रखता था, किन्तु उसे कभी इस बात पर विश्वास नहीं होता था कि मैं अपने १०० भाइयों सहित भी इन पांडवों को जीत सकूंगा इसीलिये वह चिंतित रहता था। यदि उसे कर्ण का सहयोग प्राप्त न होता तो वह कभी पांडवों का सामना करने की बात मनमें न सोचता। यही नहीं अपितु अपने निर्वाह के लिये वह धर्मराज के सामने घुटने टेककर प्रार्थना करता कि मुझे भी कुछ मिलना चाहिये। कर्ण का सहयोग प्राप्त करके उसकी हिम्मत यहाँ तक बढ़ी कि पांडवों को समूल नष्ट करने की ही प्रतिज्ञा उसने करली; फिर भी वह स्वतंत्र नहीं था, सहसा पांडवों को मारने में उसके सामने अनेकों अड़चनें थीं। न्यायतः वह राज्य का अधिकारी

नहीं था। वह क्या उसका पिता धृतराष्ट्र भी धर्मपूर्वक राजा नहीं था। वह तो राजा के अभाव में स्थानापन्न वनावटी काम चलाऊ राजा वनाया गया था। तिस पर वह जीवित था। सबसे बड़ा कंटक तो दुर्योधन के लिये उसका पिता ही था। वह दुर्योधन की भाँति क्रूर भी नहीं था। सहृदय था, किन्तु पुत्र स्नेह के वशीभूत होकर दुर्योधन की अनुचित बातों का भी विवश होकर समर्थन कर देता था। इन्हीं सब कारणों से वह आरंभ में ही पांडवों से खुलकर विरोध न कर सका; किन्तु महावीर कर्ण की सहायता से वह सर्वतन्त्र-स्वतंत्र चक्रवर्ती राजा तो बन ही बैठा चाहे उसका यह कार्य अनधिकार चेष्टा ही क्यों न कहा जाय।

इसके पश्चात् भी वन से लौट कर आने पर वह सूई की नोंक के बराबर पृथ्वी देने को भी तैयार नहीं हुआ। उसे महाधनुर्धर पितामह भीष्म का भरोसा नहीं था, न उसे आचार्य द्रोण से कुछ आशा थी, कृपाचार्य, अश्वत्थामा तथा और भी वीरों पर उसे विश्वास नहीं था उसने तो एक मात्र कर्ण के ही बलबूते पर युद्ध करने का निश्चय किया था।

महात्मा कर्ण के सामने कितने बड़े २ प्रलोभन आये; किन्तु उस वीर ने किसी पर ध्यान नहीं दिया। उसने अपने मित्र के साथ स्वप्न में भी विश्वासघात की कल्पना नहीं की। सचमुच यदि महावीर कर्ण अपने पथ से तनिक भी विचलित हो जाते, वे थोड़ी भी ढिलाई कर जाते तो उनका व्यक्तित्व नष्ट हो जाता। फिर आज हम उन्हें सर्व गुणों की खानि कहकर सम्बोधित न करते। आप कल्पना कीजिये, उनके विरुद्ध कितने कितने षड् यन्त्र रचे गये। धर्मराज युधिष्ठिर को युद्ध में भीष्मपितामह द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, आदि किसी भी महारथी की चिन्ता नहीं थी। उन्हें रात दिन कर्ण की ही वीरता स्मरण करके विक

लता रहती थी। वे रात्रि-रात्रि भर शोक में लम्बी सांसे लेते रहते थे। कर्ण की वीरता को स्मरण करके रात्रि में उन्हें नींद नहीं आती थी। कर्ण के ही लिये उन्होंने घोर तप किया। अर्जुन को स्वर्ग भेजा, फिर वहाँ जाकर इन्द्र, वरुण, कुवेर, यम सभी लोकपालों ने कर्ण के विरुद्ध षड्यन्त्र किया। सभी ने अर्जुन को अपने अस्त्र दिये। इतने से ही संतोष न हुआ। अर्जुन के पिता देवराज इन्द्र ने ऐसी क्रूरता का काम किया कि कोई मनुष्य ऐसा काम करता तो उसे कृतघ्नी कह कर संसार उसकी निन्दा करता। अर्जुन का भला करने के लिये देवराज ब्राह्मण का वेष रख कर कर्ण के जन्मजात कवच और कुंडल माँगने के लिये आये। क्रूरता की हद हो गई, देवताओं के राजा की इससे अधिक निर्बलता और क्या होगी कि वह अपने पुत्र की रक्षा के लिये ऐसा पाप करे। कर्ण के पिता सूर्य ने भी अपने पुत्र को स्नेहवश सचेष्ट कर दिया—"बेटा, इन्द्र ब्राह्मण का वेष रखकर जब तुझसे कवच कुंडल माँगने आवे तो तू मत देना!" उस वीर ने अपनी स्वाभाविक उदारता, दानशीलता, ब्रह्मण्यता के आवेश में कहा—"पिता जी, मैं आपकी समस्त आज्ञाओं का पालन करूँगा; किन्तु जो मेरे सामने हाथ फैलावेगा उसे मैं 'ना' कैसे कर सकता हूँ। इन्द्र तो ब्राह्मण के वेष में आवेंगे। वे यदि इन्द्र के वेष में भी आते त मैं मना नहीं कर सकता!" सूर्यदेव ने हर तरह समझाया किन्तु वह वीर अपनी प्रतिज्ञा पर डटा ही रहा।

आप कल्पना कीजिये, एकान्त में उसकी जननी जाती है। और कहती है 'वत्स! तू मेरा बेटा है, राधा का नहीं। तू अपने भाई पांडवों से संधि कर ले!' दृढ़ प्रतिज्ञ कर्ण कहता है—'माँ! यह ठीक है कि मैं आपका पुत्र हूँ। यह भी ठीक है, पांडव मेरे भाई हैं,

किन्तु संसार में तो सूतपुत्र के नाम से प्रसिद्ध हूँ। अब मैं पांडवों से सन्धि करता हूँ तो लोग यही कहेंगे कि मैंने अर्जुन से डरकर पांडवों से मेल कर लिया। अपकीर्ति की अपेक्षा मैं मर जाना अच्छा समझता हूँ। हे जननी! अब तो जो वचन मैं दुर्योधन को दे चुका हूँ, उसे पूरा करूँगा। फिर भी मेरे पास याचना करने वाला कभी निराश होकर नहीं लौटता। मैं तुम्हारे चार पुत्रों को वश में आने पर भी न मारूँगा। अर्जुन मेरे हाथ से मारा जायगा तो भी मुझे लेकर तुम्हारे पाँच पुत्र बने ही रहेंगे और उसके हाथ से मैं मारा गया तब तो पाँचों हैं ही।' इतने साहसपूर्ण, युक्ति-युक्त वचनों को सुन कर माता का हृदय भर आया और उसने आशीर्वाद दिया—'बेटा! तेरा मंगल हो; तू अपने मित्र के कल्याण में सदा लगा रह!' ये वचन, इतना साहस कर्ण के ही अनुरूप था।

इससे भी बढ़ कर उसके हृदय की विशालता सत्यपरायणता, उस समय देखी जाती है जब उसे भगवान श्रीकृष्ण एकान्त में लेगये और उसे इधर-उधर की बहुत-सी बातें सुझाकर अंत में उससे कहा—'तू पांडु का सब से बड़ा पुत्र है; न्यायतः राज्य-सिंहासन का तू ही अधिकारी है। तू पांडवों से सन्धि कर ले। समस्त पृथ्वी का धर्मराज तुझे चक्रवर्ती राजा बना देंगे। पांचो भाई आकर तेरे चरणों में प्रणाम करेंगे।' भगवान ने तो यहाँ तक कह दिया कि 'जैसे नियम से प्रतिदिन द्रौपदी पाँचों भाइयों की सेवा में जाती है छठें दिन तुम्हारी सेवा में भी वह आया करेगी।' इतना भारी प्रलोभन होने पर भी वह वीर विचलित नहीं हुआ। उसने मेघ गम्भीर वाणी से स्पष्ट शब्दों में कह दिया—'मधुसूदन। आप यह क्या कह रहे हैं। त्रैलोक्य का राज्य

पाने पर भी अब मैं दुर्योधन का साथ नहीं छोड़ूँगा। दुर्योधन एक मात्र मेरे बल भरोसे पर ही पांडवों से लड़ने को तैयार है। उसके साथ मैं विश्वासघात नहीं कर सकता।"

कर्ण के गुणों की प्रशंसा जितनी की जाय उतनी ही थोड़ी है। उसके समस्त जीवन में एक ही बात अनुचित और अखरने वाली दिखाई देती है। जिस समय सभा में द्रौपदी का वस्त्राप-हरण किया गया था उस समय उसने कुछ अनुचित शब्द द्रौपदी के लिए कह दिये थे। सो भी दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिये, उसकी कृतज्ञता के बोझ से दब जाने के कारण उसने ऐसा किया; फिर भी इसका उसे जीवन भर पश्चात्ताप रहा। अपने इस हृदय के पश्चात्ताप को रो रो कर एकान्त में भगवान के सामने उसने प्रकट भी किया था।

धर्मराज युधिष्ठिर के प्रति उसका कितना उच्चभाव था! वह धर्मराज का हृदय से कितना सम्मान करता था! इसकी झलक स्थान स्थान पर पाई जाती है। पांडवों से सन्धि करने की बात कर्ण ने जब नहीं स्वीकार की, पृथ्वी के राज्य को जब कर्ण ने ठुकरा दिया और भगवान श्री कृष्ण लड़ाई होगी यह निश्चय कर के चलने लगे तब कर्ण ने फिर से रथ खड़ा करके आँखों में आँसू भरके उनके कान में कहा—"मधुसूदन! मैं कुन्ती का पुत्र हूँ, युधिष्ठिर का सगा भाई हूँ इस बात को आप धर्मराज से कभी भूलकर भी न कहें। महात्मा युधिष्ठिर सत्यप्रतिज्ञ और धर्मात्मा हैं, उन्हें पता चलेगा कि मैं उनका बड़ा भाई हूँ तो वे समस्त पृथ्वी का राज्य मुझे दे देंगे, वे कभी युद्ध न करेंगे। मैं दुर्योधन की कृतज्ञता के बोझ से इतना दबा हूँ कि उस समस्त राज्य को मैं दुर्योधन को दे दूंगा। तब पांडव ज्यों के त्यों भिखारी बन जायेंगे। दुर्योधन बड़ा नीच है, मेरी हार्दिक इच्छा है

कि धर्मराज युधिष्ठिर समुद्र पर्यन्त समस्त पृथ्वी के एकछत्र चक्रवर्ती बनें। यह तभी संभव है, जब वे युद्ध में कौरवों को मार सकें।"

इन शब्दों में कितना ममत्व है, कितनी श्रद्धा है, कैसा अपनापन है, कैसी बन्धुओं के प्रति उच्चाकांक्षा है। इतनी श्रद्धा, इतनी सरलता, ऐसी सचाई, इतनी दृढ़ता कर्ण के ही अनुरूप है। उनके समस्त चरित्र अलौकिक हैं, उन्हें पाठक अगले प्रकरणों में पढ़ेंगे। यहाँ तो केवल दो चार बातों का दिग्दर्शन मात्र ही कराया गया है।

यदि द्रोणाचार्य उदारता पूर्वक उनके गुणों का आदर करके उसे हृदय से समस्त अस्त्र-शस्त्र सिखाते, यदि भूल से गौ के मरने पर ब्राह्मण का शाप उन्हें न होता, यदि परशुरामजी उनके साहस और गुरुभक्ति पर शंका न करके प्रसन्न होते और शाप न देते, यदि समस्त देवता और इन्द्र उनके विरुद्ध षड्यन्त्र न करते, यदि पितामह भीष्म उन्हें हर समय खरी-खोटी सुनाकर बार-बार न चिढ़ाते, यदि शल्य रथी बनकर भी उनके साथ विश्वासघात न करते, यदि जगत के एकमात्र कारण भगवान वासुदेव अधर्म और छल के द्वारा मारने का अर्जुन को उपदेश न देते, यदि पृथ्वी ठीक समय पर उसके रथके चक्र को न ग्रस लेती तो आज संसार में कर्ण को कोई न पराजित कर सकता था, न मार सकता था; किन्तु भावी प्रबल थी, ऐसा ही होना था। ये सब बातें महामना कर्ण के प्रतिकूल पड़ीं फिर भी वह धर्म-पूर्वक नहीं जीता गया, उन्हें जीतने के लिये छल-बल का आश्रय लिया गया। कर्ण जीत तो लिये गये, किन्तु मनुष्यों ही ने क्या देवताओं ने भी उन्हें हारा हुआ नहीं माना। मरने पर भी विजय उनकी ही हुई। उनकी कीर्ति, उनका पुण्य यश अब भी ज्यों का

का स्वर्ग बना है और यावत चन्द्र-दिवाकर पृथ्वी पर विद्यमान रहेंगे कर्ण का यश इसी प्रकार निर्मल बना रहेगा।

क्षत्रियों के लिये खाट पर पड़े पड़े मरना कलंक है। क्षत्रिय स्वाभाविक मौत से रोगी बनकर मृत्युशैया पर पड़े पड़े आह आह करके मरता है तो वह नरक को जाता है। क्षत्रिय की मृत्यु के दो ही विधान हैं या तो वह धर्म युद्ध में सम्मुख लड़कर शस्त्रों के प्रहार से अपने प्राणों का परित्याग करे अथवा राजपाट छोड़ कर जंगलों में तपस्या करता हुआ योगाग्नि से अपने शरीर को भस्म करदे। इन दो के अतिरिक्त तीसरे प्रकार की मृत्यु क्षत्रिय के लिये उत्तम नहीं मानी गई है। महाभारत में तो यहाँ तक कहा गया है कि रणभूमि में भागते हुए भी जो मारे जाते हैं उन्हें चाहे स्वर्ग न मिले किन्तु उनकी भी अधोगति नहीं होती। वेद-शास्त्रों में दो प्रकार की मृत्यु ही श्रेष्ठ बताई गयी है; एक तो सब छोड़कर जो योग-युक्त होकर शरीर त्यागते हैं उनकी, दूसरी जो धर्मयुद्ध में सम्मुख लड़ते हैं उनकी।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्य मंडलभेदिनौ।
परिव्राट् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः।

यदि महाभारत न होता तो सभी क्षत्रिय नरक गामी बनते। लाखों करोड़ों अरबों क्षत्रियों को जिनके कारण स्वर्ग की प्राप्ति हुई। उस महामना कर्ण के पुनीत चरणों में बार बार प्रणाम करके हम इस प्रकरण को समाप्त करते हैं और अब आगे के प्रकरणों में अत्यंत ही संक्षेप में महात्मा कर्ण के जीवन चरित्र को आरंभ करेंगे।

—:o:—

कुन्ती को दुर्वासा से वर-प्राप्ति

यदि नेच्छसि मत्तस्त्वं वरं भद्रे शुचिस्मिते।
इमं मंत्रं गृहाणत्वमाह्वानायदिवौकसाम्।
यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि।
तेन तेन वशे भद्रे स्थातव्यं ते भविष्यति ॥*

संसार में समस्त प्राणी प्रारब्धवश होकर परिभ्रमण कर रहे हैं। जीव नदी में पड़े हुए तिनके के समान है; स्वयं वह चलने में असमर्थ है। नदी का प्रवाह जहाँ चाहे उसे ले जाय। कहीं उसका सुन्दर सुन्दर मरकत मणि के सदृश सुकोमल घास के संग हो जाता है, कुछ समय उसमें उलझ जाता है; दूसरा प्रवाह आया वहाँ से भी वह गया। आगे उसे महान कंटकों की शाखायें बहती हुई मिलती हैं, प्रवाह के चक्कर में पड़कर कुछ दूर उनका साथ हो जाता है। एक ओर का प्रवाह आता है, काटों वाली डाली कहीं दूसरी ओर बह जाती है; तृण कहीं दूसरे तृणों में जाकर मिल जाता है। कभी बहुत से तृण एकत्रित हो जाते हैं, कभी फिर सब पृथक् पृथक् हो जाते हैं। जैसे वायु से सूखे पत्ते एक जगह से दूसरी जगह जाते आते रहते हैं, वैसे ही प्रारब्धवश जीव कहीं से कहीं भटकता रहता है। उसका न कहीं निश्चित स्थान है, न स्थाई साथी। जिसका जिसके साथ जितने दिन

---

*दुर्वासा कुन्ती से बोले—'हे बेटी! यदि तू मुझ से वर नहीं माँगती तो मेरे इस दिये हुए मंत्र को तू ग्रहण कर। इसके प्रभाव से तू जिस जिस देवता का आवाहन करेगी वह अवश हो कर तुम्हारे सामने उपस्थित हो जायगा।

का संयोग बदा है, उतने दिन रह कर वह उससे अलग हो जाता है। यह नियम मनुष्यों के ही लिये नहीं, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, ईंट-पत्थर, स्थावर-जंगम सभी के लिये एक सा ही लागू है।

भगवान की कैसी अद्भुत माया है। कोई कहीं उत्पन्न होता है, उसकी ख्याति कहीं दूसरी ही जगह होती है। कोई किसी के उदर से उत्पन्न होता है, नाम दूसरे का होता है। कभी सगे भाई एक माता के गर्भ से उत्पन्न होने वाले परम शत्रु बन जाते हैं। कहीं कहीं ऐसा भी देखा गया है, जिनसे अपना कोई सम्बन्ध नहीं वे लोग अपने सगे सम्बन्धियों से अधिक स्नेही और प्रेमी बन जाते हैं। भगवान ने यह बड़ी कृपा की कि हम सबको उसने सर्वज्ञता प्रदान नहीं की। यदि हम सर्वज्ञ होते तो संसार में सबसे सदा द्वेष ही करते रहते। सदा चिन्ता में ही मग्न रहते कि कल यह विपत्ति आनी है, परसों यह अनिष्ट होना है। भविष्य की अनभिज्ञता और भूत का विस्मरण हमारे जीवन को सुखद बनाता है, हमें अनेक आपत्तियों की चिन्ता से बचाता है। जो त्रिकालज्ञ कहे जाते हैं, उन्हें भी हर समय समस्त घटनाओं का ज्ञान नहीं होता, उनकी दृष्टि के सामने भी भूत भविष्य की समस्त घटनाएँ नाचती नहीं रहतीं, वे भी ध्यान मग्न होकर ही देख सकते हैं। ऐसा न होता तो बड़े-बड़े ऋषि महर्षि, देवताओं को भ्रम क्यों होता? ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यन्त सभी प्रारब्ध के वश में हैं, सभी काल के वश होकर क्रियाएँ कर रहे हैं। सभी दैवेच्छा के आधीन होकर व्यापार में प्रवृत्त हो रहे हैं, इससे यही कहना पड़ता है कि प्रारब्ध को कोई मेंट नहीं सकता, भावी होकर ही रहती है।

यदुवंश में एक परम प्रसिद्ध शूरसेन नाम के राजा थे। इन्हीं के कारण भगवान श्रीकृष्ण और उनके वंशज शौरि कहलाते हैं। महाराज शूरसेन की पत्नी का नाम मारिषा था। महारानी मारिषा के गर्भ से और महाराज शूरसेन के वीर्य से १० पुत्र और ५ कन्याएँ उत्पन्न हुईं। उनके दस पुत्रों के नाम वसुदेव, देवभाग, देवश्रवस, आनक, सृंजय, श्यामक, कंक, शमीक, वत्सक, वृक ये थे और कन्यायें पृथा, श्रुतदेवा, श्रुतकीर्ति, श्रुतश्रवा और राजाधिदेवी इन नामों से विख्यात थीं। सब भाइयों में वसुदेव जी बड़े थे और बहिनों में पृथा सबसे बड़ी थी। पृथा महाराज शूरसेन की सबसे पहिली सन्तान थीं। महाराज शूरसेन की फूआ के लड़के कुन्तिभोज थे। शूरसेन और कुन्तिभोज में बड़ा भारी प्रेम था। दैवयोग से महाराज कुन्तिभोज अनपत्य थे। उनके कोई सन्तान नहीं थी। उन्होंने अपने परम सुहृद मामा के पुत्र शूरसेन से कहा—'भैया, मेरी ऐसी इच्छा है कि तुम्हारी पत्नी के जो पहिली सन्तान हो उसे आप मुझे दे दें। इससे हमारा तुम्हारा सौहार्द भी दृढ़ होगा और मैं भी सन्तान वाला कहलाऊँगा।' अपने भाई की यह बात महाराज शूरसेन ने स्वीकार की। समयानुसार महारानी मारिषा ने गर्भ धारण किया और वह गर्भ शुक्ल-पक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगा। दोनों ही राजवंशों में उस गर्भ के कारण आनंद छा गया। महाराज शूरसेन को तो इस बात की प्रसन्नता थी कि मेरे परम सुहृद महाराज कुन्तिभोज की पत्नी की गोद भरेगी, और कुन्ति-भोज को इस बात की प्रसन्नता थी कि अब मैं भी सन्तान वाला कहलाऊँगा। गर्भ के दिन पूरे होने पर, प्रसूति-काल उपस्थित होने पर महारानी मारिषा ने एक कन्या रत्न

को उत्पन्न किया। महाराज कुन्तिभोज अपना वंश चलाने को पुत्र चाहते थे, किन्तु दैव की ऐसी ही इच्छा। उनका नाम संसार में पुत्री से ही होना था। मारिषा के गर्भ से पुत्र न होकर पुत्री ही उत्पन्न हुई। महाराज शूरसेन ने उसका नाम रखा पृथा। पृथा जब छोटी ही थी तभी वे जिस प्रकार कमलिनी एक तालाब से बड़ी सावधानी के साथ दूसरे सरोवर में लाई जाती है उसी प्रकार माथुर देश से भोजपुर में लाई गई। महाराज कुन्तिभोज के महलों में बड़ी सावधानी से, बड़े स्नेह से उनका लालन-पालन होने लगा। वे रूप में इतनी सुन्दर थीं कि संसार में उनके समान उस समय ऐसी कोई भी सुन्दर कन्या नहीं थी। ऐसी अद्वितीय रूप लावण्य युक्त सुलक्षणा कन्या को पाकर महाराज कुन्तिभोज और उनकी रानी मन ही मन अत्यंत ही प्रसन्न हुईं। कुन्तिभोज की पुत्री होने से पृथा को लोग कुन्ती कहने लगे। इन्हीं पृथा को संसार में महात्माकर्ण की और प्रातः स्मरणीय पांडवों की जननी होने का दुर्लभ पद प्राप्त हुआ।

कन्या कुन्ती ने अपने अलौकिक गुणों से, अद्वितीय रूप लावण्य से माता पिता को मुग्ध कर लिया। वे उसे प्राणों से भी अधिक प्यार करते और सदा उसके कल्याण के लिये ही सोचा करते। समय जाते कुछ देर नहीं लगती। हम भूले रहते हैं, समय बराबर अपना काम करता रहता है। हम अपने कामों में भले ही प्रमाद करें, किन्तु समय तो प्रमाद रहित अव्याहत गति से सदा अपने काम में सावधान रहता है। धीरे-धीरे कुन्ती के शरीर में यौवनावस्था के चिह्न झलकने लगे। माता पिता को उसके विवाह की चिन्ता हुई। माता पिता की पुत्री के लिये सबसे बड़ी आकांक्षा यह रहती है कि उसे सुन्दर घर वर मिले। इसके लिये

व्रत, अनुष्ठान, देवपूजा और साधु महात्माओं की सेवा सुश्रूषा करते हैं और भगवान से प्रार्थना करते हैं कि हमारी कन्या को सदा सुख मिले। साधु महात्माओं के आशीर्वाद से असम्भव भी सम्भव हो जाता है। त्रिकालज्ञ संत कृपा करके आने वाली घोर आपत्ति से अपने भक्तों को बचा देते हैं।

उन दिनों तपस्या का युग था। सभी आर्य नरपति वर्णाश्रम धर्म को मानने वाले होते थे। गौ, ब्राह्मण और साधु-सन्तों में श्रद्धा रखते थे। लोगो में धर्म के प्रति आस्तिक भाव थे, ऋषि मुनियों की सर्वत्र धाक थी। घर घर अतिथि सेवा होती थी, सभी वर्णाश्रमी अतिथि की ईश्वर-बुद्धि से पूजा करते थे। जिस घर में अतिथि नहीं आते थे, जिस गृहस्थ के यहाँ अतिथि सेवा नहीं होती थी, लोग उस घर को श्मसान के तुल्य मानते थे। महाराज कुन्तिभोज के यहाँ भी बहुत से ऋषि, मुनि, स्नातक, ब्राह्मण आते थे और उनका समुचित आतिथ्य सत्कार किया जाता था। महाराज ने इस पुनीत कार्य के लिये अपनी पुत्री कुन्ती को नियुक्त कर रक्खा था। क्योंकि कुन्ती का स्वभाव बड़ा ही सरल था, उसकी वाणी में स्वाभाविक मधुरता थी, अतिथि सेवा में उसकी बाल्यकाल से ही बड़ी रुचि थी। दूसरे के दुख को देख कर वह दुखी होती और उसे हटाने का भरसक प्रयत्न करती। वह दूसरों के दुख दूर करने में अपने शरीर के सुख की भी परवाह न करती। उसे सब की सेवा करने में स्वतः ही बड़ा आनन्द आता था।

महाराज उसकी अतिथि सेवा की ऐसी रुचि देखकर बड़े प्रसन्न होते। उन्होंने अतिथियों की सेवा का समस्त भार इसीलिये अपनी प्यारी पुत्री के ऊपर छोड़ दिया कि इससे इसे भी प्रसन्नता होगी और अतिथियों का भी इच्छानुकूल सत्कार हो सकेगा।

साधु महात्माओं के आशीर्वाद से मेरी पुत्री का अभ्युदय होगा और उसकी समस्त मनोकामनायें पूर्ण होंगी।

दैवयोग से एक समय चातुर्मास के पूर्व ही महर्षि दुर्वासा महाराज कुन्तिभोज के महलों में आ पहुँचे। महर्षि दुर्वासा को देखकर महाराज प्रसन्न भी हुए और घबड़ाये भी। प्रसन्न तो इसलिये हुए कि इतने बड़े महर्षि के आतिथ्य का देव-दुर्लभ सुयोग हमें प्राप्त हुआ। घबड़ाये इसलिये कि ये महर्षि मूर्तिमान क्रोध हैं, पता नहीं, किस बात पर क्रुद्ध हो जाँय और उसके फल स्वरूप न जाने कैसा भारी शाप दे डालें। महर्षि ने महाराज कुन्तिभोज का आतिथ्य स्वीकार किया और विश्राम करने के अनन्तर स्वस्थ होकर बोले—"महाराज, मेरी इच्छा है कि अब के एक वर्ष मैं आप के ही यहाँ व्यतीत करूँ। इसमें आपकी क्या सम्मति है?"

महाराज बड़े असमंजस में पड़े। उनके यहाँ सामग्री की तो कुछ कमी थी ही नहीं। इतने बड़े महात्मा हमारे यहाँ एक वर्ष निवास करें इससे बढ़कर हमारा और सौभाग्य हो ही क्या सकता है, किन्तु इनके अनुरूप सेवा नहीं हुई, तनिक सी भी त्रुटि हो गई तो सब करा कराया व्यर्थ हो जायगा, न जाने कौन सा दारुण शाप दे डालें। फिर भी मना थोड़े ही कर सकते थे! दोनों हाथों की अंजलि बाँधे हुए बड़े विनीत भाव से महाराज ने कहा—"प्रभो! मेरा बड़ा सौभाग्य है। मेरे ऊपर भगवान की परम कृपा है, जो आप जैसे महर्षि मेरा आतिथ्य स्वीकार करेंगे! भगवान् मेरा परिवार, मेरा राज्य, कोष, मेरा सर्वस्व आपका ही है, मैं आपका किंकर हूं, मैं हर प्रकार से आपकी सेवा करूँगा!"

महर्षि ने सम्मति सूचक सिर हिलाया और एक स्थान पर

आसन जमा दिया। महाराज अंतःपुर में गये। उन्होंने सजल नेत्रों से अपनी पुत्री कुन्ती को बुलाया। उसके सिर को सूँघकर बार बार पुचकार कर प्यार के साथ सिर पर हाथ फेरते हुए बोले—'बेटी! आज तेरी कठिन परीक्षा का समय है। महर्षि दुर्वासा यहाँ एक वर्ष रहना चाहते हैं, उनकी सेवा का भार मैं तेरे ही ऊपर छोड़ता हूँ। मुझे आशा है, तू उसे बड़ी सावधानी से करेगी।'

कुन्ती ने अत्यंत ही कातर स्वर में कहा—'पिता जी, आप इतने अधीर क्यों हो रहे हैं। यह तो मेरा परम सौभाग्य है। मैं आपकी इच्छा के अनुकूल ही महर्षि की सेवा करूँगी। सेवा में अणुमात्र भी त्रुटि न होने पावेगी; आप निश्चिन्त रहें।'

महाराज कुन्तिभोज ने कहा—'बेटी! मुझे विश्वास है; तू प्राणपन से महर्षि की सेवा करेगी, किन्तु तुझे उनके स्वभाव का पता नहीं। वे बड़े क्रोधी ऋषि हैं। क्रोधी क्या, मूर्तिमान क्रोध ही हैं। तनिक सी त्रुटि पर वे ऐसा दारुण शाप देते हैं कि सर्वनाश की संभावना बनी रहती है। उन्हें प्रसन्न बहुत कम लोगों ने देखा है। वे शाप देने में ही प्रसिद्ध हैं। इसीलिये देवता, दानव, यक्ष, किन्नर, गंधर्व, मनुष्य सभी उनके नाम से ही डरते रहते हैं।'

कुन्ती ने कहा—'पिता जी! आप तनिक भी चिन्ता न करें, मैं आपके नाम को बदनाम न होने दूँगी। मैं हर प्रकार से ऋषि को प्रसन्न रखूँगी, मैं उनके मन को जोहती रहूँगी। आप इस विषय में निश्चिन्त होकर मुझे उनकी सेवा में नियुक्त कर दीजिये।'

महाराज कुन्तिभोज अपनी पुत्री को लेकर महर्षि दुर्वासा के समीप गये। पुत्री को ऋषि के चरणों में डाल कर नेत्रों में जल भर कर कहा—'प्रभो! यह मेरी अत्यन्त ही प्यारी एक मात्र

पुत्री है। यह राजमहलों में बड़े प्यार से पली है, यह स्वभाव से ही सुकुमारी है। मैं इसे आपकी सेवा में नियुक्त करता हूँ। दीन-बन्धो! मेरी बच्ची अबोध है। इसे अभी ज्ञान नहीं। सेवा में इससे जो त्रुटियाँ हो जायँ उसे आप अपने दयालु स्वभाव से सदा क्षमा करते रहें।"

ऋषि ने सम्मति सूचक संकेत किया। कुन्ती तन मन से महर्षि की सेवा में जुट गई। ऋषि को निवास क्या करना था, उन्हें तो कुन्ती के धैर्य की परीक्षा करनी थी। आगामी विपत्ति से बचाने के लिये उसे कष्ट सहिष्णु बनाना था। भरतवंश को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये उन्हें तो उपाय रचना था। वे भाँति भाँति से कुन्ती की परीक्षा लेने लगे। कभी प्रातःकाल ही कहते मुझे भूख लगी है, गरमागरम भोजन दो। कुन्ती तत्-क्षण तैयार करके देती। कभी कह जाते मैं अभी नदी से स्नान करके आता हूँ आते ही मुझे गरम भोजन मिलना चाहिये। कुन्ती भोजन बना कर प्रतीक्षा करती, वे तीसरे पहर तक नहीं आते। जब कुन्ती निराश होकर चौका उठा देती तो उसी समय आकर कहते—"मुझे अभी गरमागरम भोजन दो।" कुन्ती तो सदा सचेष्ट रहती, वह उसी क्षण रसोई बनाकर उन्हें भोजन कराती। कभी आधी रात में ही उठकर चल देते। कभी दिन भर नहीं आते। कभी झूठ-मूठ ही अच्छे पदार्थों में दोष लगाते। इस प्रकार भाँति-भाँति से वे कुन्ती के धैर्य को देखने लगे। किंतु कुन्ती न तो कभी आलस्य करती, न किसी काम में कभी प्रमाद ही करती। वे जब भी, जिस समय भी, जो भी सेवा करने को कहते, उसी समय उसे सावधानी के साथ करती। ऐसी सेवा से पत्थर भी पिघल सकता है; फिर दुर्वासा तो ऋषि ही थे। वे प्रसन्न हुए। संसार में एक अघटित घटना घटी। दुर्वासा की

प्रसन्नता बहुत कम देखी गई है,वे वाग्वज्र छोड़ने में ही शूरवीर हैं;किन्तु कुन्ती ने अपने कौशल से,अपनी निष्कपट सरल सेवा से ऋषि को परास्त किया। त्रिकालज्ञ ऋषि ने कुन्ती के प्रारब्ध के विषय में विचार किया। उन्हें पता चल गया कि इसके भावी पति संतान उत्पन्न करने में असमर्थ होंगे। उनके संतान न होगी तो भरतवंश का ही नाश हो जायगा। माताओं के लिये पुत्र के मुख के दर्शन के समान संसार में और कोई भी सर्वोत्तम सुख नहीं। इसलिये भावी विपत्ति का विचार करके ऋषि ने कुन्ती के कल्याण का बात सोची। उन्होंने कुन्ती से कहा—'वरंब्रुहि' मैं तुम्हारी सेवासे सन्तुष्ट हूँ। तुम कोई मनोनुकूल वर माँग लो। कुन्ती ने कहा—'प्रभो! आप मेरे ऊपर सन्तुष्ट हैं और मेरे पिता मुझपर प्रसन्न हैं, इससे बढ़कर और वर क्या होगा। आप की कृपा बनी रहे यही सब से बड़ा वर है।' दुर्वासा के बार-बार कहने पर भी जब कुन्ती ने कोई वर न माँगा तब उन्होंने स्वयं ही कुन्ती को बुलाकर कहा—'बेटी! मैं अब जाना चाहता हूँ। जाते समय मैं तुम्हें कुछ प्रसाद देना चाहता हूँ। देखो,यह अथर्ववेद का मंत्र है। जब तुम्हें आवश्यकता हो और संतान की कामना हो तब इस मंत्र को पढ़कर तुम जिस देवता का आह्वान करोगी; इस मंत्र के प्रभाव से वही देवता आकर तुम्हारी मनोकामना पूर्ण करेगा और तुम्हारे गर्भ स्थापित करेगा। उसी के प्रसाद से तुम्हें पुत्र प्राप्ति हो सकेगी।

ऋषि ने विधिपूर्वक कुन्ती को स्नान करा के मंत्र प्रदान किया और वे इच्छानुसार चले गये। कुन्ती बड़े कुतूहल के वश होकर उस मंत्र के सम्बन्ध में सोचती रही।

—:⁂:—

कर्ण का जन्म

तिग्मांशुस्तां तेजसा मोहयित्वा योगेना विश्यात्म संस्थां चकार।
न चैवेनां दूषयामास भानुः संज्ञां लेभे भूय एवाथ वाला ॥*

जन्म और मृत्यु का झंझट जीव के साथ तब तक लगा रहता है जब तक उसका मोक्ष नहीं होता। जीव भी उच्च योनि में जाता है, कभी नीच योनि में। गुण भी वन्धन का कारण है दुर्गुण भी, धर्म भी वन्धन है अधर्म भी। धर्म का बंधन सुवर्ण की जंजीर है, अधर्म के बंधन को लोह पाश कह सकते हैं। यह जन्म मृत्यु का वन्धन तो श्री कृष्ण चरणों के लाने पर ही खुल सकता है। ऋषि, देवता, मनुष्य सभी बंधन में हैं। सभी काम क्रोध के अधीन हैं। जिसने काम क्रोध को जीत लिया, जिसका मोह-ममत्व मिट गया उसी का मोक्ष है, नहीं तो देवता भी वन्धन में हैं। उन्हें भी मान अपमान, अपने पराये का वन्धन है। वे भी सुख में सुखी और दुख में दुखी होते देखे गये हैं। भगवान ही कृपा करके जिसके वन्धन को काटना चाहें वही इस चौरासी के चक्कर से छूट सकता है; नहीं तो, बड़ी कठिन शृंखला है। बड़ा दुरूह बंधन है।

कुमारी कुन्ती को महर्षि दुर्वासा का मंत्र मिल गया। उसके मन में विचारों का ववंडर उत्पन्न हो गया। महर्षि ने मंत्र दिया है, क्या वह सत्य होगा? देवलोक से देवता कैसे आते होंगे?

---

*भगवान दिवाकर ने अपने तेज से कुमारी कुन्ती के योगयुक्त हो कर उनमें गर्भाधान किया। सूर्य भगवान ने उनका कुमारीपन नष्ट नहीं किया। कुन्ती फिर ज्यों की त्यों कन्या हो गई।

उनका स्वरूप कैसा होता होगा ? उनसे बातें कैसे की जाती हैं ? गर्भ क्या है, शिशु कैसे पैदा होता है ? ऐसे अनेकों विचार उसके मन में उठने लगे। उसके लिए यह मंत्र एक अद्भुत वस्तु थी। दिन रात्रि वह इसी के सम्बंध में सोचती रहती। एक दिन उसने ऋतु स्नान किया। उसके मस्तिष्क में वे ही मंत्र की बातें घूम रही थीं। रह रह कर उसे मंत्र के सत्य होने के सम्बंध में संदेह होने लगा। सहसा उसके अंगो में एक प्रकार की अकड़न सी पैदा हुई। आलस्य से बार बार वह अँगड़ाई सी लेने लगी। शरीर में स्वतः ही रोमांच से होने लगे। उनके मन में फिर फिर यही बात उठने लगी कि देखूं तो सही, कैसे देवता आते हैं।

भगवान भुवन भास्कर प्राची दिशि की अरुणिमा के गर्भ से निकल कर तमोमय जगत को आलोकित करने लगे। दिन चढ़ने लगा। दिवस ज्यों ही ज्यों चढ़ता त्यों ही त्यों कुन्ती का कुतूहल बढ़ता जाता था। न गर्मी थी न बहुत अधिक जाड़ा। सुहावाना दिन था। माघ मास की प्रातःकालीन धूप सुंदर और शरीर को सुखकर प्रतीत होती थी। शिशिर ऋतु का आरम्भ था। मातृ-जातिको पुष्पित होने का वही सर्वोत्तम समय होता है। गुलाबी धूप अंतःपुर के आँगन में छिटक रही थी। भगवान अंशुमाली मानों कुन्ती की मनोवृति पर हँस रहे थे। सहसा कुन्ती की दृष्टि चराचर जगत के स्वामी भगवान सूर्य देव पर पड़ी। उसने निश्चय किया, 'आज मैं इस मंत्र की सत्यता के विषय में अवश्य ही परीक्षा करूंगी। उसने फिर से हाथ पैर धोये' पृथ्वी को लीपा, उस पर सुंदर सा आसन बिछाया। आसन मारकर बैठ गई। भगवान का स्मरण करके उसने तीन बार आचमन किया और ऋषि ने जिस प्रकार बताया

था उसी विधि के अनुसार उसने सूर्यदेव का ध्यान करके भगवान सविता का आह्वान किया। क्षण भर में ही परम-कान्ति युक्त पुरुष रूप में भगवान हिरण्यगर्भ उसे सामने खड़े हुए दृष्टिगोचर हुए। अपने सामने सहसा सूर्य नारायण को देखकर सरला कन्या सकपका गई। वह सहसा आसन से उठ खड़ी हुई। उसकी आँखों के सामने चकाचौंध हो गया। वह किंकर्त्तव्य विमूढ़ सी बन गई। भगवान भुवन भास्कर के तेज को सहन न करके उसने दोनों हाथों से अपनी दोनों आँखें मींचलीं और वह केले के पत्ते की तरह कांपती हुई खड़ी की खड़ी ही रह गई। भगवान सूर्यदेव खड़े ही रहे।

थोड़ी देर में उसने साहस करके आँखें खोलीं और अत्यंत लजाती हुई भर्राई हुई वाणी में धीरे-धीरे बोली—'प्रभो! मेरे अपराध को क्षमा करें। नाथ! मेरा भाव दूषित नहीं था। मैंने केवल मन्त्र की परीक्षा के ही निमित्त आपका आह्वान किया था। अज्ञानवश जो मैंने अपनी बाल सुलभ चंचलता के कारण आपका जो अपराध किया है उसे आप क्षमा करें और आप अपने यथेच्छ स्थान को गमन करें। मेरे मन में कोई बुरा भाव नहीं था।'

मुस्कराते हुए भगवान सूर्य ने कहा—'मैं जानता हूँ तुम्हारा भाव शुद्ध था। तुमने किसी बुरे भाव से मुझे नहीं बुलाया। मुझे यह भी पता है कि तुमने कूतूहल वश बाल सुलभ चपलता के ही कारण ऐसा किया है, किंतु मेरा आना तो व्यर्थ न होगा।"

यह सुनकर कुन्ती बहुत डरी। वह थर थर काँपने लगीं। उसने अत्यंत लज्जा के साथ नीचे देखते हुए धीरे धीरे कातर स्वर में कहना आरम्भ किया—'हे जगत् पते! हे सविता! हे त्रिलोकेश! यह आप क्या कह रहे हैं? भगवान् मैं अभी

कुमारी हूँ। मेरे अपराध को क्षमा कीजिये। मेरे धर्म की रक्षा कीजिये। मुझे अधर्म से बचाइये। मैं पृथ्वी पर सिर टेक कर आप के चरणों में प्रणाम करती हूँ।' यह कहते कहते कुन्ती बेहोश होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी और रोने लगी।

भगवान सूर्य ने कहा—'देवि! मैं लौट सकता हूँ, किन्तु इसमें तुम्हारा कल्याण नहीं। एक तो यह मन्त्र अमोघ है, मेरे लौटने से यह व्यर्थ हो जायगा। दूसरे यह मेरा बड़ा भारी अपमान भी है। इस समय यदि तुम मेरे प्रस्ताव को स्वीकार न करोगी तो मैं दुर्वासा को और तुम्हारे पिता को शाप दूँगा। अज्ञान में ही सही, तुमने मुझे बुलाया तो है। तुम सामने देखो, आकाश में विमानों पर चढ़े हुए देवता मुझे देखकर हँस रहे हैं। अब यदि मैं यहाँ से ऐसे ही अकृतकार्य लौट जाऊँगा तो वे मेरे ऊपर और भी हँसेंगे। मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि देता हूँ, तुम स्वयं देवताओं को देख सकोगी।' यह कहकर भगवान सूर्य ने कुन्ती को दिव्य दृष्टि दी। कुन्ती ने सचमुच देवताओं को अंतरिक्ष में हँसते हुए देखा।

कुन्ती अब बड़े असमंजस में पड़ी। वह मारे लज्जा के गड़ी सी ज़ाती थी। रह-रह उसे अपने अज्ञान पर पश्चात्ताप हो रहा था। व्यर्थ में मैंने ऋषि के मंत्र पर अविश्वास किया। मुझे अभी से उसके परीक्षा की क्या जरूरत थी। उसने अत्यन्त ही दीनता से कहा—'हे सर्वलोक को आलोक प्रदान करने वाले देवाधिदेव! आप धर्म के साक्षी हैं। समस्त धर्म कार्य आपके ही साक्षित्व में प्राणी करते हैं। मैं अभी कन्या हूँ, फिर आपके इस अधर्मपूर्ण प्रस्ताव को कैसे स्वीकार कर सकती हूँ।'

भगवान भुवन भास्कर बोले—'देवि ! तुम विश्वास रखो, मेरे प्रसाद से तुम्हारा कन्यापन दूषित न होगा। तुम ज्यों की त्यों कन्या ही बनी रहोगी। मेरे आशीर्वाद से तुम्हें कुछ भी दोष न लगेगा। तुम निर्भय होकर मेरे प्रस्ताव को स्वीकार करो। अन्यथा तुम्हारा भला नहीं है। तुम्हारा ही नहीं तुम्हारे पिता का और तुम्हारे मंत्र दाता ऋषि का भी अनिष्ट होगा।'

कुन्ती ने सोचा "एक मेरे कारण पिता का सर्वनाश हो सकता है। भगवान दुर्वासा का भी अनिष्ट होगा। ये सूर्य चराचर के स्वामी हैं, न जाने क्या करें।" वह विवश थी, लाचार थी। वह उठकर अपनी शैय्या पर चली गई। भगवान सूर्यदेव ने उसके शरीर का स्पर्श किया। वह अचेत हो गई, भगवान सूर्य के तेज को वह सह नहीं सकी। तब भगवान ने अपना तेज कम किया। कुन्ती को गर्भधारण करा के भगवान सूर्य अपने लोक को चले गये।

यथा समय गर्भ के लक्षण कुन्ती के शरीर में प्रकट होने लगे। उसे माता-पिता के सामने जाने में बड़ी लज्जा लगने लगी। उसकी एक अत्यन्त ही विश्वासपात्र धाय थी। उससे उसने सब बातें कह दीं और यह भी प्रतिज्ञा करा ली कि वह किसी से भी इस बात को न कहे। धीरे धीरे गर्भ बढ़ने लगा। अब कुन्ती ने बाहर निकलना एक दम बन्द कर दिया। वह माता के महलों में भी अब न जाती। सदा अपने ही महलों में चुपचाप पड़ी रहती। उसकी धाय ने हर तरह से उसकी सेवा की। गर्भोपयोगी जो भी वस्तुएँ आवश्यक थीं, वे सब उसने जुटा दीं। ठीक समय पर बिलकुल एकान्त में रात्रि के समय कुन्ती ने एक पुत्र रत्न को प्रसव किया। वह कुमार अद्वितीय रूप लावण्य युक्त था। भगवान भुवन भास्कर का जैसा स्वरूप

था, जिस रूप से वे कुन्ती के अन्तःपुर में पधारे थे, वह बालक ठीक उनके ही प्रतिरूप था। एक अपूर्व कान्ति से उसका शरीर चमक रहा था। उसकी अवर्णनीय आभा थी। उसके शरीर पर स्वाभाविक ही कवच था। वह कानों में दिव्य कुंडल और दिव्य कवच पहिने ही पैदा हुआ था। ऐसे रूप लावण्य युक्त तेजस्वी पुत्र को देखकर कुन्ती का हृदय बाँसों उछलने लगा। उसके हृदय में मातृत्व प्रेम छा गया। वह अनिमेष दृष्टि से उस अलौकिक कुमार के अद्भुत आनन को निहारने लगी। उसके पलक गिरते नहीं थे। एक क्षण के लिये वह संसार को भूल गई। उसे पता ही न रहा कि वह कुमारी है और कुमारी के पुत्र होना संसार में महान कलंक की वात है। पुत्र स्नेह ने उसे ऐसा अचेत वना दिया कि वह अपने आपे को भी भूल गई। पुत्र की आभा से वह प्रसूति गृह जगमगाने लगा। चारों ओर सूर्य जैसा प्रकाश छा गया।

कुछ क्षण के पश्चात् उसे शरीर की सुधि-बुधि आई। अपनी परिस्थिति का ध्यान हुआ। पास में बैठी हुई धाय से उसने क्षीण स्वर में वेदना के साथ कहा—'धाय माँ। अब क्या हो? अब हमारा क्या कर्तव्य है?'

धाय ने कहा—'राजकुमारी ! घवड़ाओ नहीं; मैंने सब प्रबंध कर लिया है। तुम चिन्ता छोड़ दो। मंगलमय भगवान सब मंगल ही करेंगे। इस वात को कोई जान न सकेगा। तुम्हारे आदेश के अनुसार सब सामान ठीक है।'

कुन्ती ने बड़े दुख के साथ एक आह भरी और फिर वह बेहोश हो गई। बच्चा धीरे-धीरे रुदन कर रहा था। संसार गाढ़ निद्रा में सो रहा था; किन्तु जाग रहे थे दो व्यक्ति—एक कुन्ती और दूसरी उसकी धाय।

—:०:—

पुत्र का पानी में परित्याग

धन्या सा प्रमदा या त्वां पुत्रत्वे कल्पयिष्यति।
यस्यास्त्वं तृषितः पुत्रस्तन पास्यसि देवज ॥ *

विधाता ने मातृ हृदय कैसा विचित्र बनाया है। उसमें कितने भावों का समावेश है। माता अपने पुत्र के लिये कितनी चिंतित रहती है। मातृ हृदय में करुणा स्रोत उमड़ता रहता है। वह प्रेम से पूर्ण, दया से प्लावित और सेवा से सराबोर होता है। विधाता ने कोमल से कोमल भावों का संपुट देकर मातृ-हृदय का निर्माण किया है। संतान के प्रति माता के हृदय में कितना ममत्व होता है। यह सृष्टि प्रसार के लिये प्रजापति की कैसी अनुपम कारीगरी है। यदि सन्ध्या-वंदन करने की भाँति संतान-सृजन और पुत्र-पालन भी कर्तव्य होता, बलात्कार माताओं के सिर मढ़ा गया होता, तो आज संसार में इने गिने शिशु जीवित दृष्टिगोचर होते; किन्तु विधाता ने ममता का ऐसा एक सूत्र निर्माण कर दिया है कि जिसमें आबद्ध होकर पशु-पक्षी, स्थावर-जंगम अपनी संतानों को प्राणों से बढ़कर भी प्यार करते हैं। गर्भ धारण के भाँति भाँति के कष्ट, प्रसव की असह्य वेदना, लालन-पालन का चिरकालीन दुःख इन सब को माँ बड़ी

---

*अपने पुत्र को अश्व नदी में बहाते हुए मां कुन्ती ने रोते रोते कहा था—"बेटा! ऐ सूर्य-नंदन! वह स्त्री धन्य होगी जो तुम्हें पुत्र मानकर लालन-पालन करेगी; भूख लगने पर जिनके स्तनों का तुम पान करोगे।"

प्रसन्नता से सहन करती है और प्रत्येक क्षण ध्यान रखती है कि मेरी संतान को दुःख न हो। माता जब विवश हो जाती है, जब उसे संसार में कुछ भी नहीं सूझता, तब वह हृदय पर पत्थर रखकर अपनी संतान का परित्याग करती है, मानों उसने अपने हृदय को निकाल कर फेंक दिया हो। अब भी बहुधा देखा गया है कि हमारी बहुत सी विधवा या कुमारी बहिनें जब किसी दुष्ट पुरुष के बहकाने से या किसी अन्य कारण से पथ-भ्रष्ट हो जाती हैं तो शक्ति भर वे अपने कर्म को गोप्य रखती हैं; किन्तु संतान का मुख देखकर वे कितनी दुखी, कितनी लज्जित और कितनी विवश हो जाती हैं।

संसार अंधा है। मनुष्य को परचर्चा, परनिन्दा करने में अत्यंत सुख मिलता है। परचर्चा हमें मिश्री से भी अधिक मीठी और नवनीत से भी अधिक स्निग्ध प्रतीत होती है। तभी तो जिनसे अपना कोई प्रयोजन नहीं, उनके विषय में बातें करते करते हम विश्राम नहीं लेते। विशेषकर बुराई में तो हमें मधु से भी अधिक मिठास आती है। सभी कामों में अच्छाई और बुराई दोनों का समावेश रहता है। गुण दोष समान भाव से सबमें सान्निहित है। बहुत से पापों से हम लोकापवाद के भय से बच जाते हैं और बहुत से पाप हमें लोकापवाद के भय से करने पड़ते हैं। यदि संसार इतना परापवाद-प्रिय न हो, यदि अच्छे कामों की प्रशंसा और बुरे कामों की निन्दा होना बन्द हो जाय; तो समाज की श्रृंखला ही टूट जाय। इसीलिये हम समाज में रहकर कभी अपने मन की बात को भी नहीं कर सकते और जिसे करना नहीं चाहते वह भी करना पड़ती है।

महाराज कुन्तिभोज की कन्या अपने पुत्र को देखकर समस्त

लोक लाज को भूल गई । उसने धाय से कहा—'कैसा सुन्दर शिशु है ।'

धाय ने अन्यमनस्क भाव से कहा—'हाँ, है तो सही किन्तु अब आगे क्या करना होग ?'

'आगे क्या करना होग ?' इन शब्दों हो सुनते ही कुन्ती रो पड़ी । नवजात शिशु के क्रंदन में माँ का रुदन मिलकर वह महल की चहारदिवारी में ही विलीन हो गया । सोते हुए संसार को उसका कुछ भी पता न चला ।

धीरे-धीरे रात्रि और भयानक हो गई । वर्षा की ऋतु थी । बादलों की गड़गड़ाहट और बिजली की चमक से हृदय दहल जाता था । छोटी-छोटी बूँदे पड़ रही थीं । कुन्ती ने अपने हृदय को कड़ा किया । वह शिशु को लेकर उठ खड़ी हुई । धाय ने कहा—'राजकुमारी ! मैंने एक अत्यंत ही योग्य कारीगर से एक मंजूषा-पेटी बनवाई है । इस नवजात शिशु को इसमें रख कर इसे भाग्य पर छोड़ दो । जहाँ का प्रारब्ध होगा, वहाँ यह बालक स्वतः ही पहुँच जायगा । तुम्हारे भाग्य में इसका सुख नहीं बदा है । यद्यपि तुम निरपराध हो, तुम्हारा चरित्र शुद्ध है, तुम्हारा कन्यापन नष्ट नहीं हुआ, फिर भी समाज तुम्हारे इस कार्य को सहन नहीं कर सकता । देवि ! बिलंब न करो । मन की मलीनता को मेंट दो । तुम मोह के वशीभूत मत हो । पालन कर्त्ता सब के प्रभु हैं । भाग्य तो जन्म के साथ ही उत्पन्न होता है । तुम्हारा यह जहाँ भी रहेगा यशस्वी होगा । इसे तुम भाग्य के भरोसे छोड़ दो । यह साधारण मनुष्य की संतान नहीं है । तीनों लोकों के स्वामी भगवान भुवन भास्कर क्या इसकी कुछ भी चिंता न करेंगे ?'

यह कहते कहते धाय ने एक बहुत सुन्दर मंजूषा कुन्ती के सामने रखी। बाहर श्रावण भादों की वर्षा हो रही थी, भीतर कुन्ती के नेत्रों से निरंतर अश्रु वर्षा हो रही थी। बिलखते हुए कुन्ती ने उस मंजूषा को देखा। वह एक अत्यन्त सुन्दर मूल्यवान लकड़ी की बनाई गई थी। वह नौका के आकार की इस ढंग से बनाई गई थी कि कितना भी आँधी-तूफान आवे वह किसी प्रकार भी जल में डूब नहीं सकती थी। उसमें इस प्रकार की जालियाँ लगाई गई थीं कि वायु का संचार तो उसमें यथेष्ट हो, किन्तु जल का एक बिन्दु भी उसके भीतर न जा सके। वह ऐसे बहुमूल्य मसाले से पोती गई थी कि कहीं भी उसमें छिद्र नहीं था, न उसमें कहीं से पानी प्रवेश करने की संभावना थी। वह बच्चे के शरीर की अपेक्षा कुछ अधिक लम्बी थी। उसका आकार मछली के समान था। इधर-उधर उसमें पंख भी थे जो पानी को चीर सकें और आँधी तूफान में उलट न सके। उस सुन्दर पिटारी को देखकर कुन्ती रो पड़ी। अत्यन्त मुलायम बहुत ही सुकोमल मखमल की गद्दी कुन्ती ने उसमें बिछाई। चारों ओर मनोहर मुलायम तकिए उसने उसमें रखे। बच्चे को उसमें लिटाया और धाय के सिर पर रखकर उसके कंधे पर हाथ रखकर घोर निशीथ के समय घनघोर घटाओं के बीच महान अंधकार में वह अंतःपुर से बाहर हुई। नगर से थोड़ी दूर एक छोटी सी अश्व नदी थी। धाय के साथ कुन्ती उस नदी के किनारे पहुँच गई। वहाँ जाकर धाय ने उस मंजूषा को रख दिया। माता ने देखा—उसका नवजात शिशु गहरी नींद में सो रहा है। माता का हृदय विदीर्ण होने लगा; उसने पिटारी में से बालक को फिर एक बार निकाला। स्तनों में से स्वतः ही दूध की धारा बह रही थी। माता ने बच्चे को हृदय से चिपटा

लिया। बच्चा माता के स्तन पान करने लगा। उसने खूब भर-पेट दूध पी लिया। यही उसका माता के स्तनों का अंतिम पयपान था। कुन्ती का हृदय फटा जा रहा था। लोक लज्जा के भय से वह अपने हृदय के टुकड़े को सदा के लिये परित्याग कर रही थी। उसने बच्चे को फिर से पिटारी में सुला दिया। ऊपर से कलावे को लपेट दिया। मंजूषा के ऊपर मंगलमय स्वस्तिक के चिह्न बनाये। दूर्वा, अक्षत, दधि, कुंकुम आदि मंगल वस्तुयें उसमें रख दीं। एक कृत्रिम-स्तन में दूध भी रख दिया। नदी का जल वेग से बह रहा था, कुन्ती के अश्रु प्रवाह के जल ने उसे और भी वेगवाला बना दिया था। जल के भीतर घुस-कर काँपते हुये हाथों से माँ ने उस मंजूषा को जल में रख दिया और रोती-रोती बोली "बेटा! जाओ, मुझ अभागिन के पुण्य क्षीण हो गये हैं। हाय! तुमने ऐसी राक्षसी माँ के गर्भ से क्यों जन्म लिया जो तुम्हें अपने हाथों से जान बूझकर काल के गाल में फेंक रही है। उस भाग्यवती स्त्री का कल सुप्रभात होगा, जिसकी कोख को तुम हरी-भरी करोगे। सचमुच वह भाग्यवती नारी होगी जो तुम्हें पुत्र कहकर पालन करेगी। तुम्हारे पिता भगवान भुवन भास्कर तुम्हारा मंगल करें। समस्त दिशायें तुम्हारी रक्षा करें। जल के अधिष्ठातृ देव भगवान वरुण तुम्हें सब प्रकार के संकटों से बचावें। जाओ बेटा, जाओ। मेरे लाड़िले लाल! किसी बड़भागिनी मां को पुत्रवती बनाओ; किसी भाग्यवान पुरुष के हर्ष को बढ़ाओ।" यह कहते कहते माता ने उस मंजूषा को छोड़ दिया। जल के प्रवाह में वह सुन्दर हलकी संदूकची बहने लगी; उसके साथ ही मूर्छित होकर कुन्ती भी जल में फिसल गई। बड़ी कठिनता से धाय ने उसे पकड़ कर जल से बाहर किया।

जब तक वह मंजूषा दीखती रही तब तक धाय और कुन्ती वहीं बैठी रहीं। जब वह आँखों से ओझल हो गई तो दोनों वहाँ से चली आई। कुन्ती का शरीर महल में लौट आया किन्तु उसका मन तो उस मंजूषा के साथ नदी की हिलोरों में चपेटा खाता हुआ आगे वहा जा रहा था।



अधिरथ को पुत्र प्राप्ति

अरक्षितं तिष्ठति दैव रक्षितं सुरक्षितं दैव हत विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपिवने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे विनश्यति ॥*

मनुष्य पैदा होने के साथ ही अपने भोग साथ लेकर आता है। यह बात अक्षरशः सत्य है कि अन्न के दाने-दाने पर, जल के कण-कण पर मुहर छाप लगी है। जिस वस्तु पर जिसका नाम लिखा है, वह उसे अवश्य प्राप्त होगी; और जो जिसकी नहीं है, जिसके भाग्य में वह नहीं लिखी है, वह उसे प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं हो सकती। पुरुष के भाग्य को कोई जान नहीं सकता इसीलिये हम प्रयत्न करते रहते हैं। यदि मनुष्य को भाग्य का पता लग जाय तो वह प्रयत्न ही क्यों करे ? यह जगत में मेरा-तेरा, हाय-हाय, लूट-मार, लड़ाई-झगड़ा क्यों हो ? संसार के समस्त प्रयत्न भाग्य के अज्ञान के ही कारण हो रहे हैं। जिन ऋषियों को सूक्ष्म ज्ञान के द्वारा भाग्य के रहस्य का पता चल गया है; जिन्हें पता चल गया है कि यह शरीर दैव वश है, जब तक चलना होगा अवश्य चलेगा; जो भोग प्राप्त होने होंगे वे अवश्य प्राप्त होंगे 'यदस्मदीयं नहितत् परेषाम्' वे कोई इच्छा से कर्म नहीं करते; वे प्रारब्ध कर्मों के भरोसे निश्चेष्ट बैठे रहते

---

*'भाग्य जिसकी रक्षा करता है वह अरक्षित भी रक्षित है; परन्तु भाग्य का मारा अच्छी तरह रक्षित होने पर भी विनष्ट हो जाता है। अतः जंगल में छोड़ा हुआ असहाय भी प्राणधारण करता है, पर घर में अच्छी तरह पाला-पोसा भी बच नहीं सकता।'

हैं। चिंता और विस्मय यह अज्ञान के कार्य हैं। जो प्राप्त होना है अवश्य प्राप्त होगा। इसलिये किसी वस्तु के मिलने पर हम विस्मय क्यों करें ? जो नहीं प्राप्त होना है, लाख प्रयत्न करने पर भी न प्राप्त होगा; उसकी चिंता निरर्थक है। भाग्य सब को घुमा रहा है और मतिमन्द पुरुष संसारी व्यापारों में चिन्ता विस्मय करके व्यर्थ ही दुख मोल ले रहा है।

कुन्ती अपने लाड़िले लाल को, अपने हृदय के टुकड़े को, अपने आँखों के तारे को, अपने प्यारे नवजात सुकुमार शिशु को नदी में छोड़ कर लौट आई। वह छोटी नदी थी, उसका नाम अश्व था। बालक उस नदी में बहने लगा। वायु अनुकूल थी, दैव की गति जानी नहीं जाती। वह नदी महानदी चंबल में जाकर मिलती है; अब शिशु की पिटारी बहती-बहती चंबल नदी में आ गई। इटावा के पास चंबल नदी आकर श्रीयमुना जी में मिलती है, अतः चंबल के प्रवाह के साथ वह श्रीयमुना जी में आ गई और यमुना जी के साथ वह भी प्रयाग की ओर बढ़ी। तीर्थराज प्रयाग में आकर श्रीयमुना जी गंगाजी में मिल जाती हैं; अतः अब वह मंजूषा शिशु को लेकर काशी की ओर बहने लगी। उसके साथ न कोई मल्लाह था; न पथप्रदर्शक व्यक्ति। भाग्य उसे स्वयं ही बहाकर ले जा रहा था। काशीपुरी पाटलपुत्र आदि राज्यों की सीमा को पार करती हुई गंगाजी के प्रवाह के साथ वह मंजूषा बिना किसी रुकावट के आगे बढ़ी चली जा रही थी। आगे चलकर वह अंग देश की सीमा में पहुँची। अब मानों उसकी यात्रा समाप्त होगी। दैवयोग से उसी समय चंपा नगरी

के राजा अधिरथ अपनी पत्नी राधा और अपने सेवकों के साथ गंगा स्नान करने आये। उन्होंने दूर से एक सुन्दर सी पेटी को जाह्नवी की हिलोरों के साथ क्रीड़ा करते देखा। आँख फाड़कर वे बहुत देर तक उसकी ओर देखते रहे। अंत में उन्होंने अपने सेवकों को आज्ञा दी—'सामने यह जो मंजूषा बहती जा रही है उसे पकड़ कर लाओ, देखें इसमें क्या चीज है?'

आज्ञा पाते ही कुछ मल्लाह नौका लेकर गये और झट से उसे पकड़ लाये और राजा अधिरथ को लाकर उसे दिया। अधिरथ ने उसे देखा। उसकी प्रसन्नता का वारापार नहीं रहा। उसमें एक नवजात सुकुमार शिशु था। वह बाल सूर्य की भाँति उस मंजूषा को आलोकित कर रहा था। बालक के भोले-भाले सुंदर स्वरूप को देखकर राजा अवाक् रह गया और बड़ी देर तक उसके अद्भुत आनन को निहारता रहा। स्वाभाविक कवच कुंडल धारण किये उस अलौकिक बालक ने राजा पर जादू सा कर दिया। अधिरथ अनपत्य था। उसके कोई सन्तान नहीं थी। उन्होंने अपनी पत्नी राधा को उस बच्चे को दिया। ऐसे देवतुल्य बालक को पाकर राधा का रोम-रोम प्रफुल्लित हो उठा। राधा के अब तक कोई सन्तान नहीं थी। मातृ-सुख से वह अब तक वंचित ही थी। उस अनुपम शिशु को देखकर उसका मातृ-भाव उमड़ आया और स्वतः ही उसके स्तनों से दूध की धारा बहने लगी। राधा ने झट से अपना स्तन बालक के मुख में दे दिया। बालक दो दिन का भूखा था। स्तन पाते ही झठ से वह दूध पीने लगा। माता निहाल हो गई। अधिरथ ने सहस्रों गौओं का दान दिया, ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराया। चारों ओर तुरही, नगाड़ा, भेरी बजने

लगी। समस्त नगर में आनन्द छा गया। सर्वत्र उत्सव की धूम मच गई। अधिरथ ने उसे अपना सगा पुत्र ही समझा। राधा उसे अपने उदरजात पुत्र की ही भाँति पालन करने लगी।

वह जन्म से ही वसु-सुवर्ण के कुण्डलों के सहित उत्पन्न हुआ था, अतः माता-पिता और ब्राह्मणों ने उसका नाम वसुषेण रखा। धीरे-धीरे बालक बढ़ने लगा और अपनी तोतली बोली से माता-पिता को सुखी करने लगा। भाग्यवान् जहाँ जाते हैं, वहाँ अभ्युदय ही होता है। अब तक राजा अधिरथ अनपत्य थे, उनके कोई भी संतान नहीं थी। कर्ण के आते ही उनके और भी कई पुत्र हुए। अंग देश में सर्वत्र मंगल छा गया। कर्ण के शरीर में जो दिव्य-कवच और दिव्य-कुण्डल थे वे अलौकिक, अमृतमय थे। ये कुण्डल भगवान सूर्य को अपनी माता अदिति से मिले थे। सूर्य देव ने पुत्र-स्नेहवश वे दोनों चीजें कर्ण को गर्भ में ही प्रदान की थीं। कर्ण उन्हें पहिने ही पैदा हुए थे। उनमें से सदा अमृत टपकता रहता था। जब तक कवच-कुण्डल उनके शरीर पर बने रहते, संसार में उन्हें कोई मार नहीं सकता था और न पराजित ही कर सकता था। उन दोनों वस्तुओं से कर्ण की अद्‌भुत शोभा थी।

जब कर्ण कुछ बड़े हुए तो महाराज अधिरथ को उनकी शिक्षा की चिन्ता हुई। अंग देश कुरु जांगल देश के आधीन था। महाराज धृतराष्ट्र से अधिरथ की मैत्री थी, अतः उन्होंने अपनी पत्नी से सम्मति करके कर्ण को अस्त्र विद्या सीखने के लिए हस्तिनापुर में भेज दिया। हस्तिनापुर के समीप जहाँ बहुत से राजकुमार अस्त्र विद्या सीखते थे, कर्ण भी वहाँ अस्त्र-शस्त्रों का अभ्यास करने लगे। वह स्वभाव से ही शूरवीर

था, उसकी बुद्धि विलक्षण थी। उसका वर्ण गौर था, छाती चौड़ी थी, आँखें विशाल थीं, चाल में मस्ती थी। उसके कंधे सिंह की तरह भरे हुए थे। वह रूप-लावण्य में देवताओं के तुल्य था। गुणों में भी उसके समान कोई नहीं था। वह सच्चरित्र, दानी, ब्राह्मण-भक्त और सूर्य का उपासक था। यह सब होने पर भी दैव उसके प्रतिकूल था। उसके गुणों के प्रकट होने का स्थान उपयुक्त नहीं मिला। दैव की गति को कौन अन्यथा करने में समर्थ हो सकता है ?



कर्ण का कौशल

युद्ध शौण्डो महावाहुर्नित्योद्यत शरासन:।
केशरीवद्वने नर्दन मातङ्ग इव यूथपान्।*

(द्रो० प० १८०,२५)

माता पिता दोनों में पिता की अपेक्षा सन्तान के प्रति माता का प्रेम अधिक होता है । पुत्र भले ही कुपुत्र हो जाय, किन्तु माता प्राय: कुमाता नहीं होती। कुन्ती अपने प्यारे पुत्र को जल में बहाकर शान्त नहीं हुई। उसने अत्यन्त ही गुप्त रीति से अपने विश्वासपात्र गुप्तचरों द्वारा इस वात का पता लगा लिया कि उसका पुत्र एक राज घराने में है और उसका पालन-पोषण राजकुमारों की भाँति हो रहा है। माता को इस वात से बड़ा संतोष हुआ। इधर महाराज कुन्तिभोज ने जब अपनी कन्या कुन्ती को विवाह-योग्य देखा तो उसका स्वयंवर रचने का निश्चय किया । देश-देशान्तरों में यह समाचार भेजा गया कि 'मेरी अद्वितीय रूप-लावण्य युक्त कन्या का स्वयंवर है। राजसभा में मेरी कन्या जिस राजकुमार के गले में जयमाला डालेगी उसी के साथ मैं अपनी कन्या का विवाह करूँगा।'

---

*श्री कृष्ण कहते हैं—"महावाहु कर्ण कभी युद्ध से विमुख नहीं होता। नित्य ही धनुषवाण ताने वन में सिंह की तरह घूमा करता है। वह अपनी दहाड़ से अपने शत्रुओं को उसी तरह भयभीत और विमर्दन करता है जैसे वनराज हाथियों के झुन्ड का मान-मर्दन करता है।"

इस समाचार को सुनकर देश-देशान्तरों के राजकुमार आने लगे।

भरतवंश क्षत्रियों में अत्यन्त श्रेष्ट माना जाता है। चन्द्र-वंश में महाराज भरत बड़े ही प्रतापी शूरवीर और चक्रवर्ती सम्राट् थे। वे महाराज दुष्यन्त के वीर्य से महारानी शकुन्तला के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। उन्हीं के नाम से पुरु-वंश को भरत-वंश कहते हैं। महाराज भरत के प्रपौत्र हस्ती हुए, जिन्होंने हस्तिनापुर नगर बसाया। हस्ति-वंश में दसवें महाराज शान्तनु हुए; उनके गंगा के गर्भ से सत्यव्रत भीष्म उत्पन्न हुए। अपने पिता की दाशराज की कन्या सत्यवती से विवाह करने की इच्छा जानकर भीष्म ने आजन्म ब्रह्मचारी रहने की भीष्म-प्रतिज्ञा की। महाराज शान्तनु के वीर्य से सत्यवती के चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य ये दो पुत्र हुए। चित्राङ्गद बालक-पन में ही एक गन्धर्व के हाथ से मारे गये। विचित्रवीर्य का विवाह भीष्म ने काशिराज की अम्बिका और अम्बालिका के साथ कराया। विचित्रवीर्य के कोई सन्तान नहीं हुई। अत्यन्त भोग-विलास में आसक्त होने के कारण वे अकाल में ही काल-कवलित हुए। वंश का नाश देखकर माता सत्यवती ने भीष्म से और अन्य विद्वान ब्राह्मणों से सम्मति करके कन्या-वस्था में उत्पन्न हुए अपने पुत्र भगवान व्यास से शास्त्र की रीति के अनुसार विचित्रवीर्य की रानियों के पुत्र उत्पन्न कराये। अम्बिका से जन्मान्ध धृतराष्ट्र का जन्म हुआ, अम्बालिका से पाँडु और दासी से परम नीतिज्ञ विदुर जी उत्पन्न हुए। जन्मान्ध होने के कारण धृतराष्ट्र राजगद्दी के अधिकारी न होकर पाँडु ही राजसिंहासन पर बैठे। स्वयंवर में कुन्ती ने महाराज पाँडु को पति रूप में वरण किया। अतः

कुन्ती का विवाह हस्तिनापुर के महाराज पाँडु के साथ हुआ। महाराज पाँडु का दूसरा विवाह मद्र देश के राजा की माद्री नाम्री कन्या के साथ हुआ। महाराज पाँडु ने मृगया के समय भूल में अपनी पत्नी मृगी के गर्भाधान करते समय एक मृग को अपने बाण से मार दिया। वास्तव में वे ऋषि थे और मृग रूप में गर्भाधान कर रहे थे। उन्होंने महाराज को कुपित होकर शाप दिया कि तुम भी जब अपनी पत्नी में गर्भाधान करोगे तो तुम्हारी भी मृत्यु हो जायगी। इस कारण महाराज पाँडु सामर्थ्य होने पर भी सन्तान उत्पन्न न कर सके। वे अपने जन्मान्ध भाई धृतराष्ट्र को राज्य पाट सौंप कर अपनी दोनों रानियों के साथ वन में चले गये। वहाँ वे अरण्यवासी मुनियों के साथ वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करने लगे। वहीं कुन्ती ने दुर्वासा के मन्त्र बल से धर्म, वायु और इन्द्र को बुलाकर उनसे युधिष्ठर, भीमसेन और अर्जुन ये तीन पुत्र उत्पन्न कराये। पाँडु के कहने पर अश्विनीकुमारों को बुलाकर माद्री के भी नकुल सहदेव ये दो पुत्र उत्पन्न कराये। दैवयोग से महाराज पाँडु स्वर्गवासी हुए। माद्री उनके साथ सती हो गई। कुन्ती अपने पाँचों पुत्रों को लेकर हस्तिनापुर आ गई। भीष्मपितामह उन बच्चों का बड़ी सावधानी से लालन-पालन कराने लगे। इधर महाराज धृतराष्ट्र का विवाह भी गांधार देश के महाराज की पुत्री गांधारी से हुआ। वह ऐसी पतिव्रता थी कि अपने पति को अन्धा जान कर सदा अपनी आँखों पर पट्टी बाँधे रहती थी। भगवान व्यास की कृपा से उनके भी १०० पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें दुर्योधन सब से बड़ा था और दुःशासन आदि सब छोटे थे। एक दुःशला कन्या भी थी, जिसका विवाह

गाँधार देश के राजा जयद्रथ के साथ हुआ। ये १०५ पुत्र भीष्मपितामह की देख-रेख में शिक्षा-दीक्षा पाने लगे। पितामह ने कृपाचार्य को अपने यहाँ रखा था। उनकी वहिन कृपी का विवाह द्रोणाचार्य के साथ हुआ। पहिले कृपाचार्य ही सब राजकुमारों को शिक्षा देते थे, किन्तु पितामह चाहते थे कोई बहुत योग्य आचार्य मिलें तो इन वालकों को समस्त धनुर्वेद की उच्च शिक्षा दिलाई जाय।

कृपाचार्य के बहनोई द्रोणाचार्य विद्वान होकर भी निर्धन थे। कृपी के गर्भ से उनके अश्वत्थामा नाम का एक पुत्र भी था। अन्य ऋषि वालकों को दूध पीते देखकर उसने भी अपनी माता से दूध माँगा। इस पर माता ने उसे आटा घोलकर सफेद पानी दूध बताकर दे दिया। मालूम पड़ने पर वालक बहुत रोया। उसके पिता द्रोणाचार्य धन की इच्छा से अपने सहपाठी बाल्यकाल के मित्र पांचाल देश के राजा के यहाँ गये। उसने इनका तिरस्कार किया। उस अपमान का बदला लेने के लिये ये दैवयोग से हस्तिनापुर आगये। भीष्म पितामह ने इन्हें बड़े सत्कार से रखा और सब राजकुमारों को धनुर्वेद की शिक्षा देने के लिये इन्हें ही आचार्य नियुक्त किया। द्रोणाचार्य उस समय धनुर्वेद में अद्वितीय थे। उनकी बराबरी सब अस्त्र-शस्त्रों के वेत्ता परशुराम जी को छोड़कर कोई नहीं कर सकता था। धृतराष्ट्र और पाँडु के पुत्रों को तो वे शिक्षा देते ही थे किंतु और भी अनेक देशों के राजकुमार इनके पास अध्ययन करने आते थे। इन्होंने अपने शिष्यों से प्रतिज्ञा करा ली थी कि पढ़कर तुम लोग गुरुदक्षिणा में मुझे पांञ्चाल देश के राजा द्रुपद को बाँध कर ला दोगे। इनके शिष्यों ने ऐसा ही किया और इस तरह से द्रोणाचार्य ने द्रुपद से अपने

अपमान का बदला ले लिया। द्रुपद ने भी यज्ञ करके एक ऐसा पुत्र उत्पन्न कराया जो द्रोण को मारने वाला हुआ।

मनुष्य में यह स्वाभाविक कमजोरी है कि जिस पर उसका ममत्व हो जाता है, उसको प्रसन्न करने के लिये वह उचित-अनुचित सभी काम कर डालता है। यह कमजोरी बड़े-बड़े लोगों में देखी गई है। द्रोणाचार्य के पास कौरव, पाँडव, कर्ण, तथा अंधक वृष्णि-वंश के अन्यान्य बहुत से राजकुमार शिक्षा पाते थे, किन्तु उनका अधिक स्नेह अर्जुन के प्रति था। अर्जुन की शूरवीरता, हस्तलाघवता, गुरु-शुश्रूषा श्लाघनीय थी। उसने आचार्य से एक दिन एकान्त में कहा—'गुरो! मेरी ऐसी इच्छा है कि मैं संसार में सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी बनूं। आपके आशीर्वाद से ही मेरी यह अभिलाषा पूर्ण हो सकती है।' आचार्य ने कहा—'बेटा, ऐसा ही होगा। मैं तुम्हारी गुरु-भक्ति से अत्यन्त हो सन्तुष्ट हूँ।' आचार्य ने यह आशीर्वाद ही नहीं दिया, किन्तु उन्होंने भरसक इस बात का प्रयत्न भी किया। वे एकान्त में अर्जुन को धनुर्वेद-शास्त्र के उन गुप्त और गूढ़ रहस्यों को भी समझाते थे, जिन बातों को सब नहीं समझ सकते थे। अर्जुन को संसार विजयी होने के लिये द्रोणाचार्य ने एक बड़ा ही अनुचित कार्य भी किया। निषादों के राजा हिरण्यधनु का पुत्र राजकुमार एकलव्य एक दिन द्रोणाचार्य के समीप अस्त्र-विद्या सीखने के लिये आया। उसने प्रार्थना की—'गुरो! मैंने आप को अपना गुरु मान लिया है; आप मुझे अस्त्र-विद्या सिखा दें।'

आचार्य ने कहा—'भैया, मुझे सिखाने में तो कोई आपत्ति नहीं थी किन्तु ये राजकुमार तुम से द्वेष करने लगेंगे और

दिव्य-अस्त्रों के अधिकारी प्राय: कुलीन क्षत्रिय ही होते हैं।"

यहाँ तक तो द्रोणाचार्य ने ठीक ही किया, किन्तु आगे उस बालक के साथ एक बड़ा ही पक्षपात-पूर्ण व्यवहार किया। एकलव्य यह उत्तर सुनकर अपने गुरु को प्रणाम करके चला गया। उसकी लगन सच्ची थी। हृदय में दृढ़ अनुराग था और अटूट श्रद्धा थी। उसने द्रोणाचार्य की एक मिट्टी की मूर्ति बनाई। उसे ही द्रोणाचार्य मान कर उसी की पूजा करता और उसी की आज्ञा लेकर वह जंगल में अकेला ही बाण चलाने का अभ्यास करने लगा। श्रद्धा ही तो फलवती होती है। भाव ही तो सिद्धि का कारण है। उसकी सच्ची निष्ठा सफल हुई। वह अपनी गुरु-भक्ति के कारण संसार में अद्वितीय धनुर्धारी हुआ। उसकी टक्कर का दूसरा कोई भी ठीक लक्ष्य वेधनेवाला उस समय संसार में नहीं था। एकदिन कौरव और पांडव शिकार खेलने जंगल में गये। उनके साथ एक कुत्ता भी था। जंगल में जटा बढ़ाये, मैले वस्त्र पहिने निषाद राजकुमार बाण चलाने का अभ्यास कर रहा था। उसके ऐसे रूप को देखकर कुत्ता भूकने लगा। इस पर एकलव्य ने उसके मुख को लक्ष्य करके ७ बाण ठीक उसके मुख में इस प्रकार मारे कि कुत्ते का मुख भर गया, जिससे उसका भूकना तो बन्द हो गया, किन्तु उसे कोई क्षति नहीं हुई। कुत्ता व्याकुल होकर राजकुमारों के पास गया। कुत्ते की ऐसी दशा देखकर वे आश्चर्य से चकित होगये। यह अद्भुत बाण-कौशल किस व्यक्ति ने किया। कुत्ते के साथ-साथ वे उस वीर धनुर्धारी की खोज में चले। एकलव्य के पास पहुँचकर कुमारों ने उससे सब हाल पूछा। उसने कहा–'कुमारो! मैं निषादराज का पुत्र हूँ और द्रोणाचार्य

का शिष्य हूँ। यहाँ एकान्त में बाण चलाने का अभ्यास कर रहा हूँ।' अर्जुन ने अपने मन में सोचा, 'इतना कौशल, ऐसा हस्तलाघव, इस भाँति का लक्ष्य-ज्ञान मुझमें नहीं है। एकलव्य के रहते हुये संसार में मैं अद्वितीय धनुर्धर कभी नहीं हो सकता।' उन्होंने अपनी यह चिंता आचार्य के सम्मुख प्रकट करते हुए कहा—'आचार्यदेव ! आपने तो कहा था कि संसार में तुम ही अद्वितीय शूरवीर होगे, किन्तु आपका शिष्य 'एकलव्य तो मुझसे भी बढ़-चढ़ के है। मैं उसकी बराबरी कभी नहीं कर सकता।' आचार्य ने कहा—'नहीं भैया, एकलव्य मेरा कोई शिष्य नहीं है, न मैंने कभी उसे कुछ सिखाया ही है।'

अर्जुन ने हठ पूर्वक कहा—'मैं इस बात को कैसे मानूँ ? वह निषादराज हिरण्यधनु का पुत्र है। हमारे पूछने पर उसने अपने को द्रोणाचार्य का ही शिष्य बताया था।'

आचार्य को अब ध्यान आ गया, उन्होंने कहा—'तुम मुझे अभी उसके पास ले चलो।' अर्जुन के साथ आचार्य उस जंगल में गये जहाँ एकलव्य निरन्तर धनुष चलाने का अभ्यास कर रहा था। आचार्य को आते देख उसने धनुष-बाण रख दिया और चरणों में पड़कर उन्हें प्रणाम किया। विधिवत् उनकी पूजा की और दीनता से उसने कहा 'गुरुदेव ! मैं आपका शिष्य हूँ, आपका कौन सा प्रिय कार्य करूँ ?'

द्रोणाचार्य ने कहा—'यदि तुम मेरे शिष्य हो, तो मुझे गुरु-दक्षिणा दो। मैं आज तुमसे गुरु-दक्षिणा लेने आया हूँ।'

अत्यन्त ही प्रसन्नता के साथ एकलव्य ने कहा—'गुरुदेव !

मेरा परम सौभाग्य है। मेरा तन, मन, धन और सर्वस्व आपके चरणों में समर्पित है। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो आपके लिये अदेय हो। आप आज्ञा करें, मैं कौन सी आपकी सेवा करूँ ?"

द्रोणाचार्य ने कहा—"यदि तुम सत्य प्रतिज्ञ हो और मुझे देना चाहते हो तो अपने दाहिने हाथ का अँगूठा मुझे दो।"

एकलव्य ने उसी क्षण एक तेज शस्त्र से अपना दाहिना अँगूठा काट कर गुरु के चरणों में रखा। इससे अर्जुन की चिंता दूर हुई। इस प्रकार एक अनुचित कार्य करके द्रोणाचार्य ने अपने प्रिय शिष्य अर्जुन की इच्छा पूर्ण की। एकलव्य ने फिर अँगूठे के बिना उँगलियों से ही बाण चलाने का अभ्यास किया, किन्तु अब वह बात नहीं रही। बाण छोड़ने में अँगूठा ही तो प्रधान साधन है।

सूतपुत्र वसुषेण भी इन्हीं द्रोणाचार्य के यहाँ धनुर्वेद पढ़ते थे। किसी भी राजकुमार का इनकी ओर ध्यान नहीं था। ये एकान्त में रहते थे और द्रोणाचार्य के पास आकर पढ़ जाते थे। अभी तक कुरुवंशीय राजकुमारों के साथ इनकी अधिक घनिष्ठता नहीं थी, किन्तु विद्या में अपने साथी विद्यार्थियों से स्वाभाविक ही प्रतिस्पर्धा होती है। पढ़ने में जो विद्यार्थी अपने से तेज होता है, मेधावी विद्यार्थी उससे प्रतिस्पर्धा रखते हैं और भर सक इस बात का प्रयत्न करते हैं कि यह हमसे बढ़ने न पावे। कभी कभी तो इस प्रतिस्पर्धा में कड़वाहट भी आजाती है और अंत में वही प्रतिस्पर्धा द्वेष और शत्रुता का रूप धारण कर लेती है। कर्ण जन्मजात वीर थे। उन्हें अभ्यास की उतनी आवश्यकता नहीं थी। अर्जुन अभ्यास के बल पर गुरु की कृपा

से वीर बने थे। इससे उन्हें अपनी वीरता पर अभिमान भी था। वे सब के सामने अपने को श्रेष्ठ समझते। इससे कर्ण मन ही मन अर्जुन से प्रतिस्पर्धा रखने लगे। उनकी यह आंतरिक अभिलाषा हो गई कि मैं सब के सामने अर्जुन को परास्त करूँ। अपनी यह इच्छा उन्होंने किसी पर प्रकट नहीं की, किन्तु जब भी वे अर्जुन को देखते तभी उनके मन में यह भाव उठता और दिन रात्रि इसी विषय पर सोचते रहते।

कौरव स्वभाव से ही पांडवों से द्वेष करते थे। उन्होंने पांडवों को मारने के लिये भाँति भाँति के प्रयत्न किये। किन्तु पांडव वीर थे, दैव उनके अनुकूल था। कौरवों के सब प्रयत्न विफल हो गये। वे पांडवों का बाल भी बाँका न कर सके।

जब सब राजकुमार शिक्षा समाप्त कर चुके तब द्रोणाचार्य ने अपने शिष्यों का सब को कलाकौशल दिखलाना चाहा। आचार्य के लिये इससे अधिक प्रसन्नता की बात क्या हो सकती है कि उनके विद्यार्थी सब के सामने गौरवान्वित हों और बड़े लोगों के प्रशंसा के पात्र बनें। वे पितामह भीष्म के सामने अपनी शिक्षा का प्रदर्शन करके उन्हें दिखाना चाहते थे कि मैंने राजकुमारों के साथ कितना परिश्रम किया है। एक दिन उन्होंने अपनी यह इच्छा पितामह भीष्म तथा धृतराष्ट्र के सामने प्रकट की। पितामह इस प्रस्ताव को सुनकर बड़े प्रसन्न हुये और उन्होंने परीक्षा की एक तिथि नियुक्त कर दी। उनकी आज्ञा के अनुसार बड़े भारी रंग मंच की रचना होने लगी। महीनों पहिले से भाँति-भाँति से तैयारियाँ आरंभ हुईं। राजकुमारों की प्रसन्नता का वारापार नहीं रहा। कर्ण ने भी इसे ही अर्जुन को परास्त करने का अच्छा अवसर समझा, किन्तु उन्होंने अपना

अभिप्राय गुप्त ही रखा, किसी के सामने उसे प्रकट नहीं किया। वे परीक्षा में उत्तीर्ण होना चाहते थे। सब के सामने वे अर्जुन को नीचा दिखाना चाहते थे, किन्तु दैव उनके अनुकूल नहीं था। वे अर्जुन को नीचा न दिखाकर स्वयं ही लज्जित हुए और उसी दिन से वैर की नींव पड़ गई। भाई भाई एक दूसरे के खून के प्यासे बन गये। यह वैर इतना बढ़ गया कि अंत में मरने के बाद ही समाप्त हुआ।



रंगभूमि में कर्ण

ब्रह्मण्य सत्यवादी च तपस्वी नियतव्रतः ।
रिपुष्वपि दयावांश्च तस्मात् कर्णो वृषःस्मृतः ॥*

(द्रो० प० १८०।२४)

विद्यार्थियों के लिये परीक्षा कैसी कुतूहल की वस्तु है। जिन्होंने कभी परीक्षा दी हो उन्हें स्वयं अनुभव होगा कि परीक्षा के समय हृदय में कैसे-कैसे भाव उठते हैं। जिन्हें पाठ्य-वस्तु विधिवत् उपस्थित नहीं होती, जो पढ़ने में कमजोर होते हैं, उनके लिये तो परीक्षा एक भय की वस्तु होती है, किन्तु जिन्हें पदार्थ उपस्थित हों, सब के सामने परीक्षा देने का अवसर हो तो उस छात्र का हृदय मारे प्रसन्नता के बाँसों उछलता रहता है। परीक्षा देते समय हृदय में जैसा गौरव, जैसी उत्सुकता, जैसा उल्लास होता है वैसा छात्रों को भी नहीं होता । यह उल्लास प्रथम परीक्षा में ही सब से अधिक होता है।

आज कौरव राजकुमारों की परीक्षा का दिन है। रंगमंच बहुत सी बहुमूल्य वस्तुओं से सजाया गया है। बहुत बड़े मैदान में खूब विस्तृत और एकसी जगह में अस्त्रकौशल दिखाने का पंडाल बनाया गया है। कारीगरों ने उसमें भाँति-भाँति की कारी-

---

* श्रीकृष्ण कहते हैं—'महावीर कर्ण ब्राह्मण-भक्त, सत्यवादी, तपस्वी और नियतव्रती हैं, वे शत्रुओं पर भी सदा दया करते हैं इसीलिये उनका एक नाम 'वृष' भी है।'

गयी की है। समस्त जनता को राजकुमारों के कौशल देखने के लिये आमंत्रित किया गया है। सब लोगों के बैठने के लिये पृथक् पृथक् प्रबंध हैं। एक ओर राजघराने के लोगों के बैठने के लिये स्थान है, दूसरी ओर रानियों और राजकुमारियों के बैठने का प्रबंध है। पंडित और ब्राह्मणों के लिये पृथक् आसन है। साधारण जनता के लिये दूसरी ओर व्यवस्था है। एक ओर सेना खड़ी है; दूसरी ओर बाजे बजाने वालों का जमाव है। इस प्रकार रंगस्थली में जो जिस योग्य है सभी के बैठने का यथोचित प्रबंध किया गया है। चौड़ी-चौड़ी सुंदर सड़कें बनाई गई हैं, जिनमें सुगंधित जल छिड़का गया है। अगर और धूप के धुएँ ने सभी स्थान सुगंधिमय बना हुआ है। वंदनवार, ध्वजा-पताकाओं की शोभा से पंडाल मूर्तिमान उत्सव ही दिखाई पड़ता है। यथा समय लोगों की भीड़ राजकुमारों के कलाकौशल को देखने के लिये आने लगी। सभी अपने-अपने स्थानों पर आ आ कर बैठने लगे। वह सभा मंडप इतना विशाल था कि असंख्य आदमियों की भीड़ उसमें इसी प्रकार समाती जाती जैसे असंख्यों नदी समुद्र में विलीन होती जाती हैं। महाराज धृतराष्ट्र की आज्ञा से महामति विदुर ने उसे इतने परिश्रम से बनवाया था कि दर्शक उनकी शोभा को देखकर ही मुग्ध हो रहे थे। यथासमय महाराज धृतराष्ट्र पितामह भीष्म के पीछे पीछे विदुर के कंधे पर हाथ रखे हुए सभा मंडप में आगये। उपस्थित जनता के जय जयकार के कोलाहल से आकाश फटने लगा। गगनभेदी आवाज से दिशायें गूँजने लगीं। महारानी गाँधारी भी कुन्ती को साथ लेकर सभा मंडप में बैठ गईं। सब राजकुमार भी यथा स्थान अपने अपने आसनों पर आसीन हुए। सब से अन्त में आचार्य द्रोण ने अपने पुत्र के साथ सभा मंडप में प्रवेश किया। यद्यपि

वे बूढ़े थे, उनकी दाढ़ी और सिर के बाल हंस के समान श्वेत थे, फिर भी वे देखने में युवा मालूम पड़ते थे। वे शुभ्रवस्त्र पहिने थे। सफेद चंदन और सफेद माला से वे पुष्पित वेला के वृक्ष के समान दिखाई देते थे। उनके आते ही सब लोग अपने-अपने आसनों से उठकर खड़े हो गये। आचार्य ने सब का यथोचित सन्मान किया और सबको अपने-अपने स्थानों पर बैठने की अनुमति दी। सब लोगों के बैठ जाने पर आचार्य की आज्ञा से सभी राजकुमार अपना अपना कौशल दिखाने लगे। उस समय राजकुमार प्रसन्नता से परिपूर्ण थे। उनका चेहरा आनंद से दमक रहा था। कवच कुन्डल पहिने, मुकुट धारण किये और नाना अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित बालसिंह की तरह वे हजारों राजकुमार बड़े ही भले मालूम पड़ते थे। दर्शक बड़ेही उल्लास के साथ एक टक उनके कौशलों को देख रहे थे। सबने अपने अपने कर्तव्य दिखाये। जिसका जिससे जोड़ा था, उसने उसके साथ प्रतिस्पर्धा की। दुर्योधन और भीम का गदा युद्ध हुआ। खेल ही खेल में दोनों उत्तेजित हो उठे और एक दूसरे का प्राण हरण करने की इच्छा से यथार्थ युद्ध करने लगे। इस पर आचार्य की आज्ञा से उनके पुत्र अश्वत्थामा ने उन्हें छुड़ा दिया। सबसे अंत में अर्जुन ने अपना कौशल दिखाया। अर्जुन की हस्तलाघवता, कार्यकुशलता और दिव्यास्त्रों की शिक्षा को देखकर सभी लोग मंत्रमुग्ध से हो गये। उन्होंने भाँति-भाँति से दिव्यास्त्रों के कर्तव्यों से जनता को आश्चर्य के सागर में निमग्न कर दिया। सभी लोग चारों ओर से 'धन्य-धन्य', और 'जय-जय' करने लगे। 'अर्जुन की जय हो' इस शब्द से दिशाएँ गूँजने लगीं।

अपने प्रतिस्पर्धी की प्रशंसा सुनकर अब कर्ण से न रहा गया उसने रंगभूमि के द्वार पर आकर जोरों से ताल ठोंकी और अपने

हाथों से भुजदंडों को फटकारा। उसके ऐसे भयंकर शब्द को सुनकर सभी लोग चौंक पड़े। सभी ने आश्चर्य चकित दृष्टि से द्वार की ओर देखा। सामने से उन्हें धनुषबाण लिये हुए एक विशालकाय गौरवर्ण वीर आता हुआ दिखाई दिया। उनके शरीर पर स्वाभाविक कवच था। कानों में अमृतमय दिव्य कुण्डल थे। भुजायें मोटी थीं। शरीर गठीला था। युवावस्था के मद से वह चूर था। उठती हुई जवानी की मस्ती उसके चेहरे पर छाई हुई थी। उसकी चाल सिंह के समान थी। चौड़ी छाती से यह सचल पर्वत की भाँति दिखाई देता था। ऐसी मनमोहनी मूर्ति को देखकर सभी स्तब्ध हो गये। जो अपने आसन से उठना चाहते थे; वे भी डटकर बैठ गये।

उस वीर पुरुष ने आते ही साधारण रीति से द्रोणाचार्य और कृपाचार्य को प्रणाम किया और बिना किसी के प्रश्न की प्रतीक्षा किये ही उसने अर्जुन को लक्ष्य करके कहना आरंभ किया। वह बोला—"धनुषधारियों में श्रेष्ट अर्जुन! तुम अपना अस्त्र कौशल दिखाकर बड़े प्रसन्न हो रहे हो। तुम समझते हो, तुमने बड़ा भारी काम किया, बहुत ही अद्भुत-अद्भुत चमत्कार दिखाये, किन्तु इनमें तुमने कौन सी बड़ाई की। ये तो साधारण कार्य हैं। तुम कहो तो अभी सब के सामने ही मैं इनसे बढ़कर कौशल दिखा सकता हूँ। ऐसा तुम सात जन्म में भी नहीं कर सकते।"

माता कुन्ती ने दिव्य कवच कुण्डल पहिने अपने कालीन पुत्र को पहिचान लिया। आज युवावस्था में इस वीर वेष से अपने लाड़िले लड़ेते पुत्र को देखकर कुन्ती का हृदय बाँसों उछलने लगा। उसके रोम रोम से प्रसन्नता फूटी पड़ती थी। क्षण भर में उसे वे सब बातें स्मरण हो आइ जिस समय उसने

लोकापवाद के भय से अपने पुत्र को पानी में प्रवाहित कर दिया था। कुन्ती मन-ही-मन प्रसन्न हो रही थी। उसकी दृष्टि कर्ण के सुन्दर मुख की ओर ही लगी हुई थी। वह निर्निमेष भाव से अपने पुत्र के अनुपम रूप का दोनों नेत्रों द्वारा पान कर रही थी।

कर्ण की इस गर्वोक्ति को सुनकर अर्जुन आश्चर्य चकित हो गये। दुर्योधन की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। भीड़ में कुतूहल छा गया। एक स्वर से सभी ने चिल्लाकर कहा--"दिखाइये, दिखाइये; हम आपके अस्त्र कौशल को देखना चाहते हैं।" कर्ण ने वड़ी गंभीरता पूर्वक चारों ओर देखा और फिर हाथ जोड़कर द्रोणाचार्य से वोले--"आचार्य देव! क्या आपकी आज्ञा है कि मैं उपस्थित जनता की इच्छा पूर्ण करूँ? क्या अपने दो चार हाथ दिखाऊँ?"

आचार्य द्रोण ने कहा--"हाँ वेटा, वड़ा प्रसन्नता से दिखाओ। रंगभूमि है ही इसीलिये। तुम भी तो मेरे शिष्य ही हो।"

आचार्य की आज्ञा पाकर कर्ण ने वे सभी कार्य जो अर्जुन ने अभी दिखाये थे वड़ी सरलता के साथ सबके सामने करके दिखा दिये। उनकी हस्तलाघवता और फूर्ती अर्जुन से भी वढ़कर थी। अर्जुन ने जो जो कलाकौशल दिखाये थे वे तो उन्होंने दिखाये ही; साथ ही वहुत से ऐसे कार्य भी दिखाये जो अर्जुन ने नहीं दिखाये थे। उपस्थित जनता कर्ण के इस अस्त्रकौशल को देखकर आश्चर्य चकित होगई। वह कर्ण की प्रशंसा करने लगी। दुर्योधन को तो मानो अपार निधि मिल गई। जल्दी से उठकर उसने कर्ण को गले लगाया और अत्यन्त ही प्रेम प्रकट करते हुए उसने कहा--"धन्य धन्य, वीरवर! मेरा परम सौभाग्य जो आप

पधारे। आपकी जो भी इच्छा हो, मैं उसे पूर्ण करूँगा। आप जिस अभिप्राय से यहाँ आये हों, उसे मुझे बताइये। मैं अपने प्राणों की आहुति देकर भी उसे पूरा करूँगा। मेरा समस्त राज्य समस्त कोष, पूरी सेना और १०० भाइयों सहित मैं आपके अधीन हूँ। आप इस राज्य के स्वामी हैं। मैं आपका हूँ। मुझे अपना हितैषी, मित्र, भाई, किंकर और अधीन समझिये।'

कर्ण ने दुर्योधन का सम्मान करते हुए कहा—'राजन्! ऐसी बात आप मुँह से कभी न निकालें। मैं आपका दास हूँ। आप मुझसे स्नेह करते हैं, यह मेरा परम सौभाग्य है, मैं आपकी कृपा के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता। आपका मेरे ऊपर स्नेह बना रहे, यही मेरे लिये सब कुछ है। मुझे धन, राज्य, वैभव और संसारी सुख कुछ भी नहीं चाहिये। यहाँ मैं किसी प्रलोभन से नहीं आया हूँ। मेरी एक मात्र इच्छा अर्जुन से द्वंद युद्ध करने की है। मैं अर्जुन को परास्त करना चाहता हूँ।'

महाबाहो कर्ण! तुम अर्जुन को परास्त कर सकते थे किन्तु तुम तो देवताओं द्वारा ठगे गये। अर्जुन को तुमने युद्ध में भले ही परास्त न किया हो; किन्तु अर्जुन के पिता देवराज इन्द्र को तो तुमने अपनी दानशीलता से परास्त कर ही दिया।



कर्ण को अंगदेश का राज्य

यद्यं फाल्गुनो युद्धे नाराज्ञा योद्धुमिच्छति ।
तस्मादेषोऽङ्ग विषये मयाराज्येऽभिषिच्यते ।।*

(आ० प० १३८।३६)

मनुष्य स्वभाव में जहाँ दया, क्षमा, प्रेम और परोपकार आदि की सद्वृत्तियाँ हैं, वहाँ उसमें क्रूरता भी है। जिनसे अपना स्वाभाविक वैर होता है, उनका अनिष्ट हो, उनका अपमान हो, तो हमें आन्तरिक प्रसन्नता होती है। इसके विपरीत अपने विपक्षी की उन्नतियाँ, प्रशंसा सुनकर हृदय में एक प्रकार की जलन होती है। मनुष्य चाहता है 'मेरी ही उन्नति हो, सब लोग मेरी ही बात मानें, मेरे ही पक्ष में रहें, मेरी ही प्रशंसा हो। जो मेरी इस इच्छा पूर्ति में बाधक है, वह मेरा शत्रु है।' मनस्वी लोगों के हृदय में ये भाव स्वाभाविक होते हैं। वीतरागी महात्मागण इसके अपवाद भी होते हैं, किन्तु बहुत कम। बड़े-बड़े लोगों में भी ये भाव न्यूनाधिक रूप में पाये जाते हैं।

भरी सभा में कर्ण द्वारा अपमानित होने पर धनुर्धर अर्जुन क्रोध और लज्जा के कारण क्रोधित सर्प की भाँति फुफकार छोड़ने लगा। उसे समस्त संसार सूना सा प्रतीत होने लगा।

---

*दुर्योधन ने कृपाचार्य से कहा—"यदि यह अर्जुन राजा के ही साथ युद्ध करना चाहता है तो मैं कर्ण को अंगदेश के राज्य पर अभिषिक्त करता हूँ।'

क्षण भर पहिले वह अपने को संसार में सर्वश्रेष्ठ शूरवीर माने बैठा था। उसके आचार्य ने भी सब के सामने यही बात कही थी कि अर्जुन संसार में सर्वश्रेष्ठ शूर है। दूसरे ही क्षण वह अपमानित हुआ। सब लोग कर्ण की प्रशंसा करने लगे। अतः यह कर्ण को उलटी-सीधी सुनाने लगा। उसने क्रोधित होकर कहा—'तू कौन नीच पुरुष है? विना बुलाये तू इस राजकुमारों की सभा में क्यों आया? तुझे किसने बुलाया था? आज मैं सब के सामने ही तुझे यमपुर पहुँचाता हूँ। तू अपने को शूरवीर, धनुर्धारी और अस्त्र विद्या में कुशल समझता है, किन्तु मेरे सामने तू कुछ भी नहीं है। अभी तू इस लोक से विदा होता है।'

कर्ण ने कौरवों के बीच में खड़े होकर गंभीर वाणी से सब को सुनाते हुए कहना आरंभ किया—'अर्जुन! तुम व्यर्थ ही बहुत बड़-बड़ा रहे हो। तुम जो कुछ कह रहे हो, राजद्वेष के वशीभूत होकर कह रहे हो। यह उत्सव निजी नहीं था। इसमें किसी को आने की मनाही नहीं थी। सर्व साधारण को निमंत्रित किया गया था। इससे यह उत्सव सार्वजनिक है। कोई भी इस उत्सव में आ सकता है और आचार्य की आज्ञा से अपना अस्त्र कौशल दिखा सकता है। मैंने मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया है। मैंने समस्त जनता की सम्मति से, आचार्य द्रोण की आज्ञा लेकर अपना अस्त्र कौशल दिखाया है। शूरवीर बहुत बड़-बड़ाते नहीं, वे कर्तव्य करके दिखाते हैं। यदि तुझमें हिम्मत हो तो आजा, मेरे साथ द्वन्द युद्ध कर। फिर देखें कौन किसे यमपुर भेजता है। सब के सामने अभी तुझे मैं मारकर न फेंक दूँ तो मेरा नाम कर्ण नहीं।'

कर्ण की ऐसी सत्यगर्वोक्ति सुनकर अर्जुन उसी तरह क्रोधित

हुआ जैसे पैर पड़ने पर सर्प क्रोधित हो उठता है। उसने अपना लगोंट कसकर बाँधा, शस्त्रों को ठीक सम्हाला और द्रोणाचार्य के पैर छूकर उनकी आज्ञा लेकर वह अपने आसन से नीचे उतर आया और रंगभूमि में आकर ताल ठोककर खड़ा हो गया। अत्यंत क्रोध के साथ ओठ को चबाते हुए उसने कहा—'आजा, मैं हर तरह से तैयार हूँ। तू जैसा चाहे वैसे मुझसे युद्ध कर ले। मैं द्वन्द युद्ध करने को तैयार हूँ।'

कर्ण को तो यह अभीष्ट ही था। उसे तो मुँहमांगा वरदान मिल गया। उसकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। उसने दुर्योधन से आज्ञा माँगी। धृतराष्ट्र के सब पुत्रों ने बड़े उल्लास से उसे गले लगाकर, विजय की माला पहिनाकर स्वस्तिवाचन के सहित विदा किया। दोनों अद्वितीय वीर अस्त्र-शस्त्रों से सजे हुए दो सिंहों के समान दिखाई पड़ते थे। दोनों का स्वरूप एक सा था। दोनों ही महाबली, क्रोधी, शूरवीर, सत्यप्रतिज्ञ, धर्मात्मा और युद्ध विद्या में प्रवीण थे। दर्शकों में बड़ा कोलाहल मचा। कुछ लोग 'कर्ण की जय हो', कुछ लोग 'अर्जुन की जय हो' कह कर चिल्लाने लगे। अपने पुत्रों का द्वन्द युद्ध देखने के लिये आकाश में इन्द्र और सूर्य भी आ गये। सब के चेहरे पर एक अद्भुत कौतूहल, विस्मय और जय-पराजय की उत्सुकता थी। कोई कहता था 'अर्जुन जीत लेगा;' कोई कहता अर्जुन इसे कभी भी नहीं जीत सकता।' धृतराष्ट्र के पुत्र कर्ण को उत्साहित कर रहे थे। द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और भीष्म अर्जुन की ओर खड़े थे। उस महा कोलाहल में कोई किसी की बात सुनता ही न था।

इधर स्त्रियों में बैठी हुई कुन्ती का बुरा हाल था। कर्ण और अर्जुन दोनों ही उसके पुत्र थे। किसी भी उंगली को काटो

वेदना तो सब में समान ही होगी। अपने दोनों पुत्रों को प्राणों की बाजी लगाकर, शत्रु की भाँति लड़ने को उद्यत देखकर कुन्ती बेहोश हो गई। वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। विदुर की आज्ञा से दासियों ने उसके ऊपर सुगंधित जल का छिड़काव किया और उसे सचेत किया। कुन्ती किंकर्तव्यविमूढ़ थी। उसकी समझ में ही नहीं आता था अब क्या करूँ। किससे कह कर इस युद्ध को रुकवाऊँ। उसे भरी सभा में सब बातें कहने में भी लज्जा लगती थी।

सब लोग इस युद्ध से चिंतित दीख पड़ते थे। किन्तु निवारण कैसे करें? कर्ण लड़ने को तैयार था। अर्जुन अपना अपमान समझ रहा था। अब वह युद्ध से हटता है, तो स्पष्ट उसकी पराजय है। इतने में ही कृपाचार्य को एक युक्ति सूझ गई। वे इस युद्ध को टालना चाहते थे। आगे बढ़कर उन्होंने कर्ण से कहा—'महावीर! ये अर्जुन महाराज पांडु के तीसरे पुत्र हैं। ये राजवंश में उत्पन्न हुए हैं। राजपुत्र राजपुत्रों से ही द्वन्द युद्ध करते हैं। वे सामान्य लोगों के साथ द्वन्द युद्ध नहीं करते। हम सब तुम्हारा कुल, गोत्र और नाम जानना चाहते हैं। आपके पिता का क्या नाम है? आप किस वंश में उत्पन्न हुए हैं?'

कर्ण के ऊपर मानों किसी ने वज्र डाल दिया हो। जातीय अपमान सबसे दुखद होता है। कुल हीनता से अधिक लज्जा-जनक बात सभा में दूसरी कोई नहीं है। कर्ण के पास इन प्रश्नों का उत्तर था तो सही, किन्तु वह सब के सामने प्रकट करने योग्य नहीं था। उसने लज्जा के कारण सिर झुका लिया। एक बार उसने आकाश स्थित अपने पिता सूर्यदेव की ओर देखा

और फिर बिना कुछ उत्तर दिये ही वह भूमि की ओर देखता हुआ खड़ा रहा।

दुर्योधन ने देखा—यह तो बनी बनाई बात बिगड़नी चाहती है। उसने झट से डटकर कहा—'कृपाचार्य! यदि अर्जुन राजा से ही लड़ना चाहता है, तो मैं कर्ण को अभी राजा बनाता हूँ।' यह कहकर तुरन्त उसने वेदज्ञ ब्राह्मणों को बुलाकर वहीं रंगभूमि में सुवर्ण की चौकी पर बिठाकर कर्ण को अंगदेश का राज्य तिलक कर दिया। क्षण भर में कर्ण के ऊपर श्वेत छत्र लग गया और सेवक उसके दोनों ओर चँवर डुलाने लगे। वेदज्ञ ब्राह्मणों ने कर्ण का जय जयकार किया। दुर्योधन के इस उपकार से कर्ण ऐसा दबा कि अंत में अपने प्राण देकर ही उसने इस उपकार का प्रत्युपकार किया। गद्-गद् कंठ से कर्ण ने भर्राई हुई अवाज से कहा—'कुरुराज! आज आपने मुझे मोल ले लिया। मैं सदा के लिये आपके हाथों बिक गया। अब बताइये मैं आपका क्या कार्य करूँ? आप मुझसे इस उपकार के बदले क्या कराना चाहते हैं? मैं अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी आपका प्रिय कार्य करूँगा।'

दुर्योधन ने कहा—'मित्र! मैं आपसे गाढ़ी मित्रता चाहता हूँ। आप मुझसे सदा सौहार्द्र रखें। इसके अतिरिक्त मुझे कुछ भी नहीं चाहिए।' अपने पिता सूर्य को साक्षी करके उसने दुर्योधन से मैत्री निभाने की प्रतिज्ञा की और धृतराष्ट्र के पुत्रों को आनंदित किया।

इतने में ही समाचार सुनकर कर्ण के धर्मपिता बूढ़े अधिरथ लाठी टेकते हुए रंगभूमि में आ उपस्थित हुए। अपने पुत्र को उन्होंने राज्य-सिंहासन पर बैठे देखा। उसके दोनों ओर चँवर

बज रहे थे। ऊपर श्वेत छत्र लगा था। बहुमूल्य रत्न-जटित मुकुट के कारण वह सूर्य के समान दिखाई दे रहा था। अभिषेक के मंत्रों के जल से उसका सिर और मुकुट भीगा हुआ था। अपने पिता को देख कर कर्ण जल्दी से आसन से उठ खड़ा हुआ। उसने अपने भागे मस्तक को किरीट सहित अधिरथ के चरणों में रख दिया। अत्यन्त स्नेह से कर्ण का माथा सूंघकर पिता ने उसे छाती से लगा लिया। उसके रोम रोम खिल उठे और मारे प्रसन्नता के उसकी आँखों से प्रेमाश्रु बहने लगे।

भीम को अब अच्छा अवसर मिला। उसने कर्ण की हँसी उड़ाते हुए सब को सुना कर कहना आरम्भ किया—अरे! यह तो सूतपुत्र है। इसकी ऐसी हिम्मत कि यह क्षत्रियों से द्वन्द्व युद्ध करे! क्या सूअर का बच्चा गज बालक से लड़ सकता है? क्या सियार का बच्चा सिंह के सामने खड़ा हो सकता है! यज्ञ के पुरोडाश को क्या कौआ जूठा कर सकता है! कुत्ता कभी भेड़िये से लड़ सकता है! देखो! इस मंद बुद्धि वाले नीच सूत-पुत्र का दुस्साहस! हमसे द्वन्द्व युद्ध करने चला है।"

कर्ण ने सब कुछ सुना किन्तु उसने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वह अपने पिता सूर्य की ओर टेढ़ी दृष्टि से देखने लगा। दुर्योधन को ये बातें बहुत ही असह्य जान पड़ीं। उसने कहा—'भीम! तू ऐसे बढ़-चढ़ कर बातें क्यों कर रहा है? अरे, कोई और कहता तो बात भी ठीक थी। तुम्हारी जैसे उत्पत्ति हुई है, उसे सबके सामने यहाँ क्यों कहलाते हो? कर्ण राजा हैं और वे राजसिंहासन पर तुम्हारे सामने ही बैठे हैं। जिन्हें यह बात न मंजूर हो उनके सिर पर हम पैर रखते हैं और उसे युद्ध के लिये ललकारते हैं।'

इस बात से जनता में बड़ा कोलाहल मच गया। जनता का अधिक झुकाव कर्ण की ही ओर था। लोग दुर्योधन की प्रशंसा करने लगे। बहुत से लोग कर्ण के कौशल का बखान करने लगे। बात को बहुत बढ़ती देखकर आचार्य द्रोण ने कहा—'अब सूर्यास्त का समय हो गया है। सब कुमार अपना अस्त्र कौशल भी दिखा चुके हैं। अतः अब मैं आज के इस उत्सव को समाप्त करता हूँ।'

इतना सुनते ही सब अपने-अपने आसनोंसे उठ खड़े हुए। सेवकों ने मसालें जला दीं। भीड़ इधर-उधर कई भागों में बट गई। सब के मुख पर कर्ण की वीरता की ही कहानी थी। सभी ने अनुभव किया कि यदि आज लड़ाई होती तो निश्चय ही कर्ण अर्जुन को परास्त कर देता। अब तक धर्मराज युद्धिष्ठिर को भी यही विश्वास था कि मेरा भाई अर्जुन संसार में अद्वितीय धनुर्धर है। आचार्य द्रोण भी बार-बार यही कहते थे कि अर्जुन के बराबर संसार में कोई शूरवीर नहीं। धर्मराज इन बातों को सुन कर प्रसन्न होते। उन्हें अपने छोटे भाई के ऐसे बल-पौरूष पर गर्व था। आज उन्हें विश्वास हो गया कि कर्ण के आगे अर्जुन कुछ भी नहीं है। संसार में कर्ण से बढ़कर शूरवीर दूसरा कोई है ही नहीं।'

युधिष्ठिरस्याप्यभवत् तदा मति-
र्न कर्णतुल्योऽस्ति धनुर्धरः क्षितौ॥

—:०:—

कर्ण का परशुराम जी से ब्रह्मास्त्र प्राप्त करना और विप्रशाप

येन विस्पर्धसे नित्यं यदर्थं घटसेऽनिशम्।
युध्यतस्तेन ते पापभूमिश्चक्रं ग्रसिष्यति॥
ततश्चक्रे महीग्रस्ते मूर्धानं ते विचेतसः।
पातयिष्यति विक्रम्य शत्रुर्गच्छ नराधम॥*

(शा० प० २।२४,२५)

अपने प्रतिस्पर्धी में जो गुण होते हैं वे भी मनुष्य को अखरने लगते हैं और उसकी आंतरिक अभिलाषा होती है कि यह भी गुण किसी तरह मुझमें आजाय। जिस कारण से प्रतिस्पर्धी बढ़ता है, जिस विद्या में वह निपुण है उस विद्या को प्राप्त करने को मनुष्य लालायित रहता है।

कर्ण ने देखा—अर्जुन से और सब बातों में तो वह बढ़चढ़ कर है, किन्तु जो सब अस्त्रों में श्रेष्ठ है, जो कभी विफल नहीं जाता, जिसे साधारण तेज वाला मनुष्य धारण नहीं कर सकता, वह ब्रह्मास्त्र उसके पास नहीं है। किसी तरह ब्रह्मास्त्र भी उसके पास आजाय तो समस्त संसार उसे नहीं जीत सकता। उसे इस बात

---

* ब्राह्मण ने कर्ण को शाप देते हुए कहा—"तू नित्य जिससे स्पर्धा रखता है। जिसके लिये रात्रि दिन श्रम करता है, जिस समय तू उससे युद्ध करेगा तब तेरे रथ के चक्र को पृथ्वी ग्रस लेगी। पृथ्वी जब चक्र को ग्रस लेगी उसी समय तेरी असावधानी में तेरा शत्रु तेरे सिर को बलपूर्वक काट लेगा। हे नीच! तू मेरे आश्रम से अभी चला जा।"

का संदेह था कि आचार्य उसे ब्रह्मास्त्र देंगे। उसे इस बात का विश्वास था कि आचार्य का अर्जुन के प्रति अत्यधिक पक्षपात है। अर्जुन से बढ़कर कोई अस्त्र विद्या में निपुण हो जाय इस बात को द्रोणाचार्य सहन नहीं कर सकते। फिर भी उनसे प्रार्थना करूँ, देखें वे क्या उत्तर देते हैं ? न देंगे तो मना ही कर देंगे। अपना बिगड़ता ही क्या है ? यही सब बातें सोचकर वह द्रोणाचार्य के पास एकान्त में गया। आचार्य को प्रणाम करके उसने कहा—"भगवन् ! मैं एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण बात आपके सम्मुख निवेदन करना चाहता हूँ, यदि आप उसे स्वीकार करें तो ?"

आचार्य ने स्नेह के साथ कहा—"कहो भैया, क्या कहना है ? तुम्हारी कोई बात मैं टाल थोड़े ही सकता हूँ।"

कर्ण ने अत्यन्त ही विनीत भाव से कहा—"गुरुवर ! आपके लिये सभी शिष्य समान हैं। यह ठीक है कि जो योग्य शिष्य अथवा पुत्र होता है उस पर आचार्य का अथवा पिता का औरों की अपेक्षा अधिक अनुराग होता है। फिर भी आचार्य और पिता के लिये सभी शिष्य और पुत्र एक से ही हैं। प्रार्थना करने पर गुरुजन अपने आश्रितों की मनोकामना को पूर्ण करते ही हैं। मेरी हार्दिक इच्छा है कि आप मुझे ब्रह्मास्त्र का उपदेश करें। इसके लिये जो व्रत, अनुष्ठान तपश्चर्या आप मुझे बतावेंगे वहीं मैं करने को तैयार हूँ। सब प्रकार से मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। उसमें तनिक सी भी त्रुटि न आने पावेगी।"

आचार्य तो चतुर थे। वे समझ गये कि "यह अर्जुन से प्रतिस्पर्धा रखता है और उसे ही हराने के लिये यह सब

षडयन्त्र रच रहा है। यह जन्म जात वीर है। संसार में अब भी इसे कोई परास्त नहीं कर सकता। फिर ब्रह्मास्त्र पाकर तो यह त्रैलोक्य में अजेय हो जायगा। सारा संसार मिलकर भी इसे न जीत सकेगा।' यही सब सोच समझकर वे ऊपर से प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—'भैया, तुम जो कहते हो, वह सच है। मेरे लिये तुम सभी शिष्य समान हो। यही नहीं, शूर-वीर होने के कारण मेरा तुम्हारे प्रति अनुराग भी है, किन्तु ब्रह्मास्त्र को सब नहीं धारण कर सकते। उसे या तो दुर्धर्ष तेज वाले तपस्वी ब्राह्मण ही धारण कर सकते हैं या परम पराक्रमी कुलीन क्षत्रिय ही धारण कर सकते हैं। अतः मैं उसे तुम्हें कैसे सिखला सकता हूँ। इसी बात से विवशता है, नहीं तो मैं सिखाने को तैयार था।'

कर्ण का चेहरा फक पड़ गया। आचार्य ने ऐसा मर्मभेदी प्रहार किया था कि उसके सामने कर्ण कुछ उत्तर दे ही नहीं सकता था। मन ही मन उसे बड़ी आत्म-ग्लानि हुई। उसका सिर नीचा हो गया और लज्जित होकर आचार्य को प्रणाम करके वह बिना कुछ कहे ही वहाँ से चला गया। उसे ऐसा अनुभव हुआ कि संसार में गुणग्राही लोगों का अभाव है। सभी स्वार्थी, पक्षपात-पूर्ण और ईर्ष्यालु हैं। फिर भी ब्रह्मास्त्र प्राप्त करने की उसकी अभिलाषा कम न हुई। प्रत्युत, आचार्य के इस उत्तर पाने से वह उत्तरोत्तर बढ़ती गई।

मनुष्य जब सब ओर से हार जाता है, जब उसे चारों ओर निराशापूर्ण अंधकार ही अंधकार दिखाई देता है तब वह सत्य से विचलित हो जाता है। उस समय वह सोचने लगता है कि थोड़ा अनुचित कार्य करके भी असत्य बोलने पर यदि

मेरा यह कार्य सिद्ध हो जाता है तो थोड़ा-सा असत्य बोलने में क्या हानि है ? उस समय वह सत्य से विचलित हो जाता है। वह यह नहीं समझता कि असत्य से उपार्जित. वस्तु क्षण भर के ही लिये मन को सुखकर प्रतीत होती है, परिणाम में तो वह दुखप्रद ही है। विजय सदा सत्य की ही होती है। कर्ण ने भी सोचा—'यदि ब्रह्मास्त्र प्राप्त करने में मेरा यह सूत पुत्र होना ही कंटक है, तो इसे छिपाकर मैं ब्रह्मास्त्र क्यों न प्राप्त कर लूँ ? द्रोणाचार्य नहीं सिखाते तो न सही। द्रोणाचार्य ने भी जिससे सीखा है, उन भगवान परशुराम की शरण में मैं क्यों न चलूँ ? उन महापराक्रमी ब्राह्मण को मैं अपनी सेवा से सन्तुष्ट करूँगा और उनसे ब्रह्मास्त्र प्राप्त कर लूँगा।' यही सोच-कर वह बिना किसी को बताये महेन्द्र पर्वत पर भगवान परशुराम के पास चला गया। वहाँ जाकर उसने परशुराम जी के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया और बहुत ही विनीत भाव से बोला—'भगवन् ! मैं भृगुवंशी ब्राह्मण हूँ। आपके चरणों में रह कर मैं ब्रह्मास्त्र तथा अन्यान्य अस्त्र-शस्त्रों का ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ। यदि आपकी कृपा हो और आप मुझे योग्य समझें तो अपने चरणों में आश्रय प्रदान करें।'

कर्ण के रूप, तेज, शील, सदाचार और नम्रता आदि गुणों को देखकर भगवान परशुराम अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने उसका गोत्र, प्रवर, शाखा आदि सब पूछकर अपने पास रहने की आज्ञा दे दी। कर्ण बड़ी सावधानी से वहाँ रहकर परशुराम जी की सेवा करने लगा। वह किसी भी बात में तनिक भी प्रमाद नहीं करता। हर प्रकार से गुरु की सेवा में रत रहता। परशुराम जी उसकी सेवा से अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। उन्होंने उसे प्रयोग, संहार, उप-संहार समेत

ब्रह्मास्त्र को सिखा दिया। ब्रह्मास्त्र को पाकर उसे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। अपनी बाण-विद्या को दृढ़ करने के लिये और संसार में अद्वितीय धनुर्धर बनने के लिये वह घोर परिश्रम करने लगा। वह जंगल में बहुत दूर घोर एकान्त में चला जाता और वहाँ बाण-विद्या का अभ्यास करता रहता। इसके इस पराक्रम से परशुराम जी के समीप आने वाले यक्ष राक्षस, गंधर्व, गुह्यक और देवता भी विस्मित हो जाते और उससे तरह तरह की बातें करते। इस कारण उन सब देव और उपदेवों से उसका मेल-जोल हो गया। उसने परिश्रम तो यथासाध्य खूब किया, किन्तु भाग्य को कैसे मेंट सकता था। दैवी विपत्ति पुरुषार्थ से नहीं हटाई जा सकती। उससे तो भोगने पर ही छुटकारा होगा। हम करना चाहते हैं कुछ, होता है कुछ। इसी का नाम भाग्य-चक्र है। भाग्य-चक्र पासे के समान है। पासे हमारे हाथ से ही छूटते हैं। किन्तु जो दाव हम नहीं चाहते वह आ जाते हैं। जिन्हें चाहते हैं, वे नहीं आते। इसी तरह कर्म हम अपनी इंद्रियों तथा बुद्धि की ही सहायता से करते हैं। कर्म करने में हम स्वतंत्र से ही दिखाई पड़ते हैं, किन्तु भाग्यवशात और से और हो जाता है। जो काम हम सुख की इच्छा से करते हैं, वही दुख का कारण बन जाता है। इसी से भगवान ने कहा है 'गहना कर्मणोगति'। बलि कब चाहते थे कि वे बाँधे जायँ। वे निरंतर शुभ ही काम कर रहे थे। उनकी इच्छा न रहने पर भी वे बाँधे गये। हरिश्चन्द्र ने कोई बुरा काम नहीं किया था। उनकी इच्छा नहीं थी कि वे श्वपच के घर नौकरी करें; किन्तु यज्ञ करने वाले, दानी, यशस्वी, चक्रवर्ती होने पर उन्हें भी डोम का दासत्व करना पड़ा। नृग तो दानी थे। वे तो अपने दान से स्वर्ग को जीत लेना चाहते थे। उनकी कब

इच्छा थी कि वे गिरगिट बनें; किन्तु इच्छा न होने पर भी उन्हें गिरगिट योनि भोगनी पड़ी। एक नहीं लाखों, करोड़ों, असंख्यों उदाहरण हैं। दूर क्यों जायें, हम रोज ही अपने जीवन में देखते हैं कि जो हम करना चाहते हैं, वह नहीं होता। जिसकी हमें स्वप्न में भी संभावना नहीं, जिसे हम चाहते नहीं वह अकस्मात् ही हो जाता है। अनिच्छा होने पर भी हमें भोगना पड़ता है। इसे भाग्य, इसे प्रारब्ध, दैवगति न कहें तो और क्या कहें ?

कर्ण एक दिन ऐसे ही अस्त्र चला रहे थे। उनके अनजान में बिना देखे एक ब्राह्मण के अग्निहोत्र की गौ का बच्चा उनके बाण से मर गया। कर्ण बड़े दयालु थे। गौ और ब्राह्मणों के तो वे अनन्य भक्त थे। ब्राह्मणों के लिये और गौओं की रक्षा के लिये वे अपने प्राणों को भी निछावर कर सकते थे, फिर वे जान बूझ कर गौ के बच्चे को क्यों मारते ? दैवयोग से बाण उस बच्चे के लग गया और उसका प्राणान्त हो गया। यह जानकर उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ और वे अत्यन्त ही दुखी हो गये। जिन ब्राह्मण की गौ का वह बच्चा था उन्हें जब पता चला तो वे अत्यन्त ही कुपित हुए। उन्होंने कर्ण को शाप देते हुए कहा—'अरे, दुष्ट तैंने यह बहुत अनुचित कार्य किया है । इस अपराध का तो यही दंड था कि तुझे भी इसी तरह मार दिया जाता। किन्तु मैं ब्राह्मण हूँ; मैं धनुष बाण धारण नहीं करता। मैं तुझे शाप देता हूँ कि जिससे तू इतनी लाग डाट रखता है; जिसे परास्त करने के लिये तू सदा प्रयत्न करता रहता है; जिसे तू मारना चाहता है वही तुझे रणभूमि में मार डालेगा। घोर युद्ध के समय पृथ्वी तेरे रथ क पहिये को ग्रस लेगी। जैसे असावधानी में तैंने मेरे गौ-वत्स को मार डाला है, उसी भाँति असावधानी

में तेरा शत्रु तेरा सिर काट डालेगा। तू गौ हत्यारा, नीच और पराजित होने योग्य है। इसी समय तू मेरे यहाँ से चला जा।"

कर्ण ने ब्राह्मण का शाप सुनकर बड़ी नम्रता से, भाँति-भाँति की विनय करके ब्राह्मण को प्रसन्न करना चाहा। उसने अपनी असावधानी बताई। हजार, लाख, करोड़ गौओं के देने का वचन दिया। अपना समस्त धन, ऐश्वर्य, राज्य-पाट ब्राह्मण के चरणों में समर्पित करना चाहा; किन्तु दैव की गति को कौन टाल सकता है? विधाता के वाक्यों को कौन अन्यथा कर सकता है? होनहार को कौन मेंट सकता है? जो ब्राह्मण क्षणाध मन्यु और प्रणाम करने मात्र से ही प्रसन्न होन वाले बताये जाते हैं, कर्ण के भाग्य से नाना प्रकार की स्तुति करने पर भी वे ब्राह्मण देवता प्रसन्न नहीं हुए। उन्होंने अत्यंत ही क्रोध के साथ कहा—"तू भले ही जीवन भर मेरे यहाँ गिड़गिड़ाता रहे; भले ही तू यहाँ नाक रगड़-रगड़ कर मर जा, मैंने जो कुछ कह दिया है, वह अन्यथा नहीं होने का। मैंने हँसी में भी कभी झूठ नहीं बोला। मेरा शाप नहीं टल सकता। न मैं उसे लौटा ही सकता हूँ, तू चाहे यहाँ बैठा रह या चला जा। अब मुझसे कुछ भी मत कहना।"

कर्ण उदास मन से अपने आश्रम को लौट आये। उन्हें अपने कम पर बड़ा पश्चाताप हुआ। उन्होंने सोच लिया, भाग्य ही बलवान है। मनुष्य का सोचा सब कुछ हो जाता तो संसार में आज कोई भी निर्धन, रोगी, दुखी और वृद्ध दिखाई न देता, क्योंकि जान बूझकर निधनता, रोग, दुख और वृद्धता को कौन चाहता है? न चाहने पर भी जैसे ये आही जाती हैं; वैसे ही न चाहने पर भी मुझे शाप मिला। अच्छा जैसी प्रभु की इच्छा।



कर्ण को परशुराम जी का शाप

यस्मान्मिथ्योपचरितो ह्यस्त्रलोभादिहत्वया।
तस्मादेतन्नते मूढ़ ब्रह्मास्त्रं प्रतिभास्यति ॥*

(शां० प० ३।३०)

नीति का एक वचन है, 'जहाँ चोट लगी होती है, फिर-फिर वहीं चोट लगा करती है।' जब तक घर में खूब अन्न भरा रहता है, तब तक भूख नहीं लगती। अन्न क्षय हो जाने पर बार-बार भूख लगती है। विपत्ति के ऊपर विपत्ति आती है। जब दैव प्रतिकूल होता है तब सोना पकड़ने पर मिट्टी हो जाता है।

कर्ण के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हुआ। उसने सोचा तो यह था कि अपनी शक्ति लगाकर, अपने सम्पूर्ण शारीरिक सुखों का त्याग करके, दिन-रात्रि, सर्दी-गर्मी, सुख-दुख की परवाह न करके वह अपने गुरुदेव को प्रसन्न कर लेगा। उन्होंने किया भी ऐसा ही। अपने बहते हुये रक्त की भी गुरु सेवा के समय परवाह नहीं की, किन्तु उसका परिणाम उलटा ही हुआ। गुरु उनकी ऐसी दारुण सेवा से प्रसन्न न होकर क्रुध ही हुए। इन्द्र तो उनके पीछे लगा था। इन्द्र को तो यह असह्य था कि कर्ण मेरे पुत्र अर्जुन को युद्ध में किसी तरह हरा सके। देवताओं के राजा होने पर भी इन्द्र नमक-सत्तू बाँधकर कर्ण के

---

*परशुराम जी ने शाप देते हुए कर्ण से कहा—"रे मूढ़! तूने ब्रह्मास्त्र के लोभ से मुझसे झूठ बोला इसलिये मृत्यु के समय तुझे ब्रह्मास्त्र याद न रहेगा। उस समय तू भूल जायगा।"

पीछे पड़े थे। वे तो सर्वदा कर्ण के छिद्रों को ही देखते रहते थे। यदि इन्द्र इतना पश्चाताप न करते तो संसार में कर्ण को कौन मार सकता था? उस सूर्य पुत्र के सामने कौन ठहर सकता था? महेन्द्र पर्वत पर जो कुछ घटनायें हुईं उसमें सब इन्द्र का ही षडयन्त्र था। मायावी इन्द्र ने ही कर्ण को शाप दिलवाया। कर्ण के लिये यही क्या कम बड़ाई की बात है कि इन्द्र सामने लड़कर कर्ण को परास्त न कर सके। उन्हें परास्त करने के लिये देवराज को छिपाकर, वेश बदल कर, माया का आश्रय लेना पड़ा। इससे उनकी बदनामी हुई और कर्ण की ख्याति बढ़ गई।

कर्ण सदा अपने आचार्य भगवान परशुराम की सेवा में सावधान रहते। जहाँ वे जाते, उनके संग जाते। जिस काम से उन्हें सुख होता उसे वे करते और सदा उनकी सेवा में तत्पर रहते। परशुराम जी का कर्ण के ऊपर अत्याधिक प्रेम हो गया। वे उनके परम विश्वासपात्र शिष्य बन गये। एक दिन परशुराम जी अपने प्रिय शिष्य कर्ण के साथ जंगल में घूम रहे थे। निरंतर तपस्या करते-करते उनका शरीर क्षीण होगया था। वे दैवयोग से मार्ग में थक गये। गर्मी अधिक थी। एक सुन्दर वृक्ष की सघन शीतल छाया में वे बैठ गये। अपने परम विश्वास-पात्र स्नेही शिष्य की जंघा पर सिर रखकर वे सो गये।

इतने ही में इन्द्र की प्रेरणा से एक अलक नाम का कीड़ा धीरे-धीरे कर्ण की जंघा में चिपट गया। उसके ८ पैर थे। सम्पूर्ण शरीर में चुभने वाले कांटे जैसे बाल थे। रक्त मांस का खाने वाला वह विषधरष्ट्रः तीक्ष्ण कीड़ा

चुपचाप कर्ण के रक्त को पीने लगा। उसने अपने आठों पैर कर्ण के मांस में गाड़ दिये। कर्ण को तब मालूम पड़ा जब वह भलीभाँति उसकी जंघा से चिपट गया। अब कर्ण बड़े असमंजस में पड़े। कीड़े के काटने से उनकी जंघा में असह्य वेदना हो रही थी। यदि इस समय वे कीड़े को छुड़ाते हैं, तो पैर हिलने से गुरुदेव जाग उठेंगे। उनकी निद्रा में विघ्न पड़ेगा। यह सेवक-धर्म के सर्वथा विपरीत है। नहीं छुड़ाता हूँ तो यह पता नहीं कब तक चिपटा रहेगा। कुछ भी हो, कर्ण ने गुरु की निद्रा को भंग करना नहीं चाहा। उनकी निद्रा में आघात न हो इस कारण वह समस्त वेदना को बड़े साहस से सहन करते रहे। उस भयंकर पीड़ा को अविचल भाव से बिना जंघा को हिलाये-डुलाये चुपचाप सहते हुए बैठे रहे।

वह कीड़ा तो इन्द्र की प्रेरणा से आया था। खूब रक्त पीकर जब वह मोटा हो गया और फूल गया तब रक्त जंघा से नीचे बहने बहने लगा। रक्त की शीतलता और गुल-गुलाहट शरीर में लगते ही भगवान परशुराम जाग उठे। उठते ही उन्होंने अपने हाथ को पीठ पर लगाया। उनका हाथ रक्त से सन गया। अत्यन्त आश्चर्य चकित होकर परशुरामजी ने पूछा—'क्यों भाई! यह रक्त कहाँ से आया? मेरा शरीर रक्त से अशुद्ध किसने कर दिया? तुम इसका ठीक ठीक कारण बताओ?'

हाथ जोड़े हुए वेदना और भय से काँपते हुए कर्ण ने कहा—'प्रभो! यह इस कीड़े की करतूत है? इसमें मेरा कुछ भी अपराध नहीं।' यह कह कर कर्ण ने उस ८ पैर वाले भयंकर अलर्क कीड़े को दिखा दिया।

रक्त पीकर मोटे हुए उस काले कीड़े को ज्यों ही क्रोध-पूर्वक

परशुराम जी ने देखा त्यों ही वह गर कर जमीन में गिर पड़ा। उसी समय आकाश में एक राक्षस दिखाई पड़ा। परशुराम जी के पूछने पर उसने बताया—"पहिले मैं एकदंस नाम का राक्षस था। आपके पितामह भगवान भृगु की पत्नी को मैंने हरा था। उन्हीं के शाप से मुझे कीट योनि प्राप्त हुई। अन्त में प्रसन्न होकर उन्होंने यह भी कह दिया था कि हमारे वंश में उत्पन्न परशुराम जी के द्वारा तुम इस शाप से मुक्त हो जाओगे। इसीलिये आज मैं इस शाप से मुक्त हुआ। अब मैं अपने निर्दिष्ट स्थान को जाना चाहता हूं।" यह कहकर और परशुराम जी को प्रणाम करके वह राक्षस चला गया।

कर्ण के इस साहस से, ऐसी गुरुभक्ति से, इस प्रकार के त्याग से परशुराम जी को प्रसन्न होना चाहिये था। किन्तु दैव की गति को कौन जान सकता है। यह सब तो इन्द्र की माया थी। भगवान परशुराम जी को संदेह हुआ। कर्ण की इस सहनशीलता ने उनके हृदय पर बड़ा प्रभाव डाला। वे कर्ण को डांट कर पूछने लगे—"तुम ठीक ठीक बताओ, कौन हो? ब्राह्मण इतना कष्ट सहिष्णु कभी हो ही नहीं सकता। वह कभी इतनी असह्य वेदना सहन ही नहीं कर सकता। यह तो क्षत्रिय का ही साहस है। तुम किस जाति में उत्पन्न हुये हो?"

कर्ण पर तो मानों एक साथ विजली टूट पड़ी। डर के कारण वह थर-थर काँपने लगा। उसने सोचा, "इस कीड़े की तरह मेरी भी अब मृत्यु होने वाली है। उसने अत्यंत ही विनीत भाव से डरते-डरते कहा—"प्रभो! मेरा अपराध क्षमा हो। ब्रह्मास्त्र सीखने के लोभ से ही मैंने असत्य बात कही। मैं शुद्ध ब्राह्मण नहीं हूँ। ब्राह्मणी के गर्भ से क्षत्रिय के वीर्य से जिस

सूत जाति की उत्पत्ति हुई है उसी सूति जाति में मेरा जन्म हुआ है। मैं सूतराज अधिरथ का पुत्र, राधे का तनय राधेय वसुषेण हूँ। गुरु धर्म पिता का ही होता है, इसीलिये मैंने अपने को भृगुवंशी कहा था। यद्यपि मैंने झूठ बोला था। किन्तु आप मेरे पिता तो हैं ही।" इतना कहकर कर्ण चुप हो गया।

परशुरामजी ने थोड़ी देर तक गंभीरता पूर्वक विचार किया, फिर बोले—"तुमने बहुत बड़ा अपराध किया है। इसके लिये मैं तुम्हें बहुत बड़ा शाप तो नहीं देता; किन्तु इतना ही कहता हूँ कि अपने समान योधा से जब तू युद्ध करेगा तो मृत्यु के समय अंत में तुझे यह अस्त्र भूल जायगा। अब तू मेरे यहाँ से चला जा। यहाँ झूठ बोलने वालों का काम नहीं।"

यह सुनकर कर्ण के जान में जान आई। प्राण बचे, यही बहुत हुआ। वह परशुरामजी को प्रणाम करके अपने भाग्य को कोसता हुआ हस्तिनापुर में आ गया।



कर्ण का पराक्रम

सिद्धोऽपि चारयादिशः शरवर्षं समन्ततः ।
अशक्यस्त्वद्य जेतुं स्रवद्भिर्मांस शोणितम् ॥*
(द्रो० प० १८०।२९)

वीर की वीरता को सच्चा वीर ही जान सकता है। शत्रु की वीरता को देखकर जो प्रसन्न हो वही यथार्थ वीर है। कर्ण ऐसे ही वीर थे। वे उस समय के बड़े-बड़े वीरों द्वारा सम्मानित थे। उस समय उनकी बराबरी करने वाला भारत में कोई नहीं था। उनकी वीरता की सर्वत्र ख्याति थी। समस्त राजा उनके नाम से डरते थे।

उन दिनों जरासन्ध बड़ा प्रतापशाली वीर था। उसने हजारों राजाओं को बन्दी बना कर कारावास में डाल रखा था। उसे अपने बल का बड़ा अभिमान था। १७ बार उसने यदुवंशियों पर चढ़ाई की। भगवान् कृष्णचन्द्र जी ने उसे १७ बार भगाया भी, फिर भी वह अभिमानी वीर चुपचाप नहीं बैठा। उसने हिम्मत नहीं हारी। अठारहवीं बार लोक-शिक्षा के निमित्त मनुष्य लीला

---

*श्रीकृष्ण कहते हैं—'कर्ण इतना बली है कि मनुष्यों की तो कौन कहे, समस्त देवता मिलकर चारों ओर से घेर कर इनसे युद्ध करें तो इनके बाणों से घायल होकर उनके शरीर से मांस कटकर और रक्त की धारायें भले ही बहने लगें, किन्तु कर्ण का बाल भी बांका न होगा। इसे वे रण में जीत ही न सकेंगे।'

दिखाते हुए भगवान् उससे डर कर मथुरा छोड़कर भाग गये। इसी से उनका नाम रणछोड़ पड़ा। तब से उसका अभिमान बहुत बढ़ गया था। उसमें बल भी अपार था। जिसने हज़ारों राजाओं को पशुओं की तरह अपने कारावास में बंद कर रखा हो, वह साधारण वीर थोड़े ही हो सकता है। उसकी वीरता का अनुमान तो इसी से लगा लेना चाहिये कि भगवान ने उसे मारने के लिये छल का आश्रय लिया। उन्होंने स्पष्ट कह दिया 'इससे युद्ध में कोई पार नहीं पा सकता।'

जब जरासन्ध ने कर्ण की प्रशंसा सुनी तब उसने इन्हें द्वन्द युद्ध के लिये बुलाया। द्वन्द युद्ध का निमंत्रण पाते ही कर्ण बड़े उत्साह से जरासन्ध की राजधानी में गया। दोनों में घोर युद्ध हुआ। दोनों ही समान बलशाली वीर थे। दोनों की युवावस्था थी। दोनों ही अपने को अपराजित समझते थे। अन्त में कर्ण ने जरासन्ध के उस स्थान पर प्रहार किया जिसे जरा नाम की राक्षसी ने जोड़ा था। उस पर प्रहार होते ही जरासन्ध काँपने लगा। उसे प्रतीत होने लगा कि अब उसके शरीर के दो टुकड़े होना चाहते हैं। झट उसने कर्ण से सन्धि कर ली और बोला—'सचमुच तुम वीर हो मैं तुम्हारी वीरता से प्रसन्न होकर तुम्हें मालिनी नाम की नगरी देता हूँ।' पहिले कर्ण अंगदेश की राजधानी चम्पानगरी के ही राजा थे, अब मालिनी के भी राजा हुए। इस प्रकार जरासन्ध से सम्मानित होकर वे अपने हस्तिनापुर लौट आये।

उनकी समस्त राजाओं पर धाक थी। एक बार कलिङ्गदेश की राजधानी राजपुर में वहाँ के राजा की कन्या का स्वयंवर था। देश देश के राजे महाराजे उस स्वयंवर में आये थे। दुर्योधन भी विवाह की इच्छा से कर्ण आदि वीरों को साथ लेकर स्वयंवर में

गया। जयमाला लेकर जब कुमारी सब राजाओं को देखती हुई आगे बढ़ने लगी और दुर्योधन को भी देखकर जब वह आगे चली तो दुर्योधन को बड़ा क्रोध आया। उसने बलपूर्वक कन्या को पकड़ कर रथ में बिठा लिया और सब राजाओं के देखते ही उसे लेकर चल दिया। इससे सब राजाओं ने अपना बड़ा अपमान समझा। सभी मिलकर दुर्योधन से लड़ने और कन्या को छीनने चले। यह देखकर धनुष बाण लेकर कर्ण दुर्योधन की रक्षा के लिये खड़े हुए। समस्त राजाओं ने एक साथ ही कर्ण पर प्रहार किया। किन्तु वह वीर तनिक भी विचलित नहीं हुआ। अपने तीक्ष्ण और चोखे बाणों से सभी के बाणों को विफल बना दिया। किसी के रथ की ध्वजा काट दी, किसी के घोड़ों को मार दिया, किसी के सारथी का सिर धड़ से अलग कर दिया। इस प्रकार सब के वाहनों को विकृत करके उन्होंने सभी राजाओं को घायल किया। कर्ण की ऐसी अस्त्र चातुरी देखकर सभी राजा डरकर संग्राम से भाग गये। दुर्योधन सकुशल कलिंगराज की कन्या को साथ लेकर हस्तिनापुर आ गया और उसने उससे विधिवत् विवाह कर लिया। इस प्रकार कर्ण की सहायता से दुर्योधन समस्त राजाओं के सिर पर पैर रख कर कन्या को छीन लाया।

कर्ण के ऐसे अमानुषिक बल को देखकर दुर्योधन को विश्वास हो गया कि अब संसार में मेरा सामना कोई नहीं कर सकता। मैं ही संसार में एक छत्र महाराजा रहूँगा। मेरा राज्य कर्ण के कारण निष्कंटक रहेगा। बात भी ठीक ही थी। जब तक कर्ण रहे, दुर्योधन का कोई बाल भी बाँका नहीं कर सका। तब तक दुर्योधन समस्त राजाओं से पूजित होकर चक्रवर्ती महाराज बना रहा। कर्ण के धराशायी होते ही उसका समस्त

साहस जाता रहा और रण छोड़कर कायरों की भाँति भागकर जल में जा छिपा। कर्ण स्वयं सम्राट नहीं थे, किन्तु सम्राटों के निर्माता थे। वे अद्वितोय वीर थे। उनकी वीरता के सामने मनुष्यों ने ही नहीं देवताओं और देवताओं के राजा इन्द्र ने भी लोहा माना था। उनकी बराबरी किसी ने की ही नहीं। अकेले ही वे दिग्विजय कर लाये; क्योंकि वे साक्षात् सूर्यदेव के पुत्र थे। दिव्य कवच-कुण्डल पहिने ही वे उत्पन्न हुए थे। किन्तु अपनी उदारता से और इन्द्र के षडयन्त्र से उन्होंने अपने अमृतमय दिव्य कवच-कुण्डल खोकर जीवन दे दिया और उसके बदले में कभी भी नष्ट न होनेवाला निर्मल यश प्राप्त कर लिया।



द्रौपदी स्वयंवर में अपमानित

दृष्ट्वा तुतं द्रौपदी वाक्यमुच्चैर्जगादनाहं वरयामिसूतम् ।
सामर्षहासं प्रसमीक्ष्य सूर्यं तत्याज कर्णः स्फुरितधनुस्तत् ॥*
(आ० प० १८६-२३)

बाण का घाव कालांतर में पुर जाता है। अस्त्र-शस्त्रों की चोट समय पाकर अच्छी हो जाती है; किन्तु वाक्-बाण से हुआ घाव कभी पुरता नहीं। वह सदा एक सा बना रहता है। अपने समान पुरुषों में अपमानित होना सब से बड़ा दुःख है। वे वीतरागी, संसार-त्यागी, रागद्वेष से शून्य महात्मा धन्य हैं, जिन्हें न मान की इच्छा है न अपमान की चिन्ता, मानापमान में जिनके चित्त की वृत्ति समान रहती है; किन्तु सभी तो महात्मा नहीं हो सकते। संसारी लोगों के लिये तो मान ही सबसे श्रेष्ठ धन है 'मानो हि महतां धनम्'।

यह तो हम पहले ही बता चुके हैं कि दुर्योधन पांडवों से सदा जलता था। वह हर प्रकार से पांडवों को मारने पर उतारू था, किन्तु प्रजा के भय से और धृतराष्ट्र के संकोच से वह खुल कर स्पष्ट ऐसा नहीं कर सकता था। अपने मंत्रियों की सम्मति से

---

* द्रौपदी ने जब कर्ण को लक्ष्य भेद करने के लिये उद्यत देखा तो उसने खड़े होकर जोर से कहा—'मैं सूतपूत के साथ विवाह नहीं करूंगी।' द्रौपदी की बात सुनकर क्रोध से सूखी हँसी हँस कर भगवान् सूर्य की ओर देखते हुए उस तेजस्वी धनुष को कर्ण ने पृथ्वी पर रख दिया।

उसने अपने राज्य की सीमा पर वारणावत नगर में एक धातु गृह निर्माण कराया। वह घर लाख, सन, घी, तैल, मोम ऐसी शीघ्र जलनेवाली वस्तुओं से बनवाया गया था। उसकी इच्छा थी कि पांडवों को प्रेमपूर्वक वहाँ भेज दे और कुछ दिन सत्कार से वहाँ रहने के लिये उनका प्रवन्ध करें। जब वे सो रहे हों तो किसी से उस घर में आग लगवादे। इससे हमारी अपकीर्ति भी न होगी और हमारे शत्रु सहज में ही मारे जांयगे। साँप भी मरेगा, लाठी भी न टूटेगी। काम का काम बनेगा और अपयश से भी बचे रहेंगे। यही सब समझ सोच कर उसने ऐसा घर बनवा कर कुन्ती सहित पाँचो पांडवों को धृतराष्ट्र की सम्मति से वारणावत में भेज दिया। जब पांडव उसमें थे तभी उस घर में आग लगवाने की बात वह सोच रहा था, किन्तु विदुर जी की बुद्धिमानी से माता सहित पाँचो पांडव एक सुरंग के रास्ते से निकल भागे और स्वयं ही उस घर में आग लगा गये। दैव-योग से एक भिखारिनि अपने पांचों पुत्रों सहित उसमें जलगई। इससे सबको विश्वास हो गया कि कुन्ती के सहित पाँचों पांडव लाक्षागृह में जलकर मर गये। दुर्योधन को बड़ी प्रसन्नता हुई। ऊपर के मनसे उसने बड़ा दुःख प्रकट किया और लोक दिखावे के लिये पांडवों का विधिपूर्वक श्राद्ध-तर्पण भी करा दिया। सर्वत्र यही प्रसिद्ध होगया कि पांडव जल मरे।

इधर पांडव अपनी माता कुन्ती के सहित व्यास जी की सम्मति से एकचक्रा नाम की नगरी में छिपकर रहने लगे। वहाँ वे ब्राह्मण वेष में रहते थे और भिक्षा माँगकर अपना निर्वाह करते थे। वहीं पर उन्हें पांचाल देश के राजा द्रुपद की द्रौपदी नामकी कन्या के स्वयंवर का समाचार मिला। द्रौपदी के अपूर्व रूप लावण्य की ख्याति सुनकर माता के सहित पांडव महाराज द्रुपद

की राजधानी में गये। राजा द्रुपद ने एक लम्बे बाँस में बहुत ऊँचे पर घूमता हुआ यन्त्र टाँग दिया था। उस यन्त्र के ऊपर एक कृत्रिम मछली रख दी थी। उसके नीचे एक बहुत विशाल सब किसी से न नमनेवाला धनुष रख दिया था और यह घोषणा करा दी थी कि 'जो कोई राजा इस धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ा कर इस लक्ष्य को वेध कर इस मछली को उड़ा देगा उसी के साथ में अपनी कन्या का विवाह करूँगा।'

इस प्रतिज्ञा को सुन कर देश विदेश के राजा, द्रुपद नगर में आने लगे। राजाओं की भीड़ से वह नगर अत्यन्त ही शोभायमान हुआ। कर्ण को साथ लेकर दुर्योधन भी स्वयंवर सभा में आया। सब राजा बड़े ठाटबाट से खूब सजधज कर एक ओर बैठे थे। दूसरी ओर साधु महात्मा और वेदज्ञ ब्राह्मण बैठे थे। पांडव ब्राह्मण के वेष में अपने को छिपाये हुए ब्राह्मण मंडली में बैठे थे। राजा द्रुपद की प्रतिज्ञा सुनकर एक-एक करके सब राजा उस लक्ष्य के समीप आने लगे। बहुतों पर तो वह धनुष ही नहीं उठता था। जो प्रयत्न करके धनुष उठा भी लेते, वे उस पर डोरी नहीं चढ़ा सकते थे। बहुतों ने डोरी चढ़ा ली तो बाण छोड़ने में असमर्थ हुए। इस प्रकार सभी बड़े-बड़े राजा हार कर चुपचाप अपने अपने आसनों पर जा बैठे।

जब कर्ण ने देखा कोई भी लक्ष्य भेद नहीं कर सकता, तब वह महा-पराक्रम-शाली वीर सिंह की भाँति अपने आसन से उठा। बिना प्रयास के ही उसने धनुष को उठा लिया और सहज ही में उसकी डोरी चढ़ा दी। ज्योंही कान तक खींचकर वह बाण छोड़ने को तैयार हुआ, त्योंही सभा में चारों ओर कोलाहल मच गया। सबको विश्वास हो गया कि क्षण भर में कर्ण

लक्ष्य को भेद देगा। पांडवों के मुख पर निराशा छा गई। इतने में ही दैवगति से द्रौपदी उठकर खड़ी हो गई। उसने हाथ उठा कर कर्ण को रोकते हुए कहा—'मैं सूतपुत्र के साथ विवाह नहीं करूँगी।' इतना ही सुनते, कर्ण बड़े लज्जित हुए। उन्होंने धनुष को जहाँ से उठाया था, वहीं रख दिया। क्रोध के कारण उनका चेहरा लाल हो गया था; किन्तु अपने क्रोध को छिपाते हुये, उन्होंने सूखी हँसी हँसी। एक बार उन्होंने अपने पिता सूर्य की ओर देखा और वे चुपचाप अपने आसन पर जा बैठे।

इसके पश्चात् अज्ञात वेष में बैठे हुए अर्जुन उठे और लक्ष्य वेध करके द्रौपदी को अपने साथ ले गये। जो राजा झगड़ा करने को तैयार हुए उन्हें भीम की सहायता से अर्जुन ने परास्त किया।

द्रौपदी द्वारा कर्ण का सभा में बड़ा अपमान हुआ। यद्यपि द्रौपदी का कहना एक प्रकार से ठीक ही था। राजपुत्री का विवाह क्षत्रिय राजपुत्र के ही साथ होना चाहिए; किंतु लक्ष्य वेध में तो इसका कोई उल्लेख नहीं था। वहाँ तो यही प्रतिज्ञा थी कि जो भी लक्ष्य को वेध देगा, उसी के साथ द्रौपदी का विवाह होगा। यदि उसमें क्षत्रिय ही हो और राजा ही हो तो अर्जुन के अज्ञात वेष में उठने पर द्रौपदी को उनसे भी पूछना था—'आपका गोत्र क्या है? आप किस देश के राजकुमार हैं? आपका जन्म किस जाति और किस कुल में हुआ है?' ये प्रश्न न स्वयं द्रौपदी ने पूछे न द्रुपद ने, न द्रौपदी के भाई धृष्टद्युम्न ने। तब कर्ण का ही इस प्रकार से अपमान क्यों किया?

आप कह सकते हैं कि अर्जुन तो ब्राह्मण वेष में थे। ब्राह्मण तो क्षत्रिय से श्रेष्ठ होते हैं। ब्राह्मण को क्षत्रिय कन्या लेने का

अधिकार है। यह उत्तर ठीक भी हो सकता है। किन्तु सब को इस बात का भी तो निश्चय नहीं था कि यह ब्राह्मण ही है। लक्ष्य वेध के पश्चात् राजा द्रुपद ने अपने पुत्र धृष्टद्युम्न से स्पष्ट शब्दों में संदेह प्रकट किया था। उन्होंने 'लक्ष्यवेध करने वाले कौन हैं?' इस बात का पता लगाने के लिए अपने पुत्र से कहा था--'बेटा! द्रौपदी को रंगभूमि से जीत कर लेजाने वाला पुरुष कौन है? पता नहीं वे लोग कहाँ लेगये? जीतने वाला पुरुष कोई नीच जाति का शूद्र या कर देने वाला वैश्य तो नहीं है। हमसे हीन वर्ण के पुरुष ने द्रौपदी को जीत कर तो हमारे सिर पर पैर नहीं रखा? सुगंधित माला स्मशान में तो नहीं फेंकी गई?'

इन प्रश्नों से स्पष्ट पता चलता है कि अर्जुन का भी कुल गोत्र किसी को पता नहीं था। जब कर्ण राजा थे और उपक्षत्रिय थे तथा लक्ष्यवेध में समर्थ थे तब उन्हें कम से कम लक्ष्य वेधका तो अधिकार था ही। यदि कुलगोत्र की बात थी तो अर्जुन से भी यह प्रश्न होना चाहिये था। अज्ञात-कुल-शील पुरुष के साथ द्रौपदी क्यों चली गई? और द्रुपद ने भी मना क्यों नहीं किया?

राजाओं को यह बात बुरी लगी। विशेष कर कर्ण तो अत्यन्त ही कुपित हुए। वे सब राजाओं के अग्रणी होकर अर्जुन से लड़ने चले। अर्जुन ने अपने चोखे बाणों से कर्ण का सामना किया और अपनी वीरता दिखाकर महाबली कर्ण को प्रसन्न किया। कर्ण इस ब्राह्मण के ऐसे अद्भुत पराक्रम को देखकर बड़े ही प्रसन्न हुए। वे गुणग्राही थे। उन्होंने अर्जुन के बाणों के कौशल से प्रसन्न होकर पूछा—'हे वीराग्रगण्य? आप मनुष्य तो मालूम पड़ते नहीं। या तो आप मूर्तिमान धनुर्वेद हैं, या इन्द्र

विष्णु आदि कोई बड़े देवता हैं,क्योंकि युद्ध में या तो इन्द्र मेरे सामने स्थिर रह सकते हैं या इन्द्र पुत्र अर्जुन। इन दोनों को छोड़ कर संसार में मेरे सामने कोई खड़ा ही नहीं रह सकता।

अर्जुन ने हँसते हुए कहा—'न मैं धनुर्वेद हूँ, न इन्द्र अथवा विष्णु, मैं तो ब्राह्मण कुमार हूँ। अपने गुरु की मैंने विधिवत सेवा करके ब्रह्मास्त्र, इन्द्रास्त्र आदि समस्त अस्त्र प्राप्त किये हैं। मैं आपसे अब भी लड़ने को तैयार हूँ। आप बाण छोड़िये।'

कर्ण तो ब्राह्मण भक्त थे। ब्राह्मणों से वे बहुत डरते थे। ब्राह्मणों के लिये वे सर्वस्व त्याग करने को सदा तैयार रहते थे। वे अनजान में भी कभी ब्राह्मणों का अपकार नहीं करते थे। वे जानते थे कि ब्राह्मतेज असह्य है, उसका सामना कभी न करना चाहिये। यह सोचकर वे युद्ध से हट गये। ब्राह्मण समझकर उन्होंने फिर अर्जुन से युद्ध नहीं किया।

कर्ण दुर्योधन को लेकर हस्तिनापुर चले गये। किन्तु सबके सामने द्रौपदी ने उसका अपमान किया, यह बात उन्हें असह्य जान पड़ी। उन्होंने अपने अपमान की बात किसी पर प्रकट नहीं की। किन्तु अज्ञात-कुल-शील व्यक्ति के खड़े होने पर द्रौपदी का चुपचाप खड़ा रहना और संसार विजयी शूरवीर कर्ण के उठते ही उसे सूतपुत्र कह कर बिठा देना; यह सचमुच में कुछ खटकने वाली बात थी।

सब विधान ही ऐसे बन गये। कर्ण को तो महाभारत का कारण बनना था। इसीलिये सबने पग-पग पर उन्हें अपमानित किया। अपमान से ही मनुष्य के गुणों का प्रकाश होता है। अपमान न होता तो आज कर्ण केवल संसार-विजयी शूरवीर ही प्रसिद्ध होते। अपमान ने उनका स्थान बहुत ऊँचा कर दिया।



द्रौपदी-चीर-हरण

कृष्णं च जिष्णुं च हरिं नरं च, त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी।
ततस्तु धर्मोऽन्तरितो महात्मा, समावृणोद् वै विविधैः सुवस्त्रैः ॥*

(स० प० ६८। ४६)

संसार में ऐसा अन्याय, ऐसा अत्याचार, ऐसा अधर्म, इस प्रकार धर्म की अवहेलना, ऐसी असभ्यता, ऐसा अनाचार बहुत कम हुआ होगा। शत्रु भाई भी अपने घोर शत्रु की स्त्रियों की लाज को अपनी लाज समझता है। पुरुष आपस में भले ही मर कट लें, किन्तु रमणियों के अपमान को शत्रु भाई भी बहुत कम सहन कर सकते हैं। हा! वह कैसा समय था? जिस सभा में बड़े बूढ़े बैठे हों, ऐसे ज्ञानी, विज्ञानी शास्त्रवेत्ता हों, वहाँ एक कुलवधू का ऐसे अपमान हो और सब लोग उसे चुपचाप देखते रहें। धिक्कार है उन धर्मज्ञों को, उन वीरों की वीरता को, उनके दिव्य अस्त्रों को बार-बार धिक्कार है जो एक अबला के अमानुषिक अपमान को चुपचाप देखते रहें। कर्ण के जीवन में सब से अधिक क्रूरता, सब से बड़ी नीचता का काम यही हुआ कि उसने द्रौपदी के वस्त्रापहरण का समर्थन ही नहीं किया, ऐसा करने के लिये दुःशासन को आज्ञा भी दी। मनुष्य कितना नीच, कितना क्रूर, कितना कठोर और कितना उपकार से परवश

---

* दुःशासन द्वारा द्रौपदी के वस्त्र खींचे जाने पर उसने आर्त स्वर से कहा—"हे कृष्ण! हे जिष्णो! हे हरे! हे नरनारायण! मेरी रक्षा करो, मेरी रक्षा करो।" ऐसा पुकारा। उसी समय वस्त्र धर्म का रूप धारण करके विविध रङ्गों से युक्त होकर बढ़ने लगा।

हो जाता है, यह बात कर्ण के उस समय के वचनों से स्पष्ट हो जाती है। हा! उसी समय पृथ्वी फट क्यों नहीं गई? समस्त कौरवों के ऊपर बिजली क्यों नहीं गिरी? अपनी पुत्रवधू की ऐसी दुर्दशा देखकर इन्द्र ने अपना अमोघ वज्र कौरवों के ऊपर क्यों नहीं गिराया? शंकर ने अपना तीसरा नेत्र क्यों नहीं खोला? हा! मनुष्य ईर्ष्या के वशीभूत होकर क्या नहीं कर सकता।

द्रौपदी के साथ भगवान व्यास के कहने पर पाँचों पाण्डवों के साथ धर्म-पूर्वक विवाह हो गया। अयोनिजा द्रौपदी ऋषियों की आज्ञा से पाँचों पाण्डवों की पत्नी हुईं। विदुर आदि के समझाने से और द्रुपद, वृष्णि-वंशीय राजाओं के दवाव से धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को आधा राज्य बाँट दिया। धर्मराज ने इन्द्रप्रस्थ में अपनी राजधानी बनाई और वहीं अपने भाइयों के सहित धर्म-पूर्वक राज्य करने लगे। अपने राज्य की दिनों दिन उन्नति देखकर जिसे सब राजा नहीं कर सकते, जो संसार के सभी राजाओं को जीत कर की जा सकती है; उस राजसूय यज्ञ को करने की धर्मराज की इच्छा हुई। भगवान वासुदेव की सहायता से उनकी सम्मति और कृपा से धर्मराज ने संसार विजयी राजसूय यज्ञ का आरम्भ किया। समस्त देश के राजाओं को युद्ध में जीता गया। अपने चारों भाइयों के भुजबल से तथा भगवान मधुसूदन के नीति-कौशल से सब देशों में दिग्विजय की गई। समस्त राजाओं से अपार धन प्राप्त हुआ और राजसूय यज्ञ का श्रीगणेश हुआ। कार्य बहुत बड़ा था, अतः धर्मराज ने योग्यतानुसार सब काम बाँट दिये थे। एक एक कार्य के सर्वाधिकारी बना दिये थे। किसी प्रधान व्यक्ति को एक विभाग का सर्वाधिकार दे दिया था। वह अपने विभाग में जो

चाहे सो करे, जैसा प्रबन्ध करना चाहे करे। जो राजा भेंट लाये थे, उनसे भेंट लेने का काम दुर्योधन को सौंपा गया; क्योंकि धर्मराज के पश्चात् ये ही कुरुकुल में श्रेष्ठ थे। देश देशांतरों के राजा, अनेक रत्न, बहुमूल्य-भूषण, सुन्दर-सुन्दर सुवर्ण, अपार धनराशि, असंख्यों हाथी घोड़े धर्मराज को यज्ञ में भेंट देने को लाये थे। दुर्योधन भेंट लेते-लेते थक गया। किन्तु इतनी सामग्री आई कि रात्रि-दिन बराबर लुटाते रहने पर भी वह समाप्त नहीं होती थी। धर्मराज के ऐसे प्रभाव को देखकर, इस प्रकार असंख्य बहुमूल्य सामग्री को देखकर दुर्योधन भौंचक्का-सा रह गया। इतनी धनराशि उसने आजतक अपने जीवन में कभी देखी ही नहीं थी। इससे स्वाभाविक ही उसे पाण्डवों के प्रति ईर्ष्या उत्पन्न हुई। बड़ी धूमधाम के साथ राजसूय यज्ञ समाप्त हुआ। सभी राजा धर्मराज से सम्मानित होकर अपने देशों को चले गये। दुर्योधन कुछ दिन इन्द्रप्रस्थ में और रुक गया।

अग्नि ने जब अर्जुन से खांडव वन जलाने की प्रार्थना की थी, तब भगवान वासुदेव की सहायता से खांडव वन से अर्जुन ने अग्नि को तृप्त किया था। उसी समय असुरों के विश्वकर्मा मयासुर को अर्जुन ने बचाया था। उसने उपकार स्वरूप श्रीकृष्ण की आज्ञा से धर्मराज के लिये एक ऐसी अद्भुत राजसभा बना दी थी कि जिसकी बराबर सुन्दर पृथ्वी भर में कोई सभा नहीं थी। उसमें रत्न और मणियाँ इस प्रकार लगाई गई थीं कि जल में स्थल का और स्थल में जल का भ्रम होता था। जब दुर्योधन को उसमें भ्रम हुआ और उसके गिरने पर सब जोरों से हँसने लगे तब उसने अपना बड़ा अपमान समझा। उसी दिन से वैर भाव की—महाभारत की निश्चित नींव पड़ गई।

शकुनी की सम्मति से धृतराष्ट्र की आज्ञा लेकर पांडवों को जुए के लिये बुलाया गया। द्यूत सभा लगी। बड़े-बड़े जुआरियों का, और धूर्तों का जमघट लगा। सीधे सादे धर्मराज सब जानते थे फिर भी उनकी प्रतिज्ञा थी कि जुए के लिये और रण के लिये जो मुझे आह्वान करेगा तो मैं मना नहीं करूँगा। शकुनी के कपट जाल से, अधर्म के पाँसों से धर्मराज का धीरे-धीरे समस्त राजपाट, धन, सुवर्ण, वाहन इन धूर्तों ने जीत लिये। यहाँ तक कि अपने भाइयों सहित धर्मराज अपने को भी हार गये। तब शकुनी के कहने पर और उसके जोर देने पर धर्मराज ने द्रौपदी को भी दाव पर लगा दिया और कपट से शकुनी ने पाँसे डालकर उस दाव को भी जीत लिया। तब तो धर्मराज बड़े संकट में पड़े। कौरवों की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। सबके सामने दुर्योधन ने दुःशासन को आज्ञा दी कि तुम द्रौपदी को यहाँ सभा में बुला लाओ।

पहिले सूत-पुत्र को भेजा। द्रौपदी ने कहला भेजा—'मैं सभा में आने योग्य नहीं हूँ, रजस्वला हूँ। इस समय मैं नहीं आ सकती। किन्तु वे दुष्ट तो उसे अपमानित करने पर उतारू थे। दुर्योधन ने दुःशासन को आज्ञा दी—'तुम अभी जाकर द्रौपदी को पकड़ लाओ। वह जैसी भी दशा में हो उसे सभा में ले आओ। उसे जो भी कहना हो यहाँ आकर सब के सामने कहे।'

दुष्ट दुःशासन अपने भाई की आज्ञा पाकर भीतर रनिवास में गया जहाँ द्रौपदी अलग ठहरी हुई थी। उसने जाते ही व्यंग के स्वर में कहा—'कृष्णे! अब तुम पांडवों की पत्नी नहीं रही, अब तुम हम लोगों की दासी बन गई हो। चलो, महाराज दुर्योधन तुम्हें सभा में बुला रहे हैं।'

द्रौपदी ने कहा—'देखो, इस समय मैं सभा में जाने योग्य नहीं हूँ, धर्मराज के मैं अधीन हूँ। जो आपत्ति उन पर आवेगी वही मुझ पर। मैं धर्मराज से पृथक् नहीं हूँ।'

क्रोध के कारण लाल-लाल आँखें करके और द्रौपदी को भयभीत करता हुआ गरज कर दुःशासन बोला—'बहुत बकबक करने का काम नहीं है। सीधे से या तो मेरे साथ चली चलो नहीं तो फिर मुझे दूसरा मार्ग ग्रहण करना पड़ेगा।'

उसकी भयङ्कर चेष्टा से पांचाली ने समझ लिया कि अब यह दुष्ट मानेगा नहीं। यह सोचकर वह अपनी रक्षा के लिये अपनी सास गांधारी के महलों की ओर भागी। दुःशासन भी उसके पीछे भागा। भागने से पांचाली का अंचल सिर से नीचे गिर गया था। उसके काले, लहलहाते, घुंघराले और लम्बे-लम्बे बाल खुल गये। दुःशासन ने आगे बढ़कर जोर से उन बालों को पकड़ लिया और घसीटता हुआ बोला—'अब बता कौन तेरी रक्षा करेगा? भाग, कहाँ भाग कर जाती है?'

द्रौपदी के दोनों नेत्रों से अश्रु की दो धाराएँ बह रहीं थी। वह रो-रो कर विलाप कर रही थी। हाय! पांचों पांडवों की पत्नी की आज ऐसी दुर्दशा हो रही है।

दुःशासन जब जोरों से बाल पकड़ कर घसीटता हुआ द्रौपदी को सभा की ओर ले जा रहा था तब धीरे से द्रौपदी ने कहा—'दुष्ट! राक्षस! अपनी कुल वधुओं की तो चोर-डाकू भी रक्षा करते हैं। पापी और हत्यारे पुरुष भी अपने घर की स्त्रियों को इस तरह अपमानित नहीं करते। देख, इस समय मैं रजस्वला हूं, एकवस्त्रा हूं। ऐसी दशा में तू मुझे छोड़ दे। सब के सामने सभा में न ले चल। यह तू घोर पाप कर रहा है।'

दुःशासन ने कहा—'भले आदमी पत्नियों की मर्यादा रखते हैं। तू हमारी दासी है। दासी को कोई लज्जा नहीं; उसे स्वामी प्रत्येक दशा में बुला सकता है। तू अब हमारी दासी है। जैसा चाहेंगे हम वैसा तेरे साथ व्यवहार करेंगे।' यह कहते हुए रोती हुई द्रुपद की कन्या, धृष्टद्युम्न की बहिन, पांडु की पुत्र-वधू और पांडवों की प्यारी पत्नी को वह दुष्ट सब के सामने खींच लाया।'

द्रौपदी की ऐसी दयनीय दशा देखकर दर्शकों के दृगों से अश्रुधारा बह चली। दुर्योधन, दुःशासन, शकुनी और कर्ण को छोड़कर सभी दुखी हुए। सब ने लज्जा के कारण आँखें मींच लीं और सिर नीचे कर लिये।

द्रौपदी ने रोते-रोते समस्त सभासदों से एक प्रश्न पूछा—'सभासदों! जब धर्मराज अपने को पहिले ही हार गये थे तब उनका मुझे दाँव में लगाना धर्म-संगत था या नहीं। पहिले मुझे हार कर तब वे अपने को दाँव पर लगाते तब तो ठीक ही था। जब उन्होंने पहिले अपने को हारा तब उनको मुझे दाँव पर लगाने का धर्म-पूर्वक अधिकार रहा या नहीं? मेरे इस प्रश्न का उत्तर दीजिये।'

सभा में सन्नाटा छा गया, सभी अवाक् थे। पितामह भीष्म ने सन्देह के साथ कहा 'मैं भी इसका ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे सकता।' द्रौपदी रो रही थी और सबकी ओर कातर दृष्टि से देख रही थी। सभा में बैठे हुए अपने श्वसुर-धृतराष्ट्र, भीष्म और द्रोणाचार्य तथा कृपाचार्य की ओर वह बार-बार निहारती थी कि इनमें से कोई मेरी रक्षा करें। उसके पति वीर पांडव सिर नीचा किये हुए उदास मन से चुपचाप बैठे थे। वे मारे लज्जा के

सिर भी ऊपर की ओर नहीं उठाते थे, द्रौपदी की दृष्टि से दृष्टि भी नहीं मिलाते थे। द्रौपदी विलख रही थी, किन्तु उसका रोना-धोना, चीखना-चिल्लाना, विलखना सब अरण्यरोदन के समान था। सब को शांत और चुप बैठा देखकर धृतराष्ट्र का एक पुत्र विकर्ण उठकर खड़ा हुआ और उसने गंभीरता के स्वर में सब को सम्बोधित करते हुए कहा—'सभासदों! आप सब धर्म को जानने वाले हैं फिर अधर्म का आचरण क्यों कर रहे हैं? जो सभासद सभा में बैठकर भी भय,संकोच,लोभ या पक्षपात के कारण सत्य बात को प्रकट नहीं करता वह नरकगामी होता है। पांचाली पुकार पुकार कर प्रार्थना कर रही है। आप सब कानों में तैल डाले चुपचाप उसकी बातों को सह रहे हैं। मेरे मत से द्रौपदी नहीं जीती गई। द्यूत में अनभिज्ञ महाराज धर्मराज को इन धूर्तों ने धोखा दिया है। पत्नी को कोई भी दाँव पर नहीं लगाता,फिर जब पहिले धर्मराज अपने को हार गये तब वे द्रौपदी को दाँव पर लगा ही कैसे सकते हैं? इसलिये मेरे विचार से द्रौपदी दासी नहीं है। फिर जैसा व्यवहार उस कुलवधू के साथ हो रहा है,यह तो सर्वथा अनुचित है, घोर पाप है,महा नीचता है। ऐसा व्यवहार अनार्य और दुष्ट भी नहीं करते।

विकर्ण के ऐसा कह चुकने पर क्रोध के साथ कर्ण ने दुर्योधन का पक्ष लेकर उसे प्रसन्न करने के लिये यह कठोर वचन कहने आरंभ किये—'विकर्ण! तुम अभी बच्चे हो, तुममें बुद्धि नहीं, तुम्हारी मति अभी कच्ची है। तुमने गुरुजनों का संग नहीं किया, धर्म और नीति की बातों से तुम अनभिज्ञ हो। तुम्हें धर्म के रहस्य का क्या पता? जब धर्मराज जुए में अपना सर्वस्व हार गए तब क्या द्रौपदी सर्वस्व से बाहर है? चाहे जैसी दशा हो पत्नी पति से कभी पृथक् नहीं होती। जब पाँचों पांडव हार गये,

दास वन गये तव द्रौपदी तो स्वतः ही दासी वनी। धर्म से हो या अधर्म से जव सव के सामने युधिष्ठर ने द्रौपदी को दाँव पर लगाया और उनके चारों भाइयों ने मौन रहकर उनकी इस बात का अनुमोदन किया, इसमें आपत्ति नहीं की तो द्रौपदी कैसे हारी हुई नहीं मानी जा सकती। तुम जो वार वार 'एक वस्त्रा-एक वस्त्रा कहकर अधर्म अधर्म की रट लगा रहे हो सो यह कुल बधुओं के लिये व्यवस्था है। जिसका एक पति हो उसे पतिव्रता कहते हैं; जिसके अनेक पति होते हैं वह कुलटा कहलाती है। द्रौपदी के पाँच पति हैं इससे वह पतिव्रता तो है नहीं, फिर हमने उसे जीत लिया है, वह हमारी दासी है। अतः हम जैसा चाहेंगे वैसा वर्ताव करेंगे। पांडव दुर्योधन के अधीन हैं, उनके दास हैं। मैं कहता हूँ दुःशासन! तुम इन पांडवों के और द्रौपदी के वस्त्रों को भी छीन लो।'

कर्ण ने ये कर्ण-पटु क्रूरतापूर्ण वचन कहकर कौरवों को प्रसन्न करना चाहा। भरी सभा में पतिव्रता पांचाली के प्रति ऐसे वचन कहना वहुत ही अनुचित थे। दुःशासन तो उनकी लज्जा लेने को उतारू ही था। पांडव धर्म-पाश में वँधे हुए थे। कर्ण की वात समाप्त होते ही पांडवों ने अपने वहुमूल्य सोने के काम से जड़े हुए वहुमूल्य रेशमी उत्तरीय उतार कर रख दिये उस समय पांडवों को नग्न देखकर सभी सभा के लोग चीख मारकर रोने लगे। उस समय का दृश्य वड़ा ही करुणाजनक था। कर्ण के उत्साहित करने पर दुःशासन ने आगे वढ़कर रोती हुई द्रौपदी का वस्त्र पकड़ लिया। भयभीत मृगी की भाँति पांचाली अपने अंगों में छिपी सी जाती थी। लज्जा के कारण उसके सभी अंग संकुचित हो गये। केले के पत्ते की भाँति उसका शरीर थर-थर काँप रहा था। दुःशासन जोर से उसकी साड़ी व

खींचने लगा। तब सभासद सहम गये। भीष्म, द्रोण, कृप और धृतराष्ट्र कुलवृद्ध होने पर भी इस अन्याय को अपनी आँखों देखते रहे। विदुर जी ने इसका प्रतिवाद किया। किन्तु उनकी बात को सुनता कौन है। द्रौपदी ने अपने पाँचों पतियों की ओर देखा। वे भी मौन थे। चारों ओर से निराश्रित होने पर उसने भगवान मधुसूदन को पुकारा।

जब उसने देखा—सभा में सभी मेरे अपमान को चुपचाप देख रहे हैं और यह दुःशासन अब क्षण भर में ही मुझे वस्त्र-हीन नग्न करना चाहता है, तब उसने बड़े करुणा के स्वर में पुकारा—'हे नाथ! हे दीनबन्धो! हे अशरण-शरण। हे द्वारिका-वासी! हे अनाथ रक्षक! हे कृपासागर! हे भक्तवत्सल! हे करुणानिधान! हे दीन-वत्सल! हे पतित-पावन! भरी सभा में दुष्ट दुःशासन मुझे नग्न करना चाहता है। आपके सिवा मेरा कोई रक्षक नहीं, कोई सहायक नहीं। इस समय मुझ दीना हीना अनन्य शरणा की आकर आप रक्षा करें।'

करुण स्वर में कृष्ण को पुकारते ही प्रभु ने वस्त्रावतार धारण किया। दुःशासन जितना ही वस्त्र खींचता जाता था, उतना ही नया वस्त्र निकलता जाता था। वस्त्र तो अनंत हो गया था। बहुत से वस्त्रों के ढेर लग गए किन्तु द्रौपदी का वह चीर कम नहीं हुआ। वह बढ़ता ही गया। अंत में दुःशासन हार गया। द्रौपदी की लाज बच गई।

"दुस्सासन को बल घट्यो, घट्यो न गज भर चीर"



दुर्योधन का वैष्णव यज्ञ और कर्ण की अर्जुन-वध की प्रतिज्ञा

तमब्रवीत् तदा कर्णः शृणुमे राजकुंजर।
पादौ न धावये तावद् यावन्न निहतोऽर्जुनः ॥*
(व० प० २५७।१६)

सर्वनाश का कारण द्वेष है। दूसरों के अभ्युदय से हृदय में जो ईर्षा उत्पन्न होती है, उससे कलह होती है और कलह ही सर्वनाश का कारण है। कलह कलियुग का स्वरूप होता है और दुर्योधन तो कलियुग का अवतार ही था। यदि पांडवों के अभ्युदय को यह अपने ही कुल का अभ्युदय समझता, भाई की तरह स्नेह से रहता तो महाभारत का श्री गणेश ही क्यों होता ? पांडवों के यज्ञ में, उनके महान् ऐश्वर्य को देखकर उसे इतनी अधिक जलन हुई, कि उसके कारण उसने भोजन-शयन सब छोड़ दिया। उसकी हार्दिक इच्छा थी कि किसी तरह पांडव दुखी हों, उनका अपमान हो। मेरा ऐश्वर्य इनसे भी बढ़-कर हो और ये दरिद्रों की तरह भीख मांगते फिरें। इसी के लिये उसने शकुनी की सहायता से द्यूत सभा की और कपट के जूए में पांडवों का सर्वस्व हरण कर लिया। यही नहीं, उस दुष्ट ने सबके सामने पतिव्रता द्रौपदी का भी घोर अपमान किया। उसे विवस्त्रा बनाने की नीच और घृणित चेष्टा की। किन्तु जिसके

दुर्योधन को प्रसन्न करते हुए कर्ण ने कहा—"हे राजेन्द्र। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब तक युद्ध में अर्जुन को न मारूँगा, तब तक किसी दूसरे से पैर न धुलाऊँगा।"

रक्षक सर्वेश्वर हैं, जिन्हें उन मधुसूदन का आश्रय है, उनका अनिष्ट कौन कर सकता है ? 'दुस्सासन को बल घट्यो, घट्यो न गज भर चीर' द्रौपदी का चीर अक्षय और अनन्त हो गया। तब धृतराष्ट्र के वरदान से द्रौपदी अपने पतियों सहित दासता से मुक्त हो गई और धृतराष्ट्र ने उनका धन राज्य लौटा कर इन्द्रप्रस्थ को विदा कर दिया।

भावी को कौन मेंट सकता है। कपटी शकुनी की सहायता से पांडव रास्ते से फिर लौटाये गये और अब के इस शर्त पर जुआ हुआ कि 'जो हारेगा उसे १२ वर्ष बनवास और एक वर्ष अज्ञातवास करना होगा। अज्ञातवास में यदि पता लग गया तो फिर भी १२ वर्ष वनवास, एक वर्ष अज्ञातवास होगा। यह क्रम इसी तरह चलेगा।' धर्मराज ने इसे स्वीकार किया। जुआ हुआ और शकुनी के कपट से पांडवों की हार हुई। कुन्ती को विदुर के पास छोड़कर द्रौपदी सहित पांडव १२ वर्ष वनवास करने चले गये और वन में ब्राह्मणों के सहित अतिथि सत्कार और तपस्या करने लगे।

धर्मराज को विश्वास हो गया कि लड़ाई अवश्य होगी। दुर्योधन भी जनता था कि युद्ध का होना अवश्यम्भावी है। इसीलिये वह भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा, तथा मन्त्री और सेनापतियों को बहुत सा धन देकर सदा संतुष्ट रखता था। वह अपनी प्रजा के साथ बड़ा अच्छा व्यवहार करता था। उसकी एकमात्र इच्छा थी, पांडवों को अपमानित, पद दलित और लज्जित करना। उन्हें दुखी देखने में उसे परम सुख मिलता था। धर्मराज भी जानते थे कि यदि युद्ध होगा तो ये सब महारथी दुर्योधन का ही पक्ष लेंगे। उन्हें भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा इनका उतना

भय नहीं था। सबसे अधिक वे कर्ण से डरते थे। वे जानते थे कि 'पितामह बूढ़े हैं, उनके लिये हम और कौरव समान हैं। वे युद्ध तो करेंगे किन्तु क्रोधित होकर हमारे प्राण न लेंगे।' इसी तरह उनका द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और अश्वत्थामा के ऊपर विश्वास था। किन्तु वे समझते थे कि कर्ण बड़ा शूरवीर है, वह अपने वचनों का बड़ा पक्का है। जो प्रतिज्ञा एक बार कर लेगा उसे प्राण रहते तक निभावेगा। सूर्य चन्द्रमा अपना नियम छोड़ दें, किन्तु कर्ण अपनी प्रतिज्ञा से कभी विचलित न होगा। इसीलिये उन्होंने केवल कर्ण को ही हराने के निमित्त अपने प्यारे भाई अर्जुन को स्वर्ग में इन्द्र के पास दिव्यास्त्र सीखने के लिये भेजा। वे रात्रि-दिन कर्ण की वीरता का स्मरण करके लम्बी-लम्बी साँसें भरा करते थे। देवराज इन्द्र को भी उनका पक्षपात था। उन्होंने लोमशऋषि से संदेश भेजा कि 'धर्मराज घबड़ावें नहीं, जिस कर्ण के लिये वे इतने चिंतित रहते हैं, जिस डर से वे सदा डरते रहते हैं, मैं अपने छलसे उनके उस डरको दूर कर दूँगा।' इतना आश्वासन दिलाने पर भी धर्मराज का खटका दूर नहीं हुआ। वे कर्ण की वीरता को स्मरण करके सदा भयभीत और चिंतित ही बने रहते थे।

५ वर्ष स्वर्ग में समस्त दिव्यास्त्र प्राप्त करके और अपने अद्भुत पराक्रम से दैत्यों को परास्त करके तथा अजेय निवातकवचों को मारकर देवताओं से सम्मानित होकर अर्जुन अपने भाइयों के पास पृथ्वी पर लौट आये। धर्मराज द्रौपदी और भाइयों सहित द्वैतवन में आकर निवास करने लगे। सूर्य की उपासना करके उन्होंने एक ऐसी बटलोई सूर्य की कृपा से प्राप्त कर ली थी कि जब तक द्रौपदी भोजन न करें तब तक उसमें से इच्छानुकूल जितना चाहें उतने भोज्य पदार्थ निकलते रहें। उस

दिव्यस्थाली के ही प्रभाव से वन में भी धर्मराज असंख्य ब्राह्मण और स्नातकों को भोजन कराते थे।

इधर पांडवों को द्वैत वन में आया सुनकर, दुर्योधन की इच्छा हुई कि 'मैं उनके सामने अपना अतुल ऐश्वर्य दिखा उन्हें लज्जित करूँ। आज मैं पृथ्वी पर चक्रवर्ती राजा हूँ। लाखों राजा महाराजा मेरे चरणों में अपना किरीटयुक्त मस्तक नवाते हैं। पांडव वल्कल वस्त्र पहिने धूप छाँह, गर्मी-वर्षा सहन करते हुए एक वन से दूसरे वन में घूम रहे हैं। जब मैं अपार वैभव के साथ सम्राट के वेश में उन्हें भिक्षुक और वनवासियों की भाँति देखूँगा तब मुझे इन्द्रलोक पाने पर भी जितनी प्रसन्नता न होती उतनी उस समय पांडवों की दीन दशा देखकर होगी।' यह सोचकर उसने कर्ण, दुःशासन शकुनी आदि से सलाह करके धृतराष्ट्र से द्वैत वन में जाने की आज्ञा माँगी। पहले तो धृतराष्ट्र ने इनका क्रूर अभिप्राय समझ कर सम्मति नहीं दी, किन्तु पीछे अपनी गौवों की गणना आदि का बहाना बताकर अनेक तरह की बातें बनाकर धृतराष्ट्र से द्वैत-वन में जाने की आज्ञा ले ली।

दुर्योधन अपने अतुल ऐश्वर्य का प्रदर्शन करने के लिये बड़े ठाट-बाट और बहुमूल्य वस्त्राभूषण तथा विविध प्रकार के भक्ष्य-भोज्य, लेह्य-चोष्य आदि भोज्य पदार्थों को लेकर द्वैत वन में पहुँचा। वहाँ उसने विविध प्रकार के भोग भोगे, गौओं की गणना की, कर्ण दुःशासन आदि के साथ शिकार खेला और विविध प्रकार के नाचगीत और खेल-तमाशों का आयोजन कराया। अंत में द्वैत वन के सरोवर के किनारे जहाँ पांडव ठहरे हुए थे, वहाँ उसने विहार करने के लिये विविध प्रकार के भवन बनाने

की आज्ञा दी। दैवयोग से वहाँ चित्ररथ गंधर्व अपने साथियों सहित विहार कर रहा था। उसने दुर्योधन के सेवकों को वहाँ से मार भगाया। इस पर सेना सहित दुर्योधन ने गंधर्वों से युद्ध करना आरम्भ कर दिया। गंधर्व उपदेव थे। वे भाँति भाँति की माया जानते थे. आकाश में युद्ध करते थे। वे क्षण भर में प्रकट हो जाते, क्षण में असंख्यों रूप धारण कर लेते, क्षण में छिप जाते। कौरव सेना गंधर्वों का सामना न कर सकी। वह डर कर युद्ध भूमि से भाग गई। किन्तु महावीर कर्ण युद्ध में डटे ही रहे। वे अपने चोखे बाणों से गन्धर्वों का नाश करने लगे। तब सहस्रों लाखों गंधर्व एक साथ ही कर्ण के ऊपर टूट पड़े। कर्ण अकेले थे, गंधर्व असंख्य थे। सब ने मिलकर कर्ण के रथ की एक एक कील को तोड़ डाला। किसी ने उनके सारथी को मार डाला; किसी ने घोड़ों को, किसी ने ध्वजा गिरा दी। रथहीन कर्ण तलवार लेकर बड़ी वीरता से विकर्ण के रथ में बैठकर थोड़ी देर के लिये युद्धभूमि से हट गये। कर्ण के हटते ही अवसर पाकर गंधर्वों ने दुर्योधन, शकुनी आदि को बाँध लिया और उन्हें घसीटते हुये आकाश मार्ग से ले चले। बहुत सी स्त्रियों को भी गंधर्वों ने बांध लिया। दुर्योधन के दूतों ने रोते-रोते यह सब हाल जाकर धर्मराज युधिष्ठिर से कहा। धर्मराज उस समय एक विशेष दीक्षा में थे। उन्होंने समझा-बुझाकर अपने चारों भाइयों को दुर्योधनादि को छुड़ाने के लिये भेजा। भीमसेन ने कुछ आना-कानी की तब धर्मराज ने कहा 'हम भाई भाई आपस में भले ही लड़ें। आपस की लड़ाई में वे १०० हैं हम ५ हैं; किन्तु यदि कोई तीसरा लड़ेगा तो हम १०५ भाई मिलकर उसका सामना करेंगे! उनकी और हमारी प्रतिष्ठा दो थोड़े ही है। चारों

पांडवों ने थोड़ी देर गंधर्वों से युद्ध किया। फिर गंधर्वों के राजा चित्ररथ की अर्जुन से भेंट हो गई। वह अर्जुन का पुराना मित्र था। चित्ररथ को समझा बुझाकर दुर्योधन, उसके साथियों तथा पत्नियों को गंधर्वों से छुड़ा दिया। गंधर्वों से पांडवों द्वारा छुड़ाये जाने पर अत्यन्त लज्जित होकर, दुर्योधन आत्मघात करने का निश्चय करके चला। रास्ते में उसकी भेंट कर्ण से हुई। कर्ण को उसने अपना सब वृत्तान्त बताकर कहा—'मित्र अब मैं ऐसा अपमान सहकर कभी जीवित न रहूँगा। निश्चय ही अपने प्राणों का त्याग करूँगा। यह कहकर अपने छोटे भाई को राजकाज समझा कर उसे गले लगाकर वह अनशनसे मरने का निश्चय करके कुशासन पर बैठ गया। कर्ण, शकुनी दुःशासन सभी ने उसे हर तरह समझाया। जब किसी के समझाने पर भी वह न माना तो सभी उसके आसपास बैठकर रोने लगे और उसके साथ ही प्राण त्याग करने को वे भी निश्चयकरके बैठ गये। दानवों ने जब देखा कि दुर्योधन मर जायगा और तब युद्ध होगा तो हमारा पक्ष निर्बल पड़जायगा। यह सोचकर मंत्रबल से यज्ञ करके कृत्या द्वारा दुर्योधन को दानव लोक में बुलाया। दानवों ने उसे हर तरह समझाया और कहा 'तुम युद्ध में चिन्ता मत करो। करोड़ों लाखों दैत्य, दानव, राक्षस राजाओं के वेष में पृथ्वी पर उत्पन्नहो चुके हैं। वे सब तुम्हारा साथ देंगे भीष्म, कर्ण, कृप आदि के शरीरों में भी हम घुस जाएँगे। इसी से वे स्नेह छोड़कर अपने सगे सम्बन्धियों को मारेंगे। कर्ण के शरीर में भी नरकासुर की आत्मा घुस जायगी, इससे वह जान की कुछ भी चिन्ता न करके अर्जुन से लड़ेंगें। किन्तु इन्द्र छलकर उनके कवच कुन्डल की घात में लगे हैं। तुम आनन्द से जाओ, तुम्हारा बल बहुत है। जैसे देवताओं को युधिष्ठिर

का सहारा है, वैसे ही हमें तुम्हारा है। तुम्हारा कल्याण होगा। अनशन करके मरने का विचार त्याग दो।' दानवों ने ऐसा समझा कर कृत्या द्वारा दुर्योधन को फिर वहीं पहुँचा दिया। प्रातःकाल फिर कर्ण ने भाँति-भाँति की विनती की। दुर्योधन के सम्मुख शस्त्र छूकर, प्रतिज्ञा की कि 'मैं युद्ध में जीते जी अर्जुन को मारूँगा। मैं पूरी शक्ति से उससे लड़ूंगा।' कर्ण की ऐसी प्रतिज्ञा सुनकर और दानवों की बातों का स्मरण करके दुर्योधन अनशन का विचार छोड़कर अपने साथी और सेना सहित हस्तिनापुर में आगया।

सब समाचार सुनकर भीष्म ने कर्ण सहित दुर्योधन को बुलाकर कर्ण के सामने ही कहा--'बेटा, तुम मुझ बूढ़े की बात मानते नहीं। तुम इस नीच सूत-पुत्र कर्ण का साथ छोड़ दो। हत्या की जड़ यही अधम है। यह अपने को बड़ा शूरवीर धर्मात्मा और दानी समझता है, किन्तु यह पांडवों के पसंग के बराबर भी नहीं है। यह डरपोक भला अर्जुन का सामना क्या कर सकता है? यह युद्ध छोड़कर कायरों का तरह युद्धभूमि से हट गया और गंधर्व तुम्हें बाँध ले गये। अब तुम इस मित्रघाती अकुलीन से क्या युद्ध की आशा कर सकते हो? इसमें तनिक भी बल नहीं। यह वाणी का ही शूर है। बकता बहुत है, कर्त्तव्य कुछ भी नहीं दिखाता।'

दुर्योधनने पितामह की बात पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। वह उपेक्षा का भाव दिखाता हुआ कर्ण सहित वहाँ से चला आया। कर्ण को यह बात भाले की तरह चुभ गई। उसने दुर्योधन से कहा--'महाराज! ये पितामह बड़े पक्षपाती हैं। अन्न तुम्हारा खाते हैं और बड़ाई पांडवों की करते हैं। ये मुझे कायर,

डरपोक और मित्रघाती बताते हैं। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि समस्त पृथ्वी के राजाओं को हराकर दिग्विजय में सम्पूर्ण पृथ्वी को जीत कर आपको समर्पित कर दूँगा। पांडवों ने तो मिलकर पृथ्वी को जीता था। मैं अकेला ही अपने बाहुबल से समस्त पृथ्वी के राजाओं को करद और अधीनस्थ बनाऊँगा। आप मेरा बल, पुरुषार्थ और शस्त्र कौशल देखें।' यह सुनकर दुर्योधन मारे प्रसन्नता के उछल पड़ा। उसने बार बार कर्ण को हृदय से लगाया। प्रेम के कारण उसकी आँखों में आँसू भर आये। गद्‌गद्‌ कंठ से उसने कहा—'मित्र मैं धन्य हूँ। तुम्हारे जैसे सच्चे मित्र को पाकर मैं कृतार्थ हुआ, मेरे सब मनोरथ सफल होंगे।'

कर्ण उसी समय सब से मिल-भेंटकर ब्राह्मणों का आशीर्वाद और कौरवों का महान्‌ सम्मान पाकर अकेला ही दिग्विजय के लिये निकला। उसने उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम सभी दिशाओं के राजाओं को युद्ध में जीता, किसी ने उसका सामना नहीं किया। जो लड़ने को सम्मुख आया वह परास्त होकर लौटा। जिसे हराया तथा करद बनाया उससे बहुत सा सुवर्ण भेंट में लिया। इस प्रकार समस्त पृथ्वी के राजाओं को परास्त करता हुआ; संसार में अपने बाहुबल और वीरता की धाक जमाता हुआ तथा असंख्य धनरत्न और सुवर्णराशि को एकत्रित करता हुआ कर्ण दिग्विजय करके हस्तिनापुर में लौट आया। उसकी इस अद्‌भुत वीरता को देखकर सभी धन्य-धन्य कहने लगे। उसने असंख्यों मन सुवर्ण, बहुमूल्य अगणित रत्नराशि, दास-दासी, वाहन, वस्त्राभूषण जो दिग्विजय में जीते थे सब लाकर दुर्योधन को दिये और समस्त जीती हुई पृथ्वी भी दुर्योधन को समर्पित की। कर्ण के इस पराक्रम को देखकर और अपने राज-

कोष में अटूट धनराशि को देखकर दुर्योधन को निश्चय हो गया कि अब मैं पांडवों को जीत लूँगा।

दुर्योधन ने एकान्त में कर्ण से कहा—'मित्र, जब से मैंने धर्मराज का राजसूय-यज्ञ देखा है;तब से मुझे चैन नहीं। रात्रि दिन मेरी आँखों के सामने वहाँ का वैभव नाचता रहता है। यदि मैं भी ऐसा राजसूय-यज्ञ कर सकूँ और मेरा भी सब राजा धर्मराज से बढ़कर सम्मान करें तब मुझे आनन्द प्राप्त हो।'

कर्ण ने कहा—'महाराज, यह आपके लिये क्या बड़ी बात है। समस्त राजा आपके अधीन हैं। धन की कुछ कमी नहीं। अभी ऋत्विजों को बुलवाईये,यज्ञ वेदी बनवाइये,यज्ञीय सामान जुटाइये, समस्त राजाओं को निमंत्रण भेजिये। आपका यज्ञ युधिष्ठिर के यज्ञ से बढ़कर होगा।'

कर्ण की सम्मति पाकर अत्यन्त उल्लास के साथ प्रफुल्लित होकर दुर्योधन ने यज्ञ की सब तैयारियाँ करने की सेवकों को आज्ञा दी। अपने पुरोहित को बुलाकर राजसूय-यज्ञ का विधान तथा मुहूर्त पूछा। पुरोहित ने कहा—'राजन्! आपके कुल में धर्मराज राजसूय-यज्ञ कर चुके हैं। उनके रहते हुए अभी आप राजसूय-यज्ञ नहीं कर सकते। कुल में सब से बड़े को ही इस महान यज्ञ का अधिकार है। हाँ, इसी के समान एक वैष्णव यज्ञ है। उसमें करद राजाओं से सुवर्ण लेकर उसके हल से पृथ्वी जोती जाती है। यह भी महान् यज्ञ है, सब राजा इसे नहीं कर सकते। आप इसी यज्ञ को करें।

दुर्योधन ने उसे ही स्वीकार किया। बड़ी धूम-धाम के साथ वैष्णव-यज्ञ कराया गया। दुर्योधन ने उसमें खूब धन लुटाया। ब्राह्मणों को बड़ी बड़ी दक्षिणायें दी, आगत राजाओं का बड़ा भारी स्वागत सम्मान किया गया। अपनी बड़ाई के लिये दुर्यो-

धन ने बड़ी ही उदारता से बहुत सा धन व्यय करके इस यज्ञ को किया। बहुत से लोग दुर्योधन की प्रसंशा करने लगे। बहुत से कहने भी लगे 'चाहे जो हो, कितना भी खर्च क्यों न करें, धर्मराज के यज्ञ के सामने यह शतांश भी नहीं।' दुर्योधन ने यज्ञ तो किया, किन्तु उसकी राजसूय-यज्ञ करने की इच्छा पूरी नहीं हुई। उसने कर्ण से कहा—'मित्रवर! तुम्हारी कृपा से आज मैं समस्त पृथ्वी का सम्राट बना हूँ। मैंने सबसे न होने वाला वैष्णव-यज्ञ भी कर लिया है। अब तुम्हारी इसी तरह मेरे ऊपर कृपा बनी रही और शत्रु किसी प्रकार तुम्हें मुझसे पृथक् न कर सके तो मैं अपने शत्रुओं—पांडवों को युद्ध में मारकर एक दिन राजसूय-यज्ञ भी कर सकूँगा। तुम्हारी कृपा से किसी दिन अर्जुन को परास्त होता हुआ भी मैं देखूँगा—जिन्होंने मुझे अपने बाहुबल द्वारा गंधर्वों से छुड़ाया था।'

दुर्योधन की यह बात सुन कर उसी समय कर्ण ने सब के सामने घोर प्रतिज्ञा की। वे बोले, 'आज से प्रतिज्ञा करता हूँ जब तक अर्जुन को युद्ध में मार न डालूँगा तब तक न तो मैं किसी से अपने पैर धुलाऊँगा, न कभी मांस-मदिरा का सेवन करूँगा और न अपने सामने आये हुये याचक को कभी विमुख लौटाऊँगा। माँगने के लिये जो भी मेरे सामने आवेगा और जो भी वस्तु माँगेगा उसे दूँगा, नाहीं नहीं करूँगा।'

कर्ण की ऐसी प्रतिज्ञा सुन कर दुर्योधन के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उसे विश्वास हो गया कि अर्जुन अब मरा ही हुआ है।

दूतों के मुख से जब यह समाचार धर्मराज युधिष्ठिर को मिला, तब तो वे बड़े ही चिंतित हुए। वे कर्ण के बल, पराक्रम,

पौरुष और अस्त्रकौशल से भली भाँति परिचित थे। उन्हें विश्वास था कि जब तक कर्ण के शरीर पर दिव्य कुंडल और कवच रहेंगे, तब तक संसार में कोई उसे मार नहीं सकता। जन्मजात ये कर्ण के कुंडल-कवच किसी तरह इसके शरीर से पृथक् हों, इसी की चिन्ता में धर्मराज सदा रहने लगे। उन्हें न भोजन अच्छा लगता था, न कुछ स्वाध्याय ही सुहाता था। उन्हें तो रात्रि दिन कर्ण के दिव्य कुंडल कवच की चिन्ता थी। संसार में ईर्ष्या क्या नहीं कराती? स्वार्थ मनुष्य के विवेक को कितना खो देता है! पक्षपात के वशीभूत होकर लोग कौन सा अन्याय नहीं करते? यशस्वी लोग अपना सर्वस्व निछावर करके कैसे अक्षय कीर्ति को लाभ करते हैं! ये बातें संसार में सदा से चली आई हैं; सदा रहेंगी। इसी का नाम तो माया है।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते माया मेतां तरन्तिते॥



सूर्यदेव का कर्ण को इन्द्र के लिये कवच कुंडल देने से निषेध करना

निमेमि न तथा मृत्योर्यथाविभ्येऽनृतादहम्।
विशेषेणद्विजातीनां सर्वेषांसर्वदा सताम्॥
इद त्वमनुजानिहि सुरश्रेष्ठ व्रतं मम।
भिक्षते वज्रिणे दद्यामपि जीवितमात्मनः॥*

(व० प० ३०२।६, १०)

संसार में संग्रह ही दुख का कारण है और त्याग में ही सुख शांति और कीर्ति है। संग्रह से महानता का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। सब से बड़ा महान् वह है जो सबसे बड़ी वस्तु का हँसते-हँसते त्याग कर सके। लोग माता, पिता, स्त्री, पुत्र को त्याग देते हैं, युद्ध में पैसों के लिये प्राणों को भी त्याग देते हैं, किन्तु जान बूझ कर अपने शरीर में से ऐसी वस्तु को निकाल कर दे देना जिसके निकलने से दाता की मृत्यु अवश्यम्भावी है, यह बहुत ही कठिन बात है। भूल में, असावधानी में, चाहे मनुष्य का सर्वस्व चला जाय, किन्तु जानबूझ कर

---

* सूर्यदेव ने जब कर्ण को इन्द्र के लिये कवच कुंडल देने से मना किया तब कर्ण बोले—'भगवन ! मैं उतना मृत्यु से नहीं डरता जितना कि असत्य से डरता हूँ। विशेष कर सज्जन ब्राह्मण मुझसे जो भी माँगने आये, मैं उन्हें सब कुछ दे दूँगा। हे सूर्यदेव ! आप मेरे व्रत को समझ लें. यदि इन्द्र आकर मेरे प्राण भी माँगे तो मैं दे दूँगा। मैं मांगने वाले को भी विमुख न लौटाऊँगा।'

धन का त्याग करने वाले कोई विरले ही होते हैं। अनजान में चाहे हमारे ऊपर वज्र भी आकर क्यों न गिर पड़े, किन्तु समझ सोच कर अपने आप शरीर में काँटा चुभाने से भी कष्ट होता है और इसके लिये बड़े-बड़े शूरवीर भी हिचकते हैं। किन्तु जिन्होंने सत्य को ही अपना व्रत बना रखा है, जो अकीर्ति और असत्य की अपेक्षा मृत्यु को तुच्छ समझते हैं, वे सत्य की रक्षा के लिये, अपनी निर्मल शाश्वत कीर्ति के लिये सबकुछ कर सकते हैं। 'दुस्त्यजं किं धृतात्मानाम्' धैर्यवान पुरुषों के लिये ऐसी कौन सी वस्तु है जिसका वे त्याग न कर सकें?

धर्मराज युधिष्ठिर जब रात्रि दिन कर्ण के बल-वीर्य का स्मरण करके व्याकुल रहने लगे, तब देवराज इन्द्र ने लोमश ऋषि के द्वारा संदेश भिजवाया कि 'आप चिन्ता न करें, मैं अर्जुन की भलाई के लिये सब कुछ करूँगा। जिस कर्ण की आपको सदा चिन्ता रहती है, उसे परास्त करने का मैंने उपाय सोचा है।' इन्द्र ने क्या उपाय सोचा होगा, धर्मराज यह सब नहीं जानते थे। उनकी चिन्ता बनी ही रही। इधर देवराज इन्द्र इस घात में रहे कि जैसे बने तैसे कर्ण के दिव्य कुंडल, कवचों को उसके शरीर से पृथक् करना चाहिये। जब तक उसके शरीर पर कुंडल कवच हैं, तब तक संसार में उसे कोई जीत नहीं सकता।

भगवान ने संसार में पिता पुत्र का सम्बन्ध कैसा ममतापूर्ण बनाया है। पिता को पुत्र के प्रति इतना मोह, ऐसा ममत्व न हो तो यह संसार नरक हो जाय। पिता चाहे कैसा भी पतित हो, उसकी इच्छा रहती है—मेरा पुत्र यशस्वी हो।

सच्चा पिता अपने पुत्र का निरंतर कल्याण ही सोचता रहता है। वह अपने मोह को, अपने हृदय के स्नेह को पुत्र पर

प्रकट नहीं होने देता, किन्तु उसकी आंतरिक अभिलाषा सदा उसके मंगल के ही लिये रहती है। पुत्र के मुख में कितना आकर्षण है, बेटे का मुखदर्शन कितना सुखद है, पुत्र को शिक्षा देने में डाँटने-डपटने और उसे कर्तव्य बताने में कितना रस, कैसा महान आनंद आता है इसे बिना पिता बने कोई अनुभव नहीं कर सकता। ममता ही बंधन का कारण है। मोह ही संसार है। यदि इस पृथ्वी पर माता, पिता, भाई-बंधु से मोह न हो तब तो संसार का अत्यन्ताभाव ही है। मोह के क्षय का नाम ही मोक्ष है। किन्तु मोह का क्षय होना अत्यन्त ही कठिन है। मनुष्य ही नहीं देवता भी मोह के वशीभूत होकर ऐसे-ऐसे घृणित, निंदित और लज्जास्पद कार्य करते हैं कि जिन्हें स्मरण करके भगवान की मोहमयी माया की प्रबलता का अनुमान होता है।

अर्जुन इन्द्र के पुत्र थे। उन्हें इस बात की सदा चिंता लगी रहती थी कि अर्जुन सदा विजयी हो। दिव्यास्त्र देकर भी देव-राज शांत नहीं हुए। उन्हें कर्ण के दिव्य कुंडल और कवचों से सदा खटका ही बना रहता था। उन्होंने अपने मनमें सोचा—'कर्ण की प्रतिज्ञा है कि मेरे पास जो भी मनुष्य जिस वस्तु की याचना करने आवेगा उसे मैं मना नहीं करूँगा। यह प्रतिज्ञा कहने भर को ही नहीं है, वह अक्षरशः उसका पालन भी करता है। आज तक कोई उसके पास से भग्नाशा, विमुख होकर नहीं लौटा। ब्राह्मणों ने आज तक उससे जो भी कुछ माँगा है, उसने दिया है। यदि ब्राह्मण वेष में जाकर मैं उनसे कवच कुंडल माँगू तो वह मना नहीं करेगा। इसके अतिरिक्त उसके शरीर से कवच कुंडल पृथक् करने का दूसरा साधन कोई नहीं। जिन कुंडलों में से सदा अमृत टपकता रहता है, जो मेरी

माता अदिति से सूर्य को प्राप्त हुए थे और सूर्य ने कर्ण को दिये थे, उन्हें लड़कर बलात्कार कर्ण से कोई छीन नहीं सकता। यह सब सोच-समझ कर इन्द्र ने ब्राह्मण वेष से ही कवच कुंडल माँगने के लिये कर्ण के पास जाने का निश्चय कर लिया।

इधर देवराज के मन की बात सूर्यदेव समझ गये। उन्हें भी तो पुत्र का स्नेह था। वे देवराज की इस क्रूर भावना से दुखी हुए। पुत्र-स्नेह से उनका हृदय भर आया। उन्हें यह उचित जान पड़ा कि वे अपने पुत्र को इस षडयन्त्र की सूचना दे दें; इन्द्र की धोखेबाजी समझा दें, जिससे कर्ण ठगा न जाय इन्द्र तो मायावी हैं ही, उनकी धोखेबाजी में पड़ कर मेरे पुत्र का सर्वनाश क्यों हो? जब वे अपने पुत्र की भलाई के लिये ऐसा नीच, ऐसा घृणित लोकनिंदित काम करने को तैयार हैं, तो उसकी सूचना देने में, अपने पुत्र को सावधान करने में मुझे क्या दोष लगेगा?

यही सब सोचकर सूर्यदेव ने ब्राह्मण वेष में रात्रि के समय कर्ण को दर्शन दिये। मनस्वी कर्ण अपनी स्वच्छ धवल दुग्ध फेन के समान सफ़ेद शैय्या पर सुखपूर्वक शयन कर रहे थे। उसी समय स्वप्न में उन्हें एक परम तेजस्वी ब्राह्मण दिखाई दिये। कर्ण ने उनका स्वागत-सत्कार किया। तब ब्राह्मण वेष-धारी सूर्य ने कहा—'बेटा कर्ण, मैं तुम्हारे हित के लिये एक बात कहने आया हूँ। तुम मेरी बात मानोगे।'

कर्ण ने कहा—'मैं ब्राह्मणों की चरण धूल को सदा मस्तक पर चढ़ाता हूँ। मेरे आराध्य, मेरे पूज्य, माननीय और सर्वस्व ब्राह्मण ही हैं। विप्रदेव! मेरे लिये क्या आज्ञा है?' ब्राह्मण ने कहा—'देखो बेटा, देवताओं के राजा ब्राह्मण वेष धारण करके तुम्हें छलने आवेंगे। वे तुमसे तुम्हारे दिव्य कुंडल, कवच माँगेंगे।

तुम मेरी इस बात को मान लो; चाहे वे कितना भी प्रयत्न करें तुम अपने कवच कुंडल उन्हें कदापि मत देना।'

'ब्राह्मण को मांगने पर मत देना।' ये शब्द सुनते ही कर्ण चौंक पड़े। यह तेजस्वी व्यक्ति कौन है? जो मुझे अपने धर्म से विचलित कर रहा है। सत्य से हटानेवाला, प्रतिज्ञा से छुड़ानेवाला यह व्यक्ति कौन है? कहीं साक्षात् धर्म ही तो मेरी परीक्षा नहीं ले रहे हैं! यह संदेह उत्पन्न होने पर कर्ण ने नम्रतापूर्वक पूछा—'भगवन्! आप कौन हैं? इतने तपस्वी होकर आप मेरे हित के लिये इतने चिंतित क्यों हैं? पुत्र की तरह स्नेह प्रकट करने वाले और मेरे कल्याण की बात सोचने वाले आप कोई देवता प्रतीत होते हैं। पहिले मैं आपका परिचय प्राप्त कर लूँ, तब आपकी बातों का उत्तर दूँगा।'

सूर्यदेव ने कहा—'बेटा कर्ण, मैं तेरा पिता सूर्य हूँ। तेरे कल्याण के लिये, तेरी दीर्घायु के लिये ही मैं तुझसे ये बातें कह रहा हूँ। तू मेरी बातों पर संदेह न कर। मैं जो कहता हूँ उसे तू मान ले, इसी में तेरा कल्याण है।'

अत्यंत विनीत भाव से कर्ण ने कहा—'मैं देवाधिदेव भगवान् सविता के चरणों में मस्तक नवाकर बार बार प्रणाम करता हूँ। आज मैं धन्य हुआ, आज मेरा जीवन सफल हुआ। अब मैं कृतार्थ हो गया जो तीनों लोकों के स्वामी मेरे कल्याण के लिये इस प्रकार चिंतित हैं। किन्तु मैं अत्यन्त विनीत भाव से आपके चरणों में निवेदन करता हूँ कि प्रभो! मुझे मेरी प्रतिज्ञा से आप न डिगाइये। मुझे सत्य से विचलित न कीजिये।'

सूर्यदेव ने अत्यन्त आश्चर्य के साथ कहा—'तुम यह कैसी बातें कर रहे हो? इसमें असत्य की कौन-सी बात है? प्रतिज्ञा से

तुम विचलित कहाँ हुए ? तुम्हारी प्रतिज्ञा तो ब्राह्मणों के लिए है, न कि कपटी छली और छद्मवेश धारियों के लिये।

कर्ण ने कहा—'भगवन्! आप ठीक कहते हैं, किन्तु इन्द्र तो मेरे पास ब्राह्मण वेष से ही आवेंगे। उन्हें मैं मना कैसे कर सकता हूँ।'

सूर्यदेव ने अपनी बात पर दृढ़ता प्रकट करते हुए कहा—'तुम अभी बच्चे हो, अपना हित अहित नहीं समझते। तुम्हें इसके परिणाम का पता नहीं। कवच कुंडल देने से तुम्हें अर्जुन युद्ध में मार डालेगा। कवच कुंडलों के रहते हुए संसार में तुम्हें कोई मार नहीं सकता।'

कर्ण ने कहा—'स्वामिन्। परिणाम चाहे जो हो, मैं माँगने वाले से मना नहीं कर सकता। आप अर्जुन से तनिक भी न डरें। मेरे पास बड़े-बड़े दिव्यास्त्र हैं। मैं युद्ध में अर्जुन को पछाड़ूँगा। आप मुझे मेरे बल पर छोड़ दें।'

सूर्यदेव ने फिर कहा—'तुम जान बूझकर बेटा! मौत को मोल मत लो। मेरी बात मान जाओ। क्या तुम मेरा इतना भी आदर नहीं करते ?'

कर्ण ने उनके चरणों में मस्तक टेक दिया और भरे हुए कंठ से कहा—'पिताजी! मैं समस्त देवताओं में आपको श्रेष्ठ समझता हूँ। जितना आदर मैं आपका करता हूँ, उतना दूसरे किसी भी देवता का नहीं करता। फिर भी मैं अपनी प्रतिज्ञा से विचलित न हूँगा। ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र यदि मेरे प्राण भी माँगे तो मैं दूँगा; फिर कवच कुंडल की बात ही क्या है ? मैं अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर अपयश का भागी न बनूँगा। अकीर्ति की अपेक्षा मुझे मृत्यु प्रिय है। सत्य की अवहेलना करके अपयश

के माँग जाने से मैं मृत्यु को हजार गुनी श्रेष्ठ समझता हूँ। आप के कहने से मैं सब कुछ कर सकता हूँ। जलती हुई अग्नि में कूद सकता हूँ, किन्तु अपनी प्रतिज्ञा को नहीं तोड़ सकता। याचक ब्राह्मण की आशा को भग्न नहीं कर सकता; माँगने वाले से मना नहीं कर सकता हूँ।'

सूर्यदेव का समस्त परिश्रम विफल हुआ। किसी तरह भी कर्ण ने उनकी बात नहीं मानी। बहुत सोच समझ कर उन्होंने कहा—'बेटा, मैं तेरा पिता हूँ, पितृ-स्नेह से मैं तुझसे ये बातें कह रहा हूँ। तू मेरे वीर्य से कुन्ती के गर्भ में उत्पन्न हुआ है। इसीलिये मेरा तुझ पर अधिकार है।'

कर्ण ने कहा—'आप मेरे गुरु, पिता, देवता, इष्ट और सर्वस्व हैं। मैं आप का दास, किंकर, पुत्र और भक्त हूँ। किन्तु मैं इन्द्र के माँगने पर अपने कुंडल कवच उन्हें अवश्य दूँगा। इससे मरने पर संसार में मेरी कीर्ति रहेगी और इन्द्रकी अपकीर्ति होगी। मैं प्राण देकर कीर्ति मोल लेनेवाले सौदे को सस्ता समझता हूँ। उसमें मुझे ही लाभ अधिक होगा। इन्द्र मुझे ठगने आवेंगे किन्तु वास्तव में ठगे वे ही जायेंगे।'

सूर्यदेव ने जब देखा कि मेरी बात कर्ण किसी भी तरह मानने को तैयार नहीं, तब उन्होंने कहा—'अच्छा, यदि तू नहीं ही मानता है, तो इन्द्र को अपने कवच कुंडल दे देना; किन्तु उसके बदले में तू भी उनसे एक अमोघ शक्ति माँग लेना, जो कभी भी व्यर्थ नहीं जाती। समय आने पर तू उसके द्वारा अर्जुन से अपने प्राणों की रक्षा तो कर सकेगा।

कर्ण ने सूर्यदेव की यह बात मान ली। उसी समय ब्राह्मण वेषधारी सूर्य अन्तर्धान हो गये। प्रातः उठने पर कर्ण को बड़ा

आश्चर्य हुआ। सन्ध्या करने के समय उसने सूर्यदेव से रात्रि के सपने की सब बातें कह सुनाईं। सूर्य-मंडल से आवाज आई 'हाँ, ये सब बातें मैंने ही स्वप्न में तेरे कल्याण के लिये कहीं थीं।' अब तो कर्ण इस प्रतीक्षा में रहने लगे कि देवराज इन्द्र कब आते हैं और कब उनसे मेरी बातें होती हैं।



कर्ण 'कर्ण' कैसे कहलाये

ततश्छित्त्वा कवचं दिव्यमंगात्, तथैवार्द्रं प्रददौ वासवाय।
तथोत्कृत्य प्रददौ कुंडले ते कर्णात् तस्मात् कर्मणातेन कर्णः॥*
(व० प० ३११।३८)

जब मनुष्य के मन में माँगने की इच्छा होती है, तब उसके सभी गुण संकुचित हो जाते हैं। नीतिकारों ने भिक्षुक को तृण से भी हल्का बताया है। बलि के यज्ञ में माँगते समय भगवान को भी अपना छोटा रूप धारण करना पड़ा था। आशा ही दुख का कारण है। आशा कभी शांत नहीं होती। जिन्होंने आशा का त्याग कर दिया है, उनके मन से दीनता चली जाती है। वे किसी के सामने गिड़गिड़ाते नहीं और न उन्हें किसी को प्रसन्न करने के लिये असत्य की शरण लेनी पड़ती है। दीनता चापलूसी, भय, क्षुद्रता ये सब तो आशा में, याचना में, लोभ में ही हैं। लोभ का कारण मोह है। मोह से ही लोभ उत्पन्न होता है और समस्त पापों का बाप लोभ ही है। लोभी पुरुष किसी की ओर निर्भय होकर देख नहीं सकता। उसे सदा सर्वदा, सर्वत्र शंका ही बनी रहती है।

महात्मा कर्ण का नियम था, वे बहुत प्रातः अरुणोदय में ही उठते। शौचादि से निवृत्ति होकर भगवती भागीरथी के भव्य

---

* कर्ण का पहिले नाम वसुषेण था। जब उन्होंने अपने शरीर से रक्त से भीगे दिव्य कवच और कुण्डल काटकर देवराज इन्द्र को दिये तभी से उस कर्म के कारण उनका नाम 'कर्ण' पड़ गया।

कमनीय कूल पर चले जाते। वहाँ जाकर वेद मंत्रों द्वारा विधिवत् स्नान करते। स्नान करके सुंदर स्वच्छ रेशमी वस्त्र धारण करते और फिर सूर्य के सम्मुख खड़े हो जाते। जबतक सूर्य भगवान उनको पीठ के पीछे नहीं आ जाते तब तक वे खड़े खड़े गायत्री मंत्र का जप करते रहते। जब सूर्य ढल जाते, तीसरा प्रहर हो जाता, तब वे अपने भवन को जाते। उस समय जो भी ब्राह्मण जिस वस्तु की याचना करता, वे उसे देते; कभी किसी को मना नहीं करते।

कवच कुंडल माँगने के लिये देवराज इन्द्र भी ब्राह्मण का वेष धारण करके कर्ण के पास आये। कर्ण उस समय जप कर रहे थे। ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र उनकी प्रतीक्षा में ठहरे रहे। जब कर्ण अपना जाप समाप्त कर चुके, तब देवराज ब्राह्मण के वेष में उनके समीप गये। महात्मा कर्ण ने उनका स्वागत सत्कार किया। चरण वन्दना करके उनकी पूजा की और आने का कारण पूछते हुए कहा—'द्विजवर! मैं आपका अभिनंदन करता हूँ। आपने मुझे दर्शन देकर बड़ी कृपा की। कहिए, मैं आपका कौनसा प्रिय कार्य करूँ?'

छद्मवेषी ब्राह्मण ने कहा—'मैं आपसे कुछ याचना करने आया हूँ। आप दानियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। आपकी ख्याति तीनों लोकों में फैली हुई है। आपके यश से जगत् व्याप्त है।'

कर्ण ने कहा—'भगवन्! जो आपको माँगना हो, उसकी मुझे आज्ञा कीजिये। आप सुवर्ण चाहते हों तो मैं आपको इच्छानुसार सुवर्ण दूँगा। गाँवों की इच्छा हो तो समृद्धिशाली जितने आप माँगेंगे उतने गाँव दूँगा। कन्याओं की जरूरत हो तो मैं सुन्दरी सुवर्ण के अलंकारों से अलंकृत, दास दासियों से

युक्त विप्र-कन्यायें दूँगा। आपको जो अभीष्ट वस्तु हो वह मुझसे निःसंकोच भाव से माँग लीजिये।'

ब्राह्मण ने कहा—'मुझे इनमें से कुछ भी नहीं चाहिए। मुझे जो वस्तु चाहिए, उसे संभव है आप न दे सकें।'

कर्ण ने कहा—'हे द्विज श्रेष्ठ! आप यह कैसी भूली-भूली सी बातें कर रहे हैं? कर्ण को ब्राह्मण के लिये देने को कोई भी वस्तु अदेय नहीं है। आप माँगिये?"

ब्राह्मण ने कहा—'हाँ, यह तो मुझे विश्वास है; किन्तु वह वस्तु आपको अत्यंत प्रिय है। मैं आपके इन दिव्य कवच और कुण्डलों की याचना करने आया हूँ। क्या आप दे सकेंगे?' यह कहते कहते इन्द्र का मुंह छोटा पड़ गया। कर्ण मन ही मन मुसकराये और फिर बोले—'आप ब्राह्मण होकर इन वस्तुओं का क्या करेंगे? लाखों, करोड़ों गौऐं जिनके सींग सुवर्ण से मढ़े हों; जिन पर बहुमूल्य सुवर्णमय रेशमी झूल पड़ी हो उन्हें मैं आपको दूँगा। लाखों, करोड़ों दास-दासी, अनंत सुवर्णराशि, हजारों समृद्धिशाली गाँव मैं आपकी भेंट करूँगा। आप इन सब को लेकर आनंद से सुख भोगिये। मेरे यहाँ से संतुष्ट होकर जायँ किन्तु ये मेरे दिव्य कवच कुण्डल न माँगें।'

ब्राह्मण ने कहा—'मुझे यह सब कुछ भी नहीं चाहिए। मैं तो पहिले ही कहता था. 'आप दे न सकेंगे, मुझे तो आपके कवच कुण्डलों की ही आवश्यकता है।'

कर्ण ने अपनी हँसी को रोक कर फिर कहा—'देखिये! इन दिव्य कवच, कुण्डलों के देने से शत्रु मुझे युद्ध में मार डालेंगे। इन वस्तुओं को धारण किये ही मैं माता के गर्भ से

उत्पन्न हुआ हूँ। ये मेरे शरीर में खाल की तरह चिपटे हुए हैं, इन्हें मैं कैसे दे सकता हूँ ? आप समस्त पृथ्वी का निष्कंटक राज्य मांगें तो मैं अभी आपको दे दूँगा।'

ब्राह्मण ने कहा—'मैं पृथ्वी लेकर क्या करूँगा ? यदि आप को देना हो तो कवच कुण्डल दे दीजिये; न देना हो तो मना कर दीजिये। व्यर्थ वाद-विवाद क्यों करते हैं ?'

अब कर्ण अपनी हँसी न रोक सके ! वे ठहाका मार कर हँस पड़े और हँसते हँसते बोले—'देवराज, मैं आपकी सब चालाकी समझता हूँ। मुझे पहले से ही पता था कि आप मेरे पास कवच कुण्डल माँगने आवेंगे। मैं मुकरने वाला थोड़े ही हूँ। जो आप मागेंगे वह मैं दूँगा, किन्तु कवच कुण्डल लेकर ही चले जायँगे या मुझे भी कुछ आत्मरक्षा की वस्तु देंगे ?'

इन्द्र का चेहरा फक पड़ गया, किन्तु स्वार्थी निर्लज्ज हो जाता है। 'अर्थी दोषं न पश्यति', 'सूझ जुआरिहिं आपन दाऊँ'। स्वार्थी को अपने प्रयोजन से काम। इन्द्र कर्ण की यह बात सुनकर सिटपिटा गये और अपनी झेंप मिटाने के लिये बोले—'तुम से यह बात किसने की ? देवता भी मेरे अभिप्राय को नहीं जानते थे। अवश्य ही तुम्हारे पिता सूर्य ने तुम्हें सचेष्ट कर दिया है। वे ही मेरे मन की बात को जान गये थे। अच्छी बात है, कवच कुंडल तो मैं लेकर ही जाऊँगा। तुम मेरे बज्र के सिवाय और जो माँगना चाहते हो मुझसे माँग लो।'

कर्ण ने कहा—'मैं कवच-कुंडल देने से मना थोड़े ही करता हूँ, किन्तु इनके देने से शत्रु मुझे रण में मार डालेंगे। उनसे बचने के लिये मुझे भी आप कुछ दें। मुझे आपके वज्र की इच्छा

नहीं है। आप के पास जो अमोघ शक्ति है, जो हजारों, लाखों शत्रुओं को मारकर फिर आपके पास लौट आती है उस शक्ति को आप मुझे दीजिये। तब मैं आपको अपने कवच कुंडल दूंगा।'

इन्द्र ने क्षण भर सोच विचार किया और फिर बोले—'मैंने तुम्हें देने का वचन दिया है, मैं अवश्य ही दूँगा। किन्तु वह शक्ति मेरे हाथ से सहस्रों शत्रुओं को मारती है और फिर मेरे पास लौट आती है, तुम्हारे हाथ से छूटकर वह केवल एक शत्रु को ही मारेगी और फिर तुम्हारे पास न लौटकर वह मेरे पास आ जायगी।'

कर्ण ने कहा—'अच्छी बात है, एक ही शत्रु को सही; मुझे एक ही शत्रु को मारना है। आप मुझे कभी व्यर्थ न होने वाली उस अमोघ शक्ति को दे दीजिये।'

इन्द्र ने कहा—'मैं समझ गया तुम अर्जुन को मारना चाहते हो, किन्तु तुम उसे मार नहीं सकते। उसकी रक्षा अचिन्त्य-अनादि सर्वेश्वर श्रीकृष्ण कर रहे हैं।'

कर्ण ने कहा—'यह सब मैं देख लूँगा। आप मुझे अपनी शक्ति तो दें।'

क्षुद्र पुरुषों को सदा क्षुद्र बातें ही सूझती हैं। इन्द्र ने अपने मन में सोचा—'संभव है,इस शक्ति को पाकर यह अभी वन में जाकर अर्जुन को मार आवे।' यह सब विचार कर उन्होंने कहा—'एक बात और है। यदि अन्य अस्त्रों के रहते हुए, बिना प्राण-संकट उपस्थित हुए, अकारण, युद्ध के बिना यदि तुम इस शक्ति को छोड़ोगे तो वह शक्ति उलटी होकर तुम्हारे ही प्राणों का नाश कर देगी।'

कर्ण का तो यह अभिप्राय था ही नहीं। वह तो वीर था। अन्याय से, अधर्म से वह कभी भी अपने शत्रु को जीतना नहीं चाहता था। उसने कहा—'आप विश्वास रखिये, मैं अकारण, विना प्राण-संकट उपस्थित हुए इस शक्ति का प्रयोग न करूँगा।'

देवराज ने कहा—'तब तुम अपने कवच कुंडल मुझे दे दो और यह शक्ति मुझसे ले लो।'

कर्ण ने कहा—'मैं तैयार हूँ, किन्तु एक वरदान आप से और चाहता हूँ। ये चीजें जन्म के साथ ही मेरे शरीर में उत्पन्न हुई हैं। चर्म की तरह ये मेरे शरीर से चिपटी हुई हैं। इन्हें काटने से मेरा शरीर विकृत न हो, मेरे अंग कुरूप दिखाई न दें।'

इन्द्र ने कहा—'मैं तुम्हें वरदान देता हूँ, इन चीजों के पृथक करने पर भी तुम्हारा शरीर पहिले की ही तरह दिव्य बना रहेगा। तुम अपने पिता सूर्यनारायण की तरह प्रकाशमान होकर चमचमाते रहोगे।'

इतना सुनते ही कर्ण ने एक तीक्ष्ण तलवार उठाई और उसी समय अपने शरीर में चिपटे हुये कवच को काट कर रक्त से सने हुए उस कवच को तथा कुंडलों को देवराज इन्द्र को दे दिये। जिस समय कर्ण उन्हें अपने शरीर से कतर रहे थे, उस समय उनका चेहरा चमक रहा था, उस पर विषाद की एक रेखा भी नहीं थी और न उनके मन में किसी प्रकार का भय, खेद या घबड़ाहट थी। वे बड़ी प्रसन्नता से उसे कतरते जाते थे और हँसते जाते थे। उनके इस दुष्कर कार्य को देखकर सभी प्राणी आश्चर्य-चकित हो गये। देवताओं ने उनके ऊपर फूल बरसाये, अप्सराओं ने नृत्य किया, गंधर्वों ने नगाड़े

बजाये और समस्त प्राणियों ने जय-जयकार किया। इससे पहिले उनका नाम वसुषेण था, शरीर से कवच कुंडल कतरने के कारण संसार में उसी दिन से वे कर्ण कहलाये।

महावीर कर्ण! महात्मा वसुषेण! तुम धन्य हो। ऐसा दुष्कर कर्म तुम्हारे सिवाय दूसरा कौन कर सकता है? यद्यपि तुम इन्द्र द्वारा ठगे गये और इसीसे शत्रुओं ने छल कर तुम्हें मार डाला, किन्तु मर कर भी तुम अमर हो। तुम्हारी कभी न मरनेवाली कीर्ति जब तक संसार में तुम्हारे पिता सूर्य भगवान हैं तब तक इसी प्रकार निर्मल बनी रहेगी। तुम मर कर भी अमर हो, पराजित होने पर भी अजित हो, न रहने पर भी विद्यमान हो। तुम्हारा त्याग, सत्यवादिता, दृढ़प्रतिज्ञता ये सभी गुण प्रशंसनीय, श्लाघनीय और अनुकरणीय हैं। शत्रु भी आपके गुणों की श्लाघा करते हैं। हे वीर! तुम ठगे नहीं गये किन्तु इन्द्र को ही तुमने ठग लिया। पिता सूर्य तुम्हारी इस सत्यप्रियता से जितने प्रसन्न हुये होंगे, उतने तब प्रसन्न न होते जब तुम प्राणों के मोह से इन्द्र को कवच, कुंडल देने से मना कर देते। पुत्र की ममता दूसरी बात है और गुणों का आदर दूसरी वस्तु है।

देवराज इन्द्र कर्ण के कवच कुंडल और उन्हें अपनी अमोघ शक्ति देकर अपने लोक को चले गये। इस घटना से कौरवों को शोक और पांडवों को हर्ष होना स्वाभाविक ही था, किन्तु उस धनुर्धर स्वाभिमानी महात्मा को न हर्ष हुआ न शोक। वह उसी तरह अपने बल पर भरोसा रखकर सत्य पर अड़ा रहा और सत्य पर दृढ़ रहते हुये हँसते-हँसते उसने रणभूमि में प्राण त्याग कर सद्गति पाई।

—:o:—

अज्ञातवास में अर्जुन और कर्ण

यद्येप राजा मत्स्यानां यदि वीभत्सुरागतः।
अहमावारयिष्यामि वेलेव मकरालयम् ॥*

(वि० प० ४८।२)

जय-पराजय, संयोग-वियोग, सुख-दुख, मान-अपमान, ये रथ के पहिये की तरह सदा ऊपर नीचे आते जाते रहते हैं। सदा न कोई दुःखी रहता है, न सर्वदा सुखी। भगवान जनार्दन को छोड़कर सदा जय भी किसी की नहीं होती। आत्मा को छोड़ कर सभी के साथ संयोग-वियोग का भय लगा हुआ है। निर्भय तो एक श्रीकृष्णाचरण हैं। जिन्होंने अपने रथ पर मधुसूदन को बैठा लिया है, जिन्होंने अपने घोड़ों की डोरी श्यामसुन्दर के हाथों में थमा दी है वही निश्चिन्त है, निर्भय है, वेखटके और निर्द्वन्द है।

पांडवों ने अपनी प्रतिज्ञानुसार १२ वर्ष वन में बिता दिये। तेरहवें वर्ष में वे अज्ञातवास की तैयारियाँ करने लगे। उन्होंने अज्ञातवास के वर्ष को छिपकर छद्म वेष में विराट राजा के यहाँ विराट् नगर में बिताने का निश्चय किया। विराट् नगर में जाकर धर्मराज तो जूआ खेलने वाले सभासद बने, भीमसेन

---

* बृहनला के वेष में आते हुए अर्जुन को देखकर ललकार कर कर्ण बोले—'यह आने वाला व्यक्ति चाहे विराट हो या अर्जुन हो। मैं अकेला ही इसे युद्ध में इस प्रकार रोकूँगा जैसे समुद्र की उत्ताल तरङ्गों को समुद्र के तट की भूमि रोक लेती है।"

ने अश्वपालन की नौकरी कर ली। सहदेव ने गौ-पालन की और नकुल ने घोड़ों की देख-रेख करने का काम किया। अर्जुन ने हिजड़े का वेष बनाकर और अपना नाम बृहन्नला बताकर राजकुमारियों को नाचना-गाना सिखाने की नौकरी की। इस प्रकार सभी ने अपने को पांडवों का सेवक बताकर, असहाय कहकर राजा विराट से प्रार्थना की और विराटराज ने सभी का यथोचित सम्मान करके उनके अनुरूप काम दे दिया। द्रौपदी राजभवन में दासी सैरन्ध्री का काम करने लगी। राजा विराट का एक बड़ा बलवान कीचक नाम का साला था। वही राज्य का सेनापति तथा सर्वस्व था। उसने अपनी वीरता से त्रिगर्त आदि देशों को कई बार हराया था। उसने द्रौपदी के ऊपर कुदृष्टि की इसीलिये रात्रि में भीमसेन ने उसे मार डाला। उसके मारे जाने पर मत्स्यदेश में सर्वत्र हाहाकार मच गया। ख्याति यह हुई कि उस बली को रात्रि में गन्धर्वों ने मार डाला।

इधर दुर्योधन पूरी शक्ति से पांडवों का पता लगाने का प्रयत्न कर रहा था। उसने देश-देशांतरों में दूर-दूर बहुत चतुर गुप्तचर भेजे; किन्तु पांडव तो हस्तिनापुर के समीप ही छिपे हुए थे। दूतों द्वारा दुर्योधन ने दुष्ट कीचक की मृत्यु की बात सुनी तब त्रिगत देशके राजा सुशर्मा ने अपना पूर्व वैर स्मरण करके कौरवों को सम्मति दी कि अब विराट्राज बल-हीन बन गये हैं। अतः अब उन्हें निर्बल समझ कर लूट लेना चाहिये। सब की सम्मति होने पर सुशर्मा ने चढ़ाई करदी। विराट् से बड़ा युद्ध हुआ। पांडवों की सहायता से महाराज विराट् ने सुशमा को हरा दिया। फिर कौरवों ने विराट् नगर पर चढ़ाई की और विराट की असंख्य गौओं को लूटकर भाग गये। गौओं को छुड़ाने के लिये अर्जुन विराट्-पुत्र उत्तर के सारथी बनकर युद्धभूमि में गये।

अर्जुन की चाल-ढाल और उनकी वीरता को देखकर सभी को संदेह हो गया कि अवश्य ही यह बृहन्नला के वेष में वीरवर अर्जुन हैं। सब आपस में काना फूसी करने लगे—'अर्जुन ही मालूम पड़ते हैं। ये अपने चोखे बाणों से सब को घायल करके अवश्य ही गौओं को छीन ले जायेंगे।'

सब की ऐसी बातें सुनकर वीरवर कर्ण ने कहा—'यह नपुंसक के वेष में चाहें अर्जुन हो या देवराज इन्द्र। मैं युद्ध में इसका सामना करूँगा। आप लोग चुपचाप बैठकर युद्ध देखिये। आज मैं अर्जुन को रणभूमि में घायल कर दूंगा।'

अस्तु, बात बहुत बड़ी है। अर्जुन का कर्ण के साथ घोर युद्ध हुआ। दोनों वीर थे। दोनों के पास दिव्य अस्त्र थे। दोनों ही उत्साह, पराक्रम और शूर-वीरता में अद्वितीय थे। दोनों में बड़ी देर तक घमासान युद्ध होता रहा। दोनों वीरों के इस अपूर्व युद्ध को देखने के लिये दुर्योधन, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, पितामहभीष्म आदि सभी कौरव वहाँ आगये और कर्ण की प्रशंसा करने लगे। दोनों वीर एक दूसरे को घायल करते और बड़े जोरों से सिंहनाद करते। अंत में कर्ण अर्जुन के बाणों से पीड़ित होकर युद्ध भूमि से हट गये। उनके हटते ही दुर्योधन, पितामह तथा आचार्य आदि अन्य वीरों से अर्जुन युद्ध करने लगे। जब अर्जुन विराट-पुत्र उत्तर के सारथी बनकर चले थे तब उत्तर की बहिन उत्तारा ने जिसे अर्जुन नाचना गाना सिखाते थे अर्जुन से कहा था, 'युद्ध में से कौरवों के सुन्दर-सुन्दर वस्त्र लूटकर मेरी गुड़ियों के लिये लाना।' इसलिये अर्जुन ने एक दिव्य सम्मोहनास्त्र छोड़कर समस्त कौरव वीरों को मोहित करके अचेत कर दिया और उत्तर से उन सब के शरीर से कपड़े लाने को

कहा। अचेत पड़े हुए उन वीरों के शरीर से उत्तर जल्दी से जाकर सुंदर-सुंदर वस्त्र ले आया। थोड़ी देर में सभी कौरवों को होश आया। अब वे पितामह भीष्म की सम्मति से विराट् की गौओं को छोड़कर हस्तिनापुर लौट गये और अर्जुन विराट-पुत्र उत्तर को आगे करके गौओं को लौटा कर विराट् नगर में आ गये। अब तो पांडव प्रकट हो गये। महाराज विराट् ने पांडवों का बड़ा सम्मान किया। अज्ञात-वास का वर्ष भी पूरा हो चुका था। महाराज विराट् पांडवों का परिचय पाकर परम प्रसन्न हुए और उन्होंने अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन-पुत्र अभिमन्यु के साथ कर दिया।

कौरवों को पांडवों का पता चल गया। दुर्योधन ने कहा 'अभी अज्ञातवास का वर्ष पूरा नहीं हुआ है।' पांडव तथा अन्य लोगों का कहना था कि १२ वर्ष से और कई महीने अधिक हो गये हैं। इसी वाद-विवाद में बात बढ़ गई। असल में तो दुर्योधन को राज्य देना ही नहीं था। दोनों ओर से युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं।

पांडवों का पक्ष लेकर भगवान मधुसूदन द्वारिकापुरी से विराट् नगर में पांडवों के पास आये। सबने समझ लिया युद्ध किसी प्रकार रुक नहीं सकता। फिर भी किसी की इच्छा नहीं थी कि आपस में भाई-भाइयों की लड़ाई में संसार के वीरों का व्यर्थ संहार हो। अतः सभी सन्धि के लिये प्रयत्न करने लगे। महाराज विराट, द्रुपद, भगवान् श्रीकृष्ण और पांडव सभी चाहते हैं कि आपस में ही सुलह हो जाय, किन्तु जनार्दन की भीतरी इच्छा तो लड़ाने की थी। उसे अन्यथा कौन कर सकता है? ऊपर से तो वे संधि का उद्योग करते रहे। किन्तु उन्हें करना तो कुछ और था, वही हुआ।

विराट नगर में कर्ण की पराजय हुई अवश्य; किन्तु विराट् नगर का युद्ध कोई युद्ध नहीं था। वहाँ किसी को मारने या घोर युद्ध करने का संकल्प किसी का नहीं था। जिन पूज्यों पर बाण चलाने से अर्जुन महाभारत में कितने डरे हैं और उन्हें इस बात को समझाने के ही लिये भगवान् ने १८ अध्याय वाली गीता कही है। विराट नगर में उन पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण पर भी अर्जुन ने बाण वर्षा की थी। इसलिये वहाँ का युद्ध तो एक प्रकार से खेल ही था और इसीलिये अर्जुन ने किसी महारथी को मारा नहीं। असल में महाभारत का आरम्भ तो विराट् नगर से ही हो गया; किन्तु असली रूप तो उसका कुरुक्षेत्र में प्रकट हुआ।



भीष्म द्वारा कर्ण का बार बार अपमान और कर्ण प्रतिज्ञा

न्यस्यामि शस्त्राणि नजातु संख्ये, पितामहो द्रक्ष्यति मां सभायाम्।
त्वयि प्रशान्ते तु मम प्रभावं द्रक्ष्यन्ति सर्वे भुवि भूमिपालाः॥

(उ० प० ६२।१३)*

जब कोई बड़ा पुरुष किसी गुणी के पीछे पड़ जाता है और अकारण ही उसकी निन्दा करने लगता है, तब गुणवान पुरुषको बहुत बुरा लगता है । खुलकर उनका सामना भी नहीं कर सकते, सदाचार और मर्यादा का भी ध्यान रखना होता है। बड़े तो बड़े ही हैं, उनके हजार खून माफ हैं। वे जो कहें ठीक ही है। छोटों का अधिकार ही नहीं कि उनका उत्तर दें। संसार में छोटा होना ही सबसे बड़ा पाप है। अपने से छोटा कितना भी बुद्धिमान गुणी क्यों न हो, किन्तु इन बूढ़ों की दृष्टि में वह चढ़ता ही नहीं। हर बात में उनकी एक ही टेक रहती है, हमने तुमसे अधिक संसार देखा है।' यह ठीक है। अनुभव वृद्धों का ही काम आता है। चढ़ती-अवस्था में जोश अधिक होता है। और परिणाम बिना सोचे ही उसे कर डालने की शीघ्रता

---

* भीष्म के कठोर वचन सुनकर प्रतिज्ञा करते हुए कर्ण ने कहा—"अब मैं अपने शस्त्रों को रखे देता हूँ। हे पितामह ! आप जीते जी अब कभी मुझे युद्ध में अथवा सभा में न देखेंगे। आपके मरने पर मेरे प्रभाव को ये समस्त पृथ्वी मंडल के राजा देखेंगे कि उस समय मैं क्या करता हूँ !"

होती है। बृद्ध लोग सब आगे पीछे की सोचते हैं। इसी से सदा वृद्ध और युवकों में खटपट बनी रहती है।

पितामह भीष्म जहाँ भी थोड़ा अवसर देखते वहीं कर्ण को आड़े हाथ लेते। वे सभा में कर्ण को बोलने ही नहीं देते। उन्होंने कर्ण को जहाँ देखा वहीं पांडवों की और विशेष कर अर्जुन की प्रशंसा आरम्भ कर दी। जैसे कोई आदमी किसी बात से चिढ़ता है तो लड़के उसे वही बात कहकर बार बार चिढ़ाते हैं। बस, ठीक यही बात पितामह भीष्म और कर्ण के सम्बन्ध में थी। चाहे प्रसंग न भी हो, कर्ण को जहाँ उन्होंने देखा वहीं अर्जुन के दिव्य-अस्त्रों की, उसके स्वर्ग जाने की, उसकी वीरता की राम-कहानी ले बैठे। बस इसे सुनते ही कर्ण आग-बबूला हो उठते। जहाँ कर्ण ने एक शब्द मुँह से निकाला वहीं पितामह झपट कर उन्हें इस तरह आड़े हाथों से लेते जैसे बिल से निकलते ही चूहे पर बिल्ली झपटा करती है। कर्ण के उत्तेजित होने का एक प्रधान कारण यह भी था। प्रशंसा करने से मनुष्यों का उत्साह बढ़ता है और निन्दा करने से उत्साह क्षीण होता है।

महाराज विराट ने अपने पुरोहित को धृतराष्ट्र के पास पांडवों से सन्धि करने के लिये भेजा। पुरोहित महाशय ने आकर कौरवों को खूब खरी-खोटी सुनाई। दुर्योधन और कर्ण भी वहाँ बैठे थे। बस पितामह का व्याख्यान आरम्भ हुआ—तुम लोग समझते नहीं। अर्जुन कितना बली है ? यहाँ उसका सामना करने वाला कौन है ? सब को मार गिरावेगा। भलाई इसी में है उनका भाग उन्हें दे दो। ये सब लोग तो डींग मारने वाले हैं।

कर्ण ने इतना ही कहा—'अर्जुन पर बाण हैं तो हमारे पास बाण नहीं हैं क्या ?' बस फिर क्या था; सुनाने लगे पितामह

अपना राग—'तू नीच जाति में पैदा हुआ है। तू महा कायर डरपोक है। पांडवों के पासंग की बराबर भी तू नहीं है। तू अभी कल का लड़का है। इन बातों को क्या समझे ?'

इसी तरह सभा में जब भी युद्ध की बात छिड़ती, पितामह का समस्त क्रोध कर्ण के ही ऊपर प्रकट होता। इससे पाठक यह न समझें कि मैं कोई कर्ण का पक्ष ले रहा हूँ, उनके पक्ष का समर्थन कर रहा हूँ। यह तो सभी जानते थे कि दुर्योधन का पक्ष अन्याय युक्त था। इसे महात्मा कर्ण स्वयं जानते थे। यह भी ठीक है कि बड़े की डाँट फटकार ऊपर से ही होती है, भीतर उनका अगाध स्नेह भरा रहता है। पितामह भीष्म हृदय से जितना सम्मान कर्ण का करते थे, उतना किसी का भी नहीं करते थे। उन्हें विश्वास था कि यदि यह कर्ण कंधा डाल दे, यह लड़ाई से हट जाय तो मेरे कुल का विनाश न हो। इसीलिये वे ऊपर के मन से बार-बार कर्ण को चिढ़ाते, उत्साह हीन बनाते और इसकी निन्दा करते। किन्तु वह वीर अपनी प्रतिज्ञा से तिल भर भी न हटा। पितामह बार बार धृतराष्ट्र से कहते—'हत्या की जड़ तो यह नीच सूत का लड़का ही है। यह हीन जाति में पैदा हुआ है,बढ़ बढ़ कर बातें करता है। तेरा लड़का इसी के बल भरोसे पर फूला-फूला फिरता है, किन्तु यह महा-कायर, डरपोक, निर्बल और युद्ध से भागने वाला है। यह तुम्हारे पुत्रों को बीच में ही धोखा देगा। पांडवों के हाथ से मारा जायगा। इसे किसी तरह यहाँ से हटा दो।' किन्तु कर्ण दुर्योधन के प्राण थे। कर्ण के हटाने पर दुर्योधन के पास रह ही क्या जाता ? धृतराष्ट्र चाहे जैसे हों, वे दुर्योधन को छोड़ नहीं सकते। अतः पितामह की बात का कभी-कभी धृतराष्ट्र भी अनुमोदन करते, कभी कर्ण को भी उत्तर देने से

चुप करते, किन्तु कर्ण का ही उन्हें भी भरोसा था। द्रोणाचार्य तो हमेशा भीष्म के स्वर में स्वर मिलाते। जहाँ पितामह ने कर्ण को दस उलटी सीधी सुनाईं, वहीं द्रोणाचार्य झट बोल उठते, 'पितामह बिलकुल ठीक कह रहे हैं। यह कर्ण सचमुच कायर है।' इससे कर्ण को और भी क्रोध आता।

धृतराष्ट्र ने अपनी ओर से संजय को पांडवों के पास इसलिये भेजा था कि वे जाकर पांडवों की तैयारिओं को देख आवें और शक्ति भर सन्धि का प्रयत्न करें। संजय वहाँ जाकर ऐसा उद्योग करें कि लड़ाई न होने पावे। संजय पांडवों के पास गये। उनकी सब तैयारियाँ देखकर धर्मराज से बातें करके लौट आये। आकर उन्होंने धृतराष्ट्र को बहुत खरी खोटी सुनाई और इस बात पर बहुत जोर दिया कि पांडवों का राज्य उन्हें लौटा देना चाहिये। धृतराष्ट्र एक एक करके संजय से सब बातें पूछ रहे थे। पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, दुर्योधन आदि सभा में बैठे थे। संजय सब समाचार सुना रहे थे। धृतराष्ट्र दुर्योधन को समझा रहे थे—'बेटा, लड़ाई झगड़े में कोई लाभ नहीं। पांडव का राज्य उन्हें लौटा दो और सब भाई प्रेम पूर्वक रहो।' दुर्योधन उनकी बात मानता नहीं था। उसने पांडवों का और अपना बलाबल बताकर कहा—'देखिये हमारी ओर संसार को जीतनेवाले पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा आदि महारथी हैं। उधर एक भी तो ऐसा नहीं है।'

उसी समय दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिये कर्ण भी बोल उठे। उन्होंने कहा—'राजन्! आप क्यों चिन्ता करते हैं। मैंने भगवान् परशुराम से अस्त्र सीखे हैं। उन्होंने क्रुद्ध होकर भी

मुझसे इतना ही कहा था, 'मरते समय तुम्हें अस्त्रों का ज्ञान न रहेगा।' मुझे अभी अस्त्र ज्यों के त्यों याद हैं इससे मुझे विश्वास है अभी मेरी मृत्यु नहीं है। मैं अकेला पांडवों को और उनकी सेना को जीत सकता हूं। आप सब चुपचाप बैठे रहें, केवल मैं अपने बाहुबल से पांडवों को जीत कर दिखा दूँगा! अर्जुन को मैं युद्ध में निश्चय ही मार डालूँगा।"

इतना सुनते ही पितामह भीष्म की त्योरियाँ बदल गईं। क्रोध के कारण उनके ओष्ठ फरकने लगे। माथे पर सिकुड़न पड़ गई और एक दम लाल पीले होकर कर्ण पर टूट पड़े। मूछों ही मूछों हंसते हुये वे बोले—'इस सूत-पुत्र की बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। इसके सिर पर काल मँडरा रहा है। मरने वाले चींटे के जैसे पंख निकल आते हैं, इसी तरह इसे अब बहुत अभिमान हो गया है। इस नीच से पूछो, विराट नगर में तेरी वीरता कहाँ गई थी? दुर्योधन को जब घोष यात्रा में गन्धर्वों ने पकड़ लिया था तब इसके दिव्यास्त्र गंगा नहाने चले गये थे क्या? वहाँ से हिजड़ों की तरह दुम दबा कर भागा था। अर्जुन को यह क्या मारेगा? जैसे पतंगा स्वयं ही दीपक की लोप में भस्म हो जाता है, वैसे यह भी अर्जुन के बाणों से कुत्ते की मौत मर कर औंधे सिर जमीन पर पड़ा होगा। सियार गीध रण में इसके मांस को नोच-नोच कर खायेंगे। अभी यह इतना बड़-बड़ा रहा है। जिसकी मृत्यु निकट आ जाती है, उसे वायु का प्रकोप हो जाता है। वात के कारण वह बे सिर पैर की अंट संट बातें बकता है। अर्जुन ने अब तक कितने बड़े-बड़े काम किये हैं। स्वर्ग में जाकर देवताओं से भी न होने वाला काम किया। निवात कवचों को देवराज इन्द्र भी न मार सके, उन्हें अर्जुन ने बात की बात में मार डाला। अपने बल से देवाधि-

देव महादेव को सन्तुष्ट किया। विराट नगर में समस्त कौरवों को हरा कर उनके वस्त्र छीन लेगया। वह चाहता तो सब को वहीं स्वर्ग भेज देता। किन्तु वह वीर धर्मात्मा है, अधर्म की लड़ाई वह कभी लड़ता नहीं। वन में उसने कितनी वीरता के काम किये। भीम की बराबरी कौन कर सकता है? जो बड़े बड़े वीर राक्षसों को यों ही पकड़ कर बीच से चीर देता है। संसार में अर्जुन की शूरवीरता सर्वत्र व्याप्त है। उसने बड़े बड़े पौरुष किये हैं। इस नीच सूत के छोकड़े से पूछो कि बुद्धूराज तैंने भी कहीं अपना युद्ध कौशल दिखाया है? तैंने भी कभी किसी को जीता है? देख कर्ण! मैं तेरे भले की कहता हूँ। तुझे यदि प्राण प्यारे हों, तो अभी जाकर धर्मराज युधिष्ठिर के चरणों में अपना सिर टेक दे। वे धर्मात्मा हैं, दयालु हैं तुझे अवश्य क्षमा कर देंगे। तेरे नम्र होने पर वे द्रौपदी का अपमान और वन के क्लेशों को भूल जायेंगे। तू किस बल भरोसे पर ऊँट की तरह बलबलाता है? तुझे ब्राह्मण का शाप है। परशुरामजी ने तुझसे स्पष्ट कह दिया है कि मरते समय तुझे अस्त्रों का स्मरण नहीं रहेगा। इसलिये जिन बाणों की तू धूप, चंदन और फूलोंसे रोज पूजा करता है, समर में उन सब को अर्जुन काट कर फेंक देगा। तुझे सबसे अधिक घमंड उस इन्द्र की अमोघ शक्ति का है सो मैं तुझसे सत्य कहता हूँ कि पुराण-पुरुषोत्तम भगवान मधुसूदन तेरी उस शक्ति को क्षण भर में व्यर्थ बना देंगे। अरे नीच! भगवान वासुदेव जिसके रक्षक सम्मति-दाता गुरु और शुभचिन्तक हैं, उस अर्जुन को तू जीत कैसे सकता है? श्रीकृष्ण पुराण-पुरुष हैं। वे साक्षात् नारायण हैं। चराचर के स्वामी हैं। वे क्षण भर में संसार की रचना और संहार कर सकते हैं। उनके संकल्प में विश्व का

भाव और अभाव विद्यमान हैं। उनके रहते हुये तू पांडवों को जीतना चाहता है! बचा जी! होश की दवा खाओ। कहीं पागलखाने में जाकर अपनी चिकित्सा कराओ। तेरे मस्तिष्क में गरमी चढ़ गयी है। तेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है; तभी तो बे सिर पैर की बातें कर रहा है, गधे की तरह रेंक रहा है और पागलों की तरह चीख रहा है।'

पितामह की ये बातें सुनकर कर्ण को बड़ा क्रोध आया। उसने अपने को सम्हालते हुए कहा—'पितामह! भगवान् कृष्णचन्द्र के सम्बन्ध में जो आपने कहा वह अक्षरशः सत्य है। भगवान वासुदेव उससे भी बड़े हैं। उनकी महिमा मन, वाणी का विषय नहीं; किन्तु मेरी जो आपने निन्दा की है वह मेरे लिये असह्य है। इसलिये मैं आज से प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब तक आप जीते रहेंगे, रण में मैं अस्त्र-शस्त्र नहीं उठाऊँगा।' यह कहकर महात्मा कर्ण ने अपना धनुष रख दिया और उसी समय सभा से उठकर अपने घर चले गये।

पितामह ने दुर्योधन को प्रसन्न करने को कहा—'यह सूत पुत्र समझता है कि वह ही युद्ध में सब कुछ है। मैं भी प्रतिज्ञा करता हूँ कि युद्ध में लाखों वीरों को मैं मारा करूँगा। कर्ण तो तेजहीन, असत्यवादी और कायर है।'

'संसार इसे समझे कि भीष्म के इन वचनों में क्या रहस्य था?'



सन्धि दूत श्रीकृष्ण और कर्ण

वृथामृत्युं न कुर्वीरस्त्वत्कृते मधुसूदन।
शस्त्रेण निधनं गच्छेत् समृद्धं क्षत्रमण्डलम् ॥*
(उ० प० १४२।५२)

जिन मनस्वियों ने लोभ को तिलाञ्जलि दे दी है। जो वचन के धनी हैं, शरणागत रक्षक और कृतज्ञ हैं। जिनके लिये धर्म ही सब कुछ है। जो अपने वचनों के सामने संसार की सभी सम्पत्ति का त्याग कर सकते हैं। जो भवितव्यता को समझकर भी उससे डरते नहीं हैं। उन मनस्वी, तपस्वी, यशस्वी, तेजस्वी महात्माओं के चरणों में हमारा बार-बार प्रणाम है।

निश्चय हो गया कि कौरव पांडवों में युद्ध होगा। युद्ध की सब तैयारियाँ हो चुकीं। भूमंडल के सब राजाओं ने भी निश्चय कर लिया, दोनों पक्षों में से हम किसकी ओर लड़ेंगे। पांडवों की ओर से लड़ने को पांडव के मामा शल्य आ रहे थे। दुर्योधन ने बीच में स्वागत-सत्कार करके उनसे वरदान प्राप्त करके अपनी ओर मिला लिया। इस प्रकार दुर्योधन की ओर बहुत राजा थे, पांडवों की ओर कम थे। किन्तु जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहाँ सब है। जहाँ श्री कृष्ण पीठ फेरे बैठे हैं, वहाँ कुछ भी नहीं है। धर्मराज को अपनी विजय की चिन्ता नहीं थी। चिन्ता इस

* कर्ण ने कहा—हे मधुसूदन ! आप ऐसा उद्योग करें कि क्षत्रियों की वृथा मृत्यु खाट पर पड़े पड़े बीमारी से न हो। वे युद्ध में शस्त्र से मरकर वीर क्षत्रियों की गति को पावें। स्वर्ग में सुख भोगें।'

ज्ञात थी कि उनके कारण कुरुकुल का विनाश होगा। वे ही उस कुल-विनाश का कारण बनेंगे। वे चाहते थे, किसी तरह युद्ध न हो। अत्यन्त मार्मिक शब्दों में अपनी यह इच्छा उन्होंने भगवान वासुदेव के सम्मुख प्रकट की। वे तो त्रिकालज्ञ हैं। उन्हें क्षण-क्षण का पता है। काल उनके अधीन है। सब कुछ जानते हुए भी धर्मराज के गौरव को बढ़ाने के लिये, दोनों पक्ष में मेल कराने के लिये स्वयं कंस-निषूदन भगवान वासुदेव सन्धि दूत बनकर हस्तिनापुर गये।

हस्तिनापुर में भगवान ने सभी प्रकार से कौरवों को समझाया। प्रेम से, डराकर, धमकाकर, भविष्य का चित्र खींच कर, हित अहित बताकर भाँति-भाँति से दुर्योधन को समझाया। उसकी तो बुद्धि भ्रष्ट कर दी थी, वासुदेव ने। इसलिये उसकी समझ में कुछ नहीं आया। उलटे उसने भगवान को कैद करने की ठानी। मधुसूदन ने अपना प्रभाव दिखाकर सब को चमत्कृत कर दिया। जब सब प्रयत्न विफल हो गये, तब भगवान वासुदेव कुन्ती से मिलकर पांडवों के पास लौटने लगे। सभी लोग भगवान को पहुँचाने नगर से बाहर तक आये। सभी से मिल भेंट कर भगवान विदा हुए। संकेत से उन्होंने कर्ण को बुलाया। कर्ण रथ पर से उतर कर वासुदेव के समीप जा बैठे। भगवान ने सारथी से कहा—'रथ बढ़ाओ'। सब लोग भगवान के रथ की प्रदक्षिणा करके लौट गये। कर्ण को भगवान ने साथ ले लिया। भगवान का रथ चला। कर्ण का सारथी खाली रथ लिये भगवान के रथ के पीछे-पीछे चला।

अब भगवान ने कर्ण का हृदय टटोला। साम, दाम, भेद और दंड चार नीति के उपाय होते हैं। जब तक तीन से काम

चले तब तक शक्ति भर दंड का प्रयोग करना नीति कुशलता नहीं समझी जाती। इसलिये भगवान साम का आश्रय लेकर सन्धि-दूत बन कर आये थे। सन्धि न हो सकी, साम से काम न चला। शांति की आशा नहीं रही। अब भगवान ने दान और भेद का आश्रय लिया। असल में तो सर्वज्ञ प्रभु सब जानते थे, किन्तु संसार में वे भक्तों की कीर्ति बढ़ाना चाहते हैं। इस समय यदि भगवान कर्ण से बातें न करते तो संसार में कर्ण की इतनी निर्दोष कीर्ति कैसे फैलती? उनके हृदय के भाव कैसे व्यक्त होते? उनकी महानता दूरदर्शिता, निर्लोभता, निष्कपटता, सत्य-परायणता, कृतज्ञता और निस्पृहता आदि महान् गुण संसार के सम्मुख कैसे आते?

धीरे-धीरे अपने कोमल करों से कर्ण के हाथ को पकड़कर वासुदेव ने कर्ण से कहा—'कर्ण! मैं तुमसे एक बात कहना चाहता हूँ, तुम मानोगे?'

'आज्ञा करें वासुदेव' यह कहकर कर्ण ने सिर झुका लिया। उनके नेत्र सजल थे; लज्जा, प्रेम और कृतज्ञता के बोझ से वे दबे से जाते थे।

भगवान ने कहा—'देखो, कर्ण! तुम मूर्ख नहीं हो। तुमने वेद-शास्त्रों का विधिवत अध्ययन किया है। तुम शास्त्रों के मर्म को भली भाँति जानते हो। वृद्ध और ब्राह्मणों की सेवा करके तुमने सद्गुणों की वृद्धि की है। तुम विनयी, दानी और यशस्वी हो। संसार में तुम्हारा यश व्याप्त है। फिर भी तुम नीचों के सङ्ग में पड़कर इन अनाचारियों का पक्ष ले रहे हो। तुम्हें मैं एक रहस्य की बात बताता हूँ। उसे सुनकर जैसे मैं कहूँ, वैसा तुम करना। भैया! तुम सूतपुत्र नहीं हो। तुम मेरी बूआ के लड़के, मेरे सगे

फुफेरे भाई हो, तुम युधिष्ठिर के बड़े भाई और मेरे भी पूज्य हो। भगवान सूर्य के वरदान से तुम मेरी फूआ कुन्ती के गर्भ से कुमारी अवस्था में ही पैदा हुए थे। ऐसे पुत्र को शास्त्र में कानीन कहते हैं। विवाह होने पर जो पुत्र होता है, उसे सहोढ़ कहते हैं। ये दोनों ही पुत्र जिसके साथ माता का विवाह हो, उसी पति के समझे जाते हैं। धर्म पूर्वक तुम महाराज पांडु के सबसे बड़े पुत्र हो। पांडव तुम्हारे पिता के पक्ष में हैं और सब वृष्णि-वंशीय तुम्हारी माता के पक्ष के हैं। न्यायतः कुरुकुल के सिंहासन के एक मात्र तुम्हीं अधिकारी हो। समस्त पृथ्वी के तुम्हीं सम्राट् बनने योग्य हो। तुम मेरे साथ चलो, हमारे साथ मिल जाओ। अभी चलकर मैं तुम्हारा सम्राट् पद पर अभिषेक कराता हूँ। तुम्हारे छोटे भाई धर्मराज युधिष्ठिर तुम्हारे ऊपर श्वेत चँवर करेंगे, अर्जुन तुम्हारे सारथी का काम करेंगे, अभिमन्यु सदा हाथ जोड़े तुम्हारे सामने खड़ा रहेगा। इनके अतिरिक्त नकुल, सहदेव, पांचल द्रौपदी, अंधक, वृष्णि-वंश के सब राजा और राजकुमार तथा स्वयं मैं तुम्हारी समस्त आज्ञाओं का पालन करते हुए तुम्हारे पीछे-पीछे चलेंगे। देखो भैया! लड़ाई झगड़ा अच्छा नहीं। तुम्हीं इन सब के प्राण हो। ये सब तुम्हारे बल भरोसे पर उछल-कूद रहे हैं। तुम यदि मेरी बात को मान लोगे तो ये सब ठंडे हो जायँगे। इस प्रकार पृथ्वी के असंख्यों योद्धा मरने कटने से बच जायँगे। अब इन दोनों पक्षों के रक्षक तुम्हीं हो। तुम चाहो तो इस कुल क्षय को रोक सकते हो। 'शुभस्यशीघ्रम्' अच्छी बात को कल के लिये नहीं छोड़ना चाहिये। अभी इसी रथ पर तुम मेरे साथ ही चले चलो। आज ही तुम्हारा अभिषेक हो और फिर आज ही यह अनर्थकारी युद्ध रुक जाय।' इतना कहकर भगवान वासुदेव कर्ण के मुख की ओर देखने लगे।

कर्ण का चेहरा गंभीर हो गया था। उनकी दोनों आँखें आँसुओं से भरी हुई थी। थोड़ी देर तो वे चुपचाप रहे और फिर आँसुओं को पोछते हुए धीरे-धीरे बोले। उनका कंठ रुँधा हुआ था। वाणी स्पष्ट नहीं निकलती थी, फिर भी अपने को सम्हालते हुये उन्होंने जगत्पति श्रीकृष्ण की बातों का उत्तर देना आरम्भ किया। वे बोले—'मधुसूदन ! आपने जो कहा है, मेरे हित के लिये कहा है। आप मुझसे इतना स्नेह रखते हैं, यह स्मरण करके मेरी छाती फटी जाती है। आप सत्य स्वरूप हैं। आप झूठ तो बोलेंगे नहीं। मैं भी यह जानता हूँ कि मैं माता कुन्ती का पुत्र हूँ। मुझे यह भी पता है कि माता ने सूर्य भगवान की आज्ञा से मुझे जल में बहा दिया था और सूतराज अधिरथ ने मेरा लालन-पालन किया। वास्तव में मैं सूतपुत्र नहीं हूँ। आप मेरे सगे मामा के लड़के हैं। पांडव मेरे छोटे भाई हैं, कुन्ती मेरी माता हैं और पांडु मेरे उसी प्रकार पिता हैं जिस प्रकार धर्मराज युधिष्ठिर के। मेरा यह परम सौभाग्य है कि आप मुझे इस समस्त भूमंडल का राज्य दे रहे हैं मैं इस बात पर भी अविश्वास नहीं करता कि पांडव आपकी आज्ञा न मानेंगे। आपकी तो वे उचित अनुचित जैसी भी आज्ञा होगी, उसका सिर झुका कर पालन करेंगे ही; किन्तु आप आज्ञा न भी दें, धर्मराज युधिष्ठिर को इस बात का केवल पता ही भर लग जाय कि मैं उनका बड़ा भाई हूँ तो वे चाहे संसार एक ओर हो जाय सिंहासन पर कभी न बैठेंगे मुझे ही राज्य दे देंगे। इसलिये न तो राज्य पाने ही मुझे कोई सन्देह है, न ग्रहण करने में ही कोई आपत्ति क्योंकि न्यायतः मेरा राज्य सिंहासन पर अधिकार है। किन्तु प्रभो ! मुझपर अप्रसन्न न हों। मेरी धृष्टता को क्षमा करें। वह तब तक किसी प्रकार संभव भी हो सकता था, जब तक

रंगभूमि में कृपाचार्य ने मेरा कुलगोत्र पूछा था। उस समय यदि माता कुन्ती सब के सामने कह देतीं कि यह सूर्य के संसर्ग से उत्पन्न हुआ मेरा बड़ा पुत्र और धर्मराज का सब से बड़ा भाई है। तब तो बात बन भी सकती थी अब इस समय राज्य सिंहासन ग्रहण करने में मेरे साथ कितनी-कितनी कठिनाइयाँ हैं, उन्हें आप स्वयं ही सोच लें।

सबसे पहिली बात तो यही है कि माता ने मेरा त्याग निर्दयता पूर्वक किया था। उनके लिये तो मैं मर ही गया था। अधिरथ सूतराज ने मुझे दया वश पकड़ा। उन्होंने मुझे अपनी पत्नी राधा को दिया। राधा ने अपने सगे पुत्र की तरह मेरा पालन-पोषण किया। मुझे सूखे में सुलाया, आप गीले में सोईं। मेरा मलमूत्र उठाया। पाल-पोष कर इतना बड़ा किया। उन्हीं के कारण संसार में मैं राधा का पुत्र राधेय नाम से विख्यात हुआ। वे मुझे सगे पुत्र की तरह मानती हैं। आज मैं उन्हें छोड़ कर पांडवों में मिल जाऊँगा तो यह मेरी सब से बड़ी मातृ-कृतघ्नता होगी।

दूसरी बात यह है कि अधिरथ ने मुझे अपने सगे पुत्र की तरह माना है। जाति कर्म से लेकर अब तक जो मेरे संस्कार हुए हैं, सूत कुल की रीति से हुए हैं। उन्होंने मेरा नाम वशुषेण रखा है। उनको जलपिंड देने वाला मैं ही हूँ। आज यदि मैं उन्हें छोड़ कर पांडु-वंश में मिल जाऊँ, तो उन्हें कितना दुःख होगा। यह सब से बड़ी पितृ-कृतघ्नता समझी जायगी।

तीसरी बात यह है कि मेरा विवाह बहुत सी सूत कन्याओं के साथ हुआ है। उनसे मेरे पुत्र, पौत्र तक हो गये हैं। आज मैं उन सब को छोड़ कर राजवंश में मिल जाऊँ, तो यह मेरी वंश-कृतघ्नता होगी।

चौथी बात यह है कि मैंने सूत जाति के अपने भाइयों के साथ बहुत बड़े-बड़े यज्ञ किये हैं। उनके साथ मेरा रोटी-बेटी का सम्बन्ध है। वे मुझे अब तक अपने कुल में सबसे श्रेष्ठ समझते हैं। आज उन्हें छोड़कर मैं क्षत्रियों में मिल जाऊँ तो यह असहनीय जाति-कृतघ्नता होगी।

पाँचवीं बात यह है कि दुर्योधन आदि कौरवों ने मेरे ही बल भरोसे पर युद्ध का निश्चय किया है। वे मेरे ही विश्वास पर पांडवों को हराना चाहते हैं। आज उन्हें छोड़कर मैं पांडव पक्ष की ओर मिल जाऊँ तो यह कभी भी क्षमा न होने वाली मित्र-कृतघ्नता मानी जायगी।

इन बातों को आप छोड़ दीजिये। इनकी परवाह न करके यदि मैं आपकी आज्ञा से राज-सिंहासन ग्रहण कर भी लूँ तो भी इसमें बड़ेअनर्थ हैं। उनकी ओर भी आप ध्यान दें।

राज्य हमेशा सुख के लिये और कीर्ति के लिये किया जाता है। सुख की तो मुझे अब भी कुछ कमी है नहीं। दुर्योधन के राज्य का भोग, मैं अपने राज्य की भाँति करता हूँ। बस, इतनी ही कसर है कि मैं सम्राट् के सिंहासन पर नहीं बैठता। आपके कहने से मैं धर्मराज युधिष्ठिर को हटाकर उनके सिंहासन पर बैठ जाऊँ तो इससे मेरी कीर्ति न होकर अपकीर्ति ही होगी। माता कुन्ती ने सब के सामने तो मुझे जल में छोड़ा नहीं था। उन्होंने तो मुझे छिपकर रात्रि के समय जल में बहाया था। अब तक मैं अधिरथ का पुत्र राधेय या सूतपुत्र के नाम से विख्यात हूँ। अब ठीक युद्ध के समय मैं पांडु-पुत्र बनकर सिंहासनारूढ़ हो जाऊँ तो अन्य राजा इस बात पर कब विश्वास करेंगे। सब मिलकर यही कहेंगे कि धर्मराज ने कर्ण को प्रसन्न करने को रिश्वत देकर यह चालाकी चली है।

अर्जुन से मेरी सदा लाग डाट रही है। सबके सामने उसे मैंने मारने की प्रतिज्ञा भी की है। कौरवों ने भी द्वंद युद्धमें मुझे अर्जुन के साथ ही चुना है। आज ठीक युद्ध के समय में पांडवों से मिलजाऊँ तो बहुत से तो कहेंगे कर्ण ने डर कर पांडवों से सन्धि कर ली। बहुत से यह भी कह सकते हैं कि अर्जुन ने डर कर कर्ण को अपना भाई मान लिया, जिसका कल तक वे सूत-पुत्र कह कर सब के सामने अपमान करते थे। इस तरह मेरी और अर्जुन का दोनों की ही इसमें अपकीर्ति है। इन सब बातों को सोचते हुए हे वासुदेव! अब तो जो हो गई, सो हो गई। अब तो जो आपने सोच रखा है वही होगा। हे मधुसूदन! आप सर्वज्ञ हैं, सबके स्वामी और एकमात्रगति हैं। आप चराचर के स्वामी हैं। भगवान्! पृथ्वी पर असंख्यों क्षत्रिय बढ़ गये हैं। खाट पर पड़े-पड़े ये मरेंगे तो सब को नरक जाना पड़ेगा। हे चराचर के स्वामी! इन क्षत्रियों को नरक से बचाइये। युद्ध में शस्त्र से मार कर इन्हें स्वर्ग की प्राप्ति कराइये। आप सर्व-समर्थ हैं। आप सन्धि कराना चाहें तो आपकी आज्ञा का उल्लंघन कौन कर सकता है? इसलिये अब आप सन्धि की चर्चा छोड़ कर, ऐसा ही प्रयत्न करें कि सब क्षत्रिय युद्ध में मर कर स्वर्ग में सुख भोगें। इस युद्ध का प्रधान कारण आपने मुझे ही बना रखा है और दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि भी हैं। जो आप कराना चाहेंगे उसके लिये कौन मनाकर सकता है, दुर्योधन ने ठीक ही कहा है—

"यन्त्रस्य ममदोषेण क्षम्यतां मधुसूदन!
अहं यन्त्र भवान् यन्त्री मम दोषो न दीयताम्"



भगवान का कर्ण से विदा होना

यदि जानाति मां राजा धर्मात्मा संयतेन्द्रियः।
कुन्त्याः प्रथमजं पुत्रं न स राज्यं ग्रहीष्यति ॥*
(उ० प० १४१।२१)

भगवान तो सर्वज्ञ हैं, सर्वान्तर्यामी हैं, सर्वेश्वर हैं, सर्व-नियन्ता हैं, जगदाधार हैं, सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्र हैं। उन्हें कौन सिखा सकता है, कौन समझा सकता है। किन्तु वे अपनी शक्ति देकर स्वयं ही भक्तों की ख्याति के लिये उनसे स्वयं ही कहलाते हैं, उपदेश दिलाते हैं। अपनी कीर्ति से बढ़कर भगवान को भक्त की कीर्ति प्यारी लगती है। शांति-पर्व में जब पितामह भीष्म ने भगवान से पूछा—"प्रभो! आप ज्ञान स्वरूप हैं, सब वेद-शास्त्र आपकी निःश्वास हैं, फिर आप धर्मराज युधिष्ठर को स्वयं ही उपदेश न देकर मुझसे उपदेश क्यों दिला रहे हैं? तब मुसकराते हुए मधुसूदन बोले—"पितामह, आप ठीक कह रहे हैं मेरे लिये कुछ भी असंभव नहीं। फिर भी संसार में तुम्हारी ख्याति हो, तुम्हारा नाम अजर-अमर बना रहे, इसलिए स्वयं मैं अपनी शक्ति देकर आपके मुख से कहला रहा हूँ" क्या कर्ण नहीं जानते थे कि भगवान को क्या करना है? क्या

---

*कर्ण ने भगवान से कहा—"प्रभो! आप ये बातें धर्मराज से न कहें। यदि उन सत्यात्मा महाराज युधिष्ठिर को यह मालूम पड़ जायगा कि मैं कुन्ती का पहला पुत्र हूँ, उनका बड़ा भाई हूँ तो वे कभी भी राज्य ग्रहण न करेंगे (मुझे राज्य दे देंगे)।

भगवान से कर्ण के मनोगत भाव छिपे थे? नहीं, कभी नहीं। वे सर्वज्ञ प्रभु घट-घट में विचरण करने वाले सब कुछ जानते थे फिर भी उन्हें कर्ण का यश प्रकट करना अभीष्ट था। कर्ण यदि लोभ में आ जाते और दुर्योधन को छोड़ देते तो सम्राट चाहे भले ही बन जाते, किन्तु उनका जगत-व्यापी यश नष्ट हो जाता। संसार में उनकी अक्षुण्ण कीर्ति न रहती। भगवान को यह अभीष्ट ही नहीं था कि कर्ण बदनाम हों—वे देवता से मनुष्य कहलावें।

कर्ण का उत्तर सुनकर भगवान ने मुसकराते हुये कहा—'कर्ण! तुम्हारे भाग में सम्राट पद लिखा ही नहीं है। तभी तो तुम मेरे प्रस्ताव को इस तरह ठुकरा रहे हो?'

यह सुनकर कर्ण ने अत्यन्त विनीत भाव से कहा—'प्रभो! आप क्यों मुझे ठगना चाहते हैं? मैं आपके भुलावे में आना नहीं चाहता। युद्ध कराना चाहते हैं आप और नाम ले रहे हैं मेरा। आप रोकना चाहें तो किसकी शक्ति है, जो युद्ध कर सके।'

भगवान बोले—'युद्ध में विजय पांडवों की ही होगी, इसे तुम निश्चय समझ रखना। धनुर्धर वीर अर्जुन को कौन जीत सकता है? जिस समय गदा लेकर भीमसेन सिंहनाद करेंगे, उस समय कौन-सा माई का लाल उनके सामने ठहर सकता है?'

कर्ण ने कहा—'प्रभो! यह तो मैं नहीं मानता। हाँ, इतना मानता हूँ कि जिधर आप हैं उधर जय है। आप उनके पक्ष को छोड़ दें, तो जैसे ही वे वैसे ही हम। फिर आप देखें, कौन जीतता है, कौन हारता है। किन्तु आपकी लीला को कौन समझ सकता है कि आप क्या करना चाहते हैं?'

थोड़ी देर सोचकर और आँखों में आँसू भर कर कर्ण ने पुनः भगवान से कहा—'मधुसूदन! एक बात मैं कहना चाहता हूँ। आप यदि मेरी प्रार्थना स्वीकार करें तो?'

भगवान ने स्नेह से कर्ण की पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा,—'हाँ हाँ, कहो कहो? क्या कहना चाहते हो? संकोच की कोई बात नहीं।'

कर्ण ने आँसु पोंछ कर कहा—'वासुदेव! मेरी यही प्रार्थना है कि मेरे आपके बीच में जो बातें हुई हैं, उन्हें आप धर्मराज युधिष्ठिर से कभी भूल में भी न कहें। वे साक्षात् धर्म के अवतार हैं। यदि उन्हें किसी तरह भी यह बात मालूम हो जाय कि मैं उनका बड़ा भाई हूँ, तो वे फिर कभी भी युद्ध न करेंगे। अपना समस्त राज मुझे दे देंगे। मैं दुर्योधन की कृतज्ञता के भार से इतना दब गया हूँ कि मैं समस्त भूमण्डल का राज्य उसके चरणों में समर्पित कर दूँगा। इससे बड़ा अनर्थ होगा। मेरे सगे भाई फिर जङ्गलों में भटकते रहेंगे। दुर्योधन बड़ा नीच है; वह सम्राट् होने योग्य नहीं। मेरी हार्दिक इच्छा है कि धर्मराज समुद्र पर्यन्त समस्त पृथ्वी के एकमात्र अधीश्वर बनें। वे ही इसके उपयुक्त हैं; जिनके आप रक्षक और सहायक हैं। गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन और गदापाणि वृकोदर जिनके आज्ञाकारी हैं, उनकी विजय तो निश्चित ही है; किसी को इसमें सन्देह करने की बात ही नहीं। धर्म-राज युद्ध से नहीं डरते; वे कुल के नाश से, अपकीर्ति और अधर्म से डरते हैं।'

भगवान ने कहा—'तुम्हारा कहना ठीक है। धर्मराज जो केवल पाँच गाँव लेकर दुर्योधन के अधीन रहना चाहते हैं वे,

केवल कुलनाश के भय से ऐसा करना चाहते हैं। भय अथवा मृत्यु के डर से नहीं।"

कर्ण ने फिर कहना आरम्भ किया—"मृत्यु का डर तो प्रभो! मुझे भी नहीं। मुझे निश्चय है कि संग्राम में आपके द्वारा मेरी मृत्यु अर्जुन के बाणों से होगी। धृष्टद्युम्न द्रोणाचार्य को मारेंगे। शिखंडी के हाथ से भीष्म की मृत्यु है। भीमसेन धतराष्ट्र के १०० पुत्रों का नाश करेंगे। रणचंडी का प्रत्यक्ष नृत्य मुझे अभी से दिखाई दे रहा है। पांडवों की मंगल कामना आप करते हैं, फिर उनका कोई भी बाल बाँका नहीं कर सकता। किन्तु एक बात सहस्रों सुइयों की तरह सदा मेरे हृदय में चुभती रहती है। मैंने दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिये पांडवों से बहुत कड़ी-कड़ी बातें कही हैं। महारानी द्रौपदी के लिये भी मैंने अपशब्दों का प्रयोग किया है। ये बातें जब भी मुझे याद आ जाती हैं, तभी मेरे दुख का वारापार नहीं रहता! यह मैंने बड़ा पाप किया है। सो हे सर्वज्ञ! हे अन्तर्यामी। आप सब जानते ही हैं। यह मैंने कृतज्ञता के बोझ से दबकर किया है। इसके लिये मैं आप से क्षमा-प्रार्थी हूँ।' यह कहते कहते कर्ण फूट-फूट कर रोने लगे।

भगवान चलने को तैयार हुए। तब उन्होंने कहा—'तब युद्ध का ही निश्चय रहा न! अच्छी बात है; कौरवों से कह देना कि शीघ्र ही तैयारी कर लें। युद्ध के लिये यही महीना अच्छा है। युद्धोपयोगी सामग्री भी इस महीने में प्रचुरता से होती है। आज से सातवें दिन अमावस्या से युद्ध शुरू हो जाना चाहिये, वही शुभ-मुहूर्त है।'

कर्ण ने फिर कहा—'वासुदेव! मेरे अपराधों को क्षमा करें। मैंने स्वप्न में अनेक ऐसे लक्षण देखे हैं, जिनसे मुझे

निश्चय हो गया है कि विजय पांडवों की ही होगी। पृथ्वी पर भी जो अपशकुन हो रहे हैं, उनसे भी यही प्रतीत होता है कि जन-संहारी महायुद्ध होगा। उसमें समस्त देश के राजा, महाराजा वीर योद्धा स्वाहा हो जायँगे। केवल आपकी कृपा से पांडव ही सुरक्षित बच जायँगे। भावी को अपने पुरुषार्थ से अन्यथा करने में समर्थ कौन हो सकता है? आपको जो कराना होगा, वही होगा। देखें, अब कब भेंट होती है। जीते रहे तो फिर कभी इसी तरह बैठकर घुल-घुलकर बातें करेंगे, नहीं तो मर कर स्वर्ग में तो भेंट होगी ही। मुझे तो यही विश्वास है कि अब तो स्वर्ग में ही सब परस्पर चलके मिलेंगे। आप पुराणपुरुष हैं। आपकी लीला का पार कौन पा सकता है? मेरे ऊपर आपकी इसी प्रकार कृपा बनी रहे।'

यह कहते-कहते कर्ण रोने लगे। उन्होंने श्री कृष्ण को खींचकर बड़े जोरों से अपनी छाती में चिपटा लिया। अब तो भाई-भाई का नाता हो गया था। भाई भी छोटे बने, अतः शिशु की तरह भगवान कर्ण की छाती से चिपटे रहे। दारुक ने रथ को खड़ा कर दिया। कर्ण का सारथी रथ बढ़ाकर आगे ले आया। कर्ण यथा योग्य मिल भेंट कर रथ से उतर पड़े। भगवान का रथ घर-घर शब्द करता हुआ वायुवेग से आगे बढ़ा और थोड़ी देर में आँख से ओझल हो गया। जब तक रथ की धूल दिखाई दी, तब तक कर्ण वहीं खड़े रहे। जब धूलि भी उड़ गई; गरुड़ के चिह्न से चिह्नित ध्वजा भी आँखों से ओझल हो गई, तो आँसू पोछते हुए कर्ण हस्तिनापुर को लौट आये।

माता और पुत्र की भेंट

न ते जातु न शिष्यन्ति पुत्राः पञ्च यशस्विनि।
निरर्जुनाः सकर्णा वा सार्जुना वा हते मयि ॥*

(उ० प० १४७।२३)

संसार में परिस्थितियाँ मनुष्य को कैसे-कैसे बन्धनों में जकड़ देती हैं। जिनसे वे मिलना चाहते हैं, परिस्थति से विवश होकर हम उनसे मिल नहीं सकते और जिनसे मिलना नहीं चाहते, उनसे स्वार्थवश हर समय मिलना पड़ता है। आर्य संस्कृति को मानने वाली जो कुल-कामिनी एकान्त में अपने पति को शरीर अर्पण कर देती है, वही सब के सामने पति से बोलना तो अलग, आँखे भर कर देख भी नहीं सकती।

कर्ण जानते थे कि कुन्ती मेरी सगी माता है। कुन्ती को भी पता था कि कर्ण मेरा पुत्र है, किन्तु दोनों मिल नहीं सकते थे। कर्ण जब भी अपनी जननी को देखते मन ही मन प्रणाम कर लेते। कुन्ती भी जब कर्ण को देखती उसका हृदय भर आता और अपने लाल की मङ्गल कामना करती। न तो कुन्ती अपने हृदय के टुकड़े को छाती से चिपटा सकती थी; न कर्ण

---

*कर्ण ने अपनी माता कुन्ती से कहा—'हे यशस्विनी। तुम्हारे पाँच पुत्र कभी भी नहीं मर सकते। यदि मैंने अर्जुन को मार डाला तब मुझे ले कर पाँच शेष रहेंगे। यदि अर्जुन ने ही मुझे मार गिराया तब तो तुम्हारे पाँचों हैं ही।'

ही अपनी जननी के चरणों का चुम्बन कर सकते थे। समाज के निर्दय बन्धन ने समीप रहते हुए भी माता पुत्र के बीच में हिमालय पहाड़ खड़ा कर दिया था। भाग्य ने दोनों को अलग अलग फेंक दिया था। शरीर से न मिलने पर भी माता पुत्र का हृदय भला कैसे पृथक हो सकता है।

१४ वर्ष से जो माता विदुर के घर में रहकर अपने पाँचों पुत्रों की बन से लौटने की बाट जोह रही थी, जब उसने विदुर के मुख से सुना कि युद्ध नहीं रुकेगा, आज से सातवें दिन युद्ध आरम्भ हो जायगा, तब उसके शोक का ठिकाना नहीं रहा। १४ वर्ष से पुत्रों के मुख को माता ने नहीं देखा है। पास ही उपप्लव नगर में ठहरे हुए पुत्रों के पास माँ नहीं जा सकती। अब युद्ध होगा। कौन जीतेगा? कौन हारेगा? भगवान ही जाने। युद्ध के परिणाम की कल्पना करके माता काँप उठी। उसका हृदय धड़कने लगा। एक एक करके वे दोनों दल के योद्धाओं के बलाबल के विषय में सोचने लगीं। माता पिता का हृदय सदा शंकित रहता है। प्रेम में पग-पग पर शंका होती है। स्नेह में अनिष्ट की आशंका बनी ही रहती है। मेरे पुत्रों से कौन कौन लड़ेंगे? सहज ही उसके मन में संसार को जीतने वाले भीष्म, कर्ण और द्रोण की ये तीन मूर्तियाँ आ गईं। माता ने सोचा—'द्रोण तो अपने शिष्यों पर बड़ा स्नेह करते हैं। वे जान-बूझ कर अपने बाणों से मेरे बेटों का बध कभी न करेंगे। पितामह भी अपने पौत्रों से प्रेम करते हैं। वे भी उन्हें अपने बाणों से न मारेंगे। एक कर्ण ही ऐसा है, जो दुर्योधन के स्नेह से जी जान से लड़ेगा; प्राणों की बाजी लगाकर संग्राम करेगा। सब से अधिक खटका मुझे कर्ण का ही है। हाय! कर्ण अपने सहोदर भाइयों के खून का प्यासा बना हुआ है।

कैसा नृशंस कार्य है ? क्षत्रिय धर्म को धिक्कार है। फिर उस बेचारे का भी क्या दोष ? दोष तो मेरा ही है। मैंने ही अभी तक उससे इस बात को छिपा रखा है। उसे क्या पता कि कुन्ती मेरी माता है, पांडव मेरे भाई हैं ? वह तो अपने को सूतपुत्र ही समझता है; अधिरथ को पिता और राधा को ही अब तक वह माता माने बैठा है। आज जैसे भी हो मैं उसके भ्रम को दूर करूँगी। आज लज्जा त्याग कर मैं उसे सब बातें बता दूँगी। आज मैं उसे बिछुड़े भाइयों से मिला दूँगी। यह सोचकर वह कर्ण के पास जाने को तैयार हुईं। सब की दृष्टि बचाकर; नौकर चाकर और विदूर से छिप कर माता अपने पुत्र से मिलने चलीं।

कुन्ती एक सफेद धोती पहिने हुए थीं। एक चदरा ओढ़ कर वे धीरे से पैदल ही धूप में गंगा किनारे की ओर चल दीं। उनका हृदय धड़क रहा था। मनमें पुत्र-मिलन का उछाह था। पुत्र-स्नेह से उनके स्तनों से दूध वह रहा था। वे विचारों में मग्न हुई तेजी के साथ जा रहीं थीं। कभी कभी शंकित दृष्टि से इधर-उधर घूम फिर देख लेतीं कि उसे कोई देख तो नहीं रहा है। गङ्गा किनारे जाकर उन्होंने अपने हृदय के टुकड़े को, अपने महाबली लाल को ताड़ वृक्ष की भाँति ऊपर बाहु उठाये देखा। सुवर्ण के कंकणों से मण्डित उनकी विशाल भुजाओं को देखकर माता का हृदय भर आया। उनके शरीर पर पीला रेशमी दुपट्टा पड़ा था। विशाल वक्षस्थल में सुवर्ण का हार शोभा दे रहा था। उनकी चौड़ी छाती, सिंह के जैसे कंधों को देखकर माता भयभीत सी हो गई। सूर्य की किरणों के पड़ने से उनका मुख-मंडल चमचमा रहा था। ऐसा प्रतीत होता था कि किसी सुवर्णमय दो शाखा वाले वृक्ष पर दूसरा

सूर्य बैठा हो। ऊपर हाथ उठाये महावीर कर्ण सूर्य की उपासना कर रहे थे। गायत्री मन्त्र के जप में वे अपने शरीर को भी भूले हुए थे

सुकुमारी कुन्ती इतनी दूर पैदल आने से थक गई थी। उनके मुख मण्डल से पसीने की धारायें बह रही थीं वृद्धावस्था के कारण उनको सांस जोर से चलने लगी। वे धीरे से आकर अपने लाल के पीछे बैठ गईं। धूप में तेजी थी। अपने बेटे के शरीर की शीतल छाया में बैठ कर माता ने अपनी थकान मिटाई और वे एकटक अपने बच्चे के मुख की ओर देखती हुई उसके जप की समाप्ति की प्रतीक्षा करने लगीं। सूर्य जब सिर को तपा कर कर्ण की पीठ को तपाने लगे, दोपहर जब ढल गया तब सूर्य की ओर कर्ण मुड़े। उनकी दृष्टि सहसा कुन्ती पर पड़ी। सामने कुन्ती को देखकर वे सकपका गये। बड़े विनीत भाव से दोंनो हाथों को अंजलि बाँधकर कर्ण ने कहा—देवि! मैं सूत-पुत्र राधेय आपके चरणों में प्रणाम करता हूँ। हे कुरु-कुल की महारानी! आपने इतना कष्ट क्यों किया?'

महारानी कुन्ती को देखते ही कर्ण समझ गये थे कि यह मुझे समझाने आई है। श्रीकृष्ण की बातें भी उनके हृदय में अभी तक ज्यों की त्यों अंकित थीं। इसलिये जानबूझ कर कर्ण ने अपने को अधिरथ और राधा का पुत्र कहा।

इसे सुनकर महारानी कुन्ती सहम गईं। लज्जा से उनक सिर झुक गया, फिर धीरे-धीरे कहने लगीं—"बेटा! तुम मे सामने अपने को सूतपुत्र और राधेय मत कहो। पुत्र! तुम पता नहीं, तुम मेरे पुत्र हो। जब मैं कन्या थी तब पिता के घर दुर्वासा मुनि के मंत्र के प्रभाव से सूर्य भगवान के द्वारा तुम्हा

जन्म मेरे उदर से हुआ था। बेटा! तुम मेरे पुत्र हो, पांडवों के बड़े भाई हो। बिना जाने दुष्ट दुर्योधन के बहकाने से तुम अपने भाइयों से सदा द्वेष करते हो। मेरे लाल! आज मैं तुम्हें इसी बात को समझाने आई हूँ। तुम अपने भाइयों से वैर-भाव छोड़ उनके साथ राज्य-सुख भोग करो। आज संसार समझ ले कि कर्ण सूतपुत्र नहीं पांडुपुत्र है। वे राधा के तनय नहीं कुन्ती के कुमार हैं। माता-पिता की सेवा करना पुत्र का परम धर्म है। इस वृद्धावस्था में तुम मेरी इस बात को मान लो और आज पाँचो भाई हृदय से हृदय मिलाकर मेरे सामने मिलो। मुझे कितनी प्रसन्नता होगी! तुम ६ भाइयों को एक साथ अपने हाथ से भोजन कराती हुई मैं आनन्द से फूली न समाऊँगी।" यह कहते-कहते कुन्ती के आँखों में आँसू भर आये। ऊपर से सूर्य मंडल में से सूर्य भगवान ने स्पष्ट रूप से ये वचन कहे—'बेटा कुन्ती जो कह रही है वह बिलकुल सच है। तुम इसकी बात मान लो। इसी में तुम्हारा कल्याण है। मुझे भी इस बात में प्रसन्नता होगी।"

सूर्य की और कुन्ती की बात सुनकर कर्ण का हृदय भर आया। कौशल से उन्होंने अपने आँसुओं को पोंछ कर बड़ी गंभीरता के साथ कहा—"देवि! मैं आपकी बात पर अविश्वास नहीं करता हूँ। मैं सम्भव है आपका पुत्र ही होऊँ। किन्तु आपको यह बात मालूम नहीं थी क्या जब रंगभूमि में भीम ने मेरा सूत-पुत्र कह कर उपहास और अपमान किया था। आप भी तो वहाँ बैठी थीं। सूर्य भगवान तब कहाँ चले गये थे? तब तो सूर्य मंडल में से वे भी नहीं बोले—"यह मेरा पुत्र है।" आज आप दोनों मुझ से कहते हैं—'तुम सूतपुत्र नहीं, राधेय नहीं, कुन्ती-नंदन और सूर्य-तनय हो।' तुम्हारी दृष्टि में तो मैं मर ही

गया था। तुमने तो मुझे निर्दयता-पूर्वक पानीमें फेंक ही दिया था तब तुम्हें अपने पुत्र पर दया नहीं आई? जिसने मुझे पाल-पोस कर इतना बड़ा किया अब आप कहती हैं उसे माँ मत कहो। तुमने मेरे साथ माताका कौनसा काम किया? जैसे लोग मलमूत्र को शरीर से निकालकर फेंक देते हैं और फिरउसकी ओर ध्यान भी नहीं देते, वैसे ही तुमने मुझे फेंक दिया। आज तक तो तुमने कभी कहा नहीं कि तुम मेरे पुत्र हो आज जब तुम्हारा काम आकर अटका है तब माता बनने आई हो। मुझे धर्म सिखाती हो पुत्र का ही धर्म है; माता का कुछ धर्म नहीं। पानी में फेंक कर जाति, प्रतिष्ठा और यश से मुझे भ्रष्ट बना दिया। मेरे क्षत्रियों जैसे संस्कार होते, राजकन्याओंसे विवाह होता, राज-सिंहासन पर बैठता, छत्र-चमर मेरे ऊपर लगते। इन सबसे आपने मुझे वंचितकर दिया। अब ठीक लड़ाई के समय तुम मेल कराने आई हो। यह कहते-कहते कर्ण का चेहरा दमदमाने लगा। रोष के कारण उसके अंग फड़कने लगे। माता उसका ऐसा रूप देख कर डर गई। लज्जा, संकोच, भय के कारण उन्होंने सिर नीचा कर लिया। उनकी आँखों से दो अश्रुओं को धारा बह रहीं थीं। कर्ण चुप नहीं हुए वे कहते ही गये—'आज से ४, ५ दिन बाद युद्ध आरम्भ होने वाला है और आज आप मुझसे सलाह और भाइयों से मेल करने की बातें कह रही हैं। आपने तो पुत्र के साथ विश्वासघात किया ही था, अब मुझे भी मित्र के साथ विश्वासघात करने की सम्मति देती हैं। इतने दिन जो मैंने यहाँ रहकर माल उड़ाये हैं, राज्य सुख भोगा है, अब ठीक काम के समय मैं पांडवों से मिल जाऊँ तो दुनियाँ मेरे ऊपर धूलि उड़ावेगी; सभी मुझे नमकहराम और कृतघ्नी कहेंगे। इस बात कोभी ...ने दो। अर्जुन की वीरता जगत् प्रसिद्ध है। चराचर के स्वामी

भगवान वासुदेव उसके सहायक हैं। युद्ध में वह मुझसे प्रतिस्पर्धा रखता है। अब मैं उनसे मेल कर लूँ तो सब यही कहेंगे कर्ण डर गया। उसने अर्जुन के भय से सन्धि कर ली। आप किस-किसका जाकर मुँह बंद करेंगी। इसलिये अर्जुन मेरा भाई ही नहीं, आप मेरी भले ही जननी हों, माता की आज्ञा उल्लंघन का भले ही मुझे पाप लगे; मैं त्रिकाल में भी तुम्हारी बात मानकर दुर्योधन को न तो छोड़ूँगा, न तुम्हारे पुत्रों से युद्ध करने में चूकूँगा। मैं प्राणों की बाजी लगाकर तुम्हारे पुत्रों से लड़ूँगा। या तो युद्ध करते-करते मर जाऊँगा या उन्हें मार डालूँगा। मैं रुक नहीं सकता चाहे आप कहें, चाहे पिता सूर्यदेव कहें। दुर्योधन से जो मैंने वचन कहे थे, उन्हें अवश्य पूरा करूँगा। आपकी बात नहीं मानूँगा। यह कहते-कहते कर्ण काँपने लगे और मुँह ढाप कर रोने लगे।

हा! उस समय का दृश्य कैसा करुणापूर्ण था, एकान्त में माता पुत्र मिल रहे थे। स्नेह से दोनों का हृदय भरा हुआ था। दोनों ही अपने मनकी वेदना को निकाल रहे थे। पिता आकाश मण्डल में इन दोनों की बातें सुन रहे थे। कुन्ती के पास इन बातों का कुछ उत्तर नहीं था। सचमुच वह अपने स्वार्थ से आई थी। उसने रुँधे हुए कंठ से अपने को सम्भालते हुए नीची दृष्टि किये हुए ही कहा—'तब क्या बेटा! मैं तुम्हारे पास से निराश होकर ही लौटूँ? अच्छा जैसी भगवान की इच्छा।'

इतना सुनते ही कर्ण का हृदय भर आया। वे फूट-फूट कर रोने लगे। रोते-रोते उन्होंने कहा—'मेरे जीवन को धिक्कार है। हाय! संसार में मैं क्यों जन्मा? मेरे जन्म से न तो किसी को सुख मिला, न मुझे ही कोई यश या लाभ की प्राप्ति हुई। गर्भ में आया तो माता को क्लेश दिया, पैदा हुआ तो माता के लिये

लज्जा-जनक बना, मलमूत्र की तरह माता के द्वारा फेंका गया। दूसरों के टुकड़े खाकर पला, दूसरों के अधीन रहकर इस पापी पेट को भरा। न मेरी कोई जाति रही, न वर्ण। शुद्ध क्षत्रियवंश में उत्पन्न होकर भी मैं सूतपुत्र और नीच कहाया। अपने जन पराये हो गये। सगे भाई शत्रु बन गये। जिनका मुझे पालन करना चाहिये था, उन भाइयों को जहर दिला कर, अग्नि में जलाकर मारने की मंत्रणा दी। जिन पिता और पितामह के द्वारा मुझे सम्मान और प्यार प्राप्त होना चाहिए था; उन्हीं के द्वारा मैं तिरस्कृत हुआ। मेरे सगे बाबा सब के सामने मुझे नीच, कुल-कलंक, सूत-पुत्र, कह कर तिरस्कार करते और मैं वज्र का हृदय बना कर सब सुनता। अकारण मुझे ब्राह्मण का शाप मिला। विद्या का अधिकारी होने पर भी मुझे विद्या प्राप्ति के लिये झूठ बोलना पड़ा। जिन्होंने मुझे पाला-पोसा उनकी भी यथोचित सेवा न कर सका, सदा आश्रयदाता की चापलूसी में ही लगा रहा। जिन्होंने सगे पुत्र की तरह मेरा पालन किया उनके और सुपुत्रों को विराट् नगर में मैंने अर्जुन के हाथों मरवा दिया। आज मैं अपनी सगी जननी को निराश कर रहा हूँ। पिता सूर्य की आज्ञा का उल्लंघन कर रहा हूँ। मेरे जन्म को धिक्कार है जो समर्थ होने पर भी मैं माता-पिता को प्रसन्न नहीं कर सका, उनकी एक आज्ञा का भी पालन न कर सका। मेरे पिता सूर्य ने त्रिलोकेश होकर भी साधारण पिता की तरह मुझे कवच, कुंडल देने से बहुत रोका। इसमें उनका कोई लाभ नहीं था। केवल मेरे हित के लिये, मेरी कल्याण भावना से प्रेरित होकर उन्होंने ये बातें कही थीं। मैं ऐसा अभागी निकला कि उनकी उस आज्ञा का भी मैंने पालन नहीं

किया। भाग्य को कोई मेट नहीं सकता। चराचर के जो स्वामी कहाते हैं, वेद-वेत्ता ऋषिगण जिनकी नित्य नियम से उपासना करते हैं, जो सम्पूर्ण जगत के प्राणियों के जीवन दाता हैं, उन भगवान सूर्य का पुत्र होकर और जगत विख्यात सती साध्वी कुन्ती के उदर में उत्पन्न होकर भी, आज मैं संसार में तिरस्कृत, अपमानित और जाति वहिष्कृत हो रहा हूँ, इसे भाग्य के सिवाय और कह ही क्या सकते हैं? जननी! मेरे अपराधों को क्षमा करो। इस बात को मत कहो कि मैं निराश होकर जाऊँ? कर्ण के पास से अभी तक कोई निराश होकर नहीं लौटा है। कर्ण के द्वारा अभी तक किसी याचक की आशा भग्न नहीं हुई है। इसलिये मैं तुम्हें निराश कैसे कर सकता हूँ? तुम अपने पाँच पुत्रों के कल्याण की भावना से मेरे पास आई हो। अर्जुन से लड़ने की मैंने सब के सामने प्रतिज्ञा की है। अतः अर्जुन से विना लड़े तो मानूँगा नहीं। अपनी शक्ति भर मैं उसे मारने को प्रयत्न करूँगा। मैं जानता हूँ, उसे मैं मार न सकूँगा। जिसके रक्षक भगवान वासुदेव हैं उसे संसार में कोई मार नहीं सकता। 'जाके रथ पै केशो, ताको कौन अँदेशो।' फिर भी मैं मार सका तो युद्ध में अर्जुन को अवश्य मारूँगा। यदि अर्जुन को मैं मार सका तो मुझे लेकर आपके पाँच पुत्र फिर भी बने रहेंगे और अर्जुन ने मुझे मार दिया तब तो पाँचों पांडव हैं ही। हाँ! अर्जुन को छोड़कर शेष चार भाई चाहे मेरे वश में भी क्यों न हो जायँ, चाहे उन्हें मारने में मैं समर्थ भी क्यों न होऊँ तो भी उनको मैं नहीं मारूँगा। इससे अधिक मैं और कुछ न कर सकूँगा।"

कर्ण की यह वात सुनकर कुन्ती को वड़ी प्रसन्नता हुई। उसने कहा—'अच्छा वेटा! तुम अपनी वात का ध्यान रखना।

अर्जुन को छोड़कर अपने शेष चारों भाइयों पर दया करके उन्हें कभी मत मारना।' यह कह कर कुन्ती चलने को तैयार हुई। आगे बढ़कर कर्ण ने माता के पैर छुए। यही माता पुत्र का सब से पहिला और सब से अन्तिम मिलन था। इसके पश्चात् इन शरीरों से वे फिर कभी नहीं मिले।



भीष्म का कर्ण को अर्धरथी कहना

एष नैव रथः कर्णो न चाप्यतिरथो रणे।
कर्णो मां वियोगाच्च तेन मेऽर्धरथोमतः ॥*

(उ० प० १६८। ५)

जैसा होना होता है, वैसे ही संयोग वन जाते हैं। समय आने पर शत्रु मित्र वन जाते हैं, मित्र शत्रु हो जाते हैं। काल की महिमा अपार है। समस्त संसार के नियम को काल चला रहा है। विना काल के, असमय में कोई कुछ नहीं कर सकता। जिस समय जो काम करने का जिसका काल होगा, वह उसी समय उस कार्य को करेगा। प्रयत्न करने पर भी, इच्छा रहने पर भी, उससे पहिले वह नहीं कर सकता।

धर्मराज युधिष्ठिर युद्ध को शक्ति भर टालना चाहते थे। धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोण, नारद, परशुराम, विदुर तथा अन्यान्य ऋषि महर्षियों ने दुर्योधन को वहुत समझाया था; किन्तु युद्ध का काल आ गया था। युद्ध किसी तरह न रुका। नियमित समय पर दोनों पक्ष के वीर अपनी-अपनी सेना को सजाकर कुरुक्षेत्र के मैदान में आ गये। कौरवों की सेना ११ अक्षौहिणी थी और पांडवों की ७ अक्षौहिणी। अक्षौहिणी की संख्या हम वताना नहीं चाहते, पाठक डर जायँगे। यही समझें जिसमें

---

* ब्राह्मण और परशुराम के शाप को बताते हुए भीष्म जी ने कहा—'मैं इस सूत-पुत्र कर्ण को न रथी कहता हूँ न अतिरथी या महारथी। यह अपने दिव्य कवच कुण्डल भी खो बैठा, अतः इसे मैं अर्धरथी मानता हूँ।'

लाखों करोड़ों रथ, हाथी, घोड़े, पैदल, सवार हों उस एक सेना को अक्षौहिणी कहते हैं। पांडवों ने अपना सेनापति द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न को बनाया। उन्हें तो नाम को बनाया था, क्योंकि आचार्य द्रोण की मृत्यु उनके ही हाथों होनी थी। असल में तो उनके सेनापति भीम थे। सेनापति का पद बहुत ही गौरव का समझा जाता है। कभी-कभी पदों के चुनाव में कार्य-कर्ता बड़े धर्म सङ्कट में पड़ जाते हैं। कुछ पूज्य और वृद्ध बीच में ऐसे होते हैं, जिनका प्रभाव और सम्मान तो सर्वव्यापी होता है; किन्तु वे मनमानी करते हैं। साथ ही वे कार्य से अलग भी नहीं होते। इसीलिये कार्य-कर्ताओं के सामने एक कठिन समस्या आ जाती है। न तो उन्हें छोड़ सकते हैं, और न पद से वंचित ही कर सकते हैं। पद तो उन्हें देना ही पड़ता है, किन्तु पग-पग पर मनमानी करते देखकर नवीन उत्साही कार्य-कर्ताओं का उत्साह हीन हो जाता है। बड़ों में गुण और अनुभव तो होते ही हैं, उनमें यही एक बड़ा दोष आ जाता है कि वे अपने सामने दूसरे को कुछ समझते ही नहीं। वे अपने अनुभव को इतना ऊँचा समझते हैं कि दूसरों की बात उन्हें जँचती ही नहीं।

सब की सम्मति लेकर दुर्योधन ने पितामह भीष्म को अपनी सेना का प्रधान सेनापति बनाया। ११ अक्षौहिणी सेना जिसके इशारे पर नाचे, राजा भी जिसके अधीन रहे उसके सम्मान और पद का कहना ही क्या ? पितामह भीष्म बड़े प्रसन्न हुए किन्तु उन्होंने दुर्योधन से स्पष्ट कह दिया—"देखो भाई ! मेरे लिये तुम और पांडव दोनों समान हो ! युद्ध तो मैं तुम्हारे पक्ष में करूँगा, किन्तु पांडव मुझसे सम्मति माँगेंगे तो उचित सम्मति मैं उन्हें

भी दूँगा।' यद्यपि ये बातें सेनापति के योग्य नहीं थी। शत्रु को सम्मति देना तो अपनी स्पष्ट पराजय है। शत्रु अपने छिद्र न जान सके, यही चेष्टा सेनापति को करनी चाहिये। किन्तु उन कुरुकुल-वृद्ध-पितामह से कह कौन सकता है? दुर्योधन ने उसे स्वीकार कर लिया। उसका तो अंत ही आ गया था; तभी तो उसके सभी प्रधान सेनापति शरीर से इधर थे और मन से पांडवों की ओर थे। जिसका नायक ही वे मन से लड़े उसकी सेना क्या कर्तव्य दिखावेगी?

पितामह ने कहा—'भाई! एक शर्त मेरी और है। मैं इस सूत-पुत्र कर्ण के साथ लड़ना नहीं चाहता। यह नीच मुझे कुछ समझता ही नहीं, इसलिये चाहे पहिले यह लड़ले चाहे मैं लड़ लूं। न तो मैं इसे अपने साथ रखना चाहता हूँ, न अपने अधीन बनाना चाहता हूँ।'

हाथ जोड़कर, रूखी शिष्टता के साथ, अपने रोष को रोकते हुए कर्ण ने कहा—'पितामह! पहिले आप ही अपनी करतूत दिखा लीजिये। आपके जीते जी मैं शस्त्र ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा कर ही चुका हूँ। आपके मरने पर ही मैं शस्त्र उठाऊँगा।'

बात समाप्त हुई। अब दुर्योधन ने वीरों का उत्साह बढ़ाने के लिये और अपना बलाबल जानने के लिये बुद्धिमानों में श्रेष्ठ, कुरुकुल पूज्य पितामह से पूछा—'पितामह! मैं अपने पक्ष के वीरों का बल जानना चाहता हूँ। मेरे पक्ष में कितने रथी हैं, कितने अतिरथी हैं और कितने महारथी हैं।' जो एक सहस्र वीरों के साथ अकेला ही युद्ध कर सके उसे रथी कहते हैं और जो दस सहस्र रथियों के साथ अकेला ही युद्ध कर

सके उसे महारथी कहते हैं तथा जो दस सहस्र महारथियों से युद्ध कर सके उसे अतिरथी कहते हैं।

पितामह ने एक-एक करके समस्त देशों के वीर योद्धाओं के नाम गिनाये—अमुक रथी है, अमुक महारथी है और अमुक अतिरथी है। यहां तक कि कर्ण के पुत्रों को भी रथी, महारथी की गणना में लाये। अब आई कर्ण की बारी। कर्ण को देख-कर पितामह बोले—'देखो! यह नीच जो तुम्हारे सामने बैठा है, जिसके बल भरोसे पर तुम अपने को सबसे अधिक बली समझते हो, जो इस महाभारत का प्रधान कारण है, जो हत्या की जड़ है, जो मूर्ख, निन्दक, कर्कश, आत्मश्लाघी, अभिमानी, दुष्ट, दुरात्मा और पापी है; जिसे तुम अपना भाई, मित्र सखा, सुहृद और सब कुछ समझते हो, जिसके इशारे पर तुम नाचते हो, जो अपने बल की सदा व्यर्थ डींग मारता रहता है, जो निर्बल होकर भी अपने को बली बताता है, इसे मैं न महा-रथी समझता हूँ, न अतिरथी और न रथी ही। इस नीच को ब्राह्मण का शाप है। झूठ बोलकर इसने मेरे गुरु परशुराम को ठगा है। उन्होंने इसे शाप दिया है, 'तू युद्ध के समय दिव्यास्त्रों को भूल जायगा।' इसलिये यह तो बेकार ही हुआ। इसलिये यदि गणना करनी ही हो तो इसे 'अर्धरथी' कह सकते हैं।'

यह अपमान सचमुच असह्य था। समस्त देश के राजाओं के सामने, जो दुर्योधन नाक का बाल बना था, समस्त जयपराजय की आशा जिस पर निर्भय थी उसे रथी भी न बताना, यह कर्ण का घोर अपमान था। क्रोध के मारे कर्ण के ओठ फड़कने लगे। आँखें लाल हो गईं। दांतो से ओठों को चबाते हुए वे बोले—'ये पितामह, सदा अकारण मुझ से द्वेष करते रहते

हैं।! दुर्योधन तुम्हीं बताओ इन बूढ़े का मैंने क्या बिगाड़ा है? मैं इनका जितना ही सम्मान करता हूँ उतना ही ये बलबलाते हैं। अपने आगे किसी को कुछ समझते ही नहीं। बाल पक गये हैं, बूढ़े हो गये हैं, फिर भी अभी ऐंठ नहीं गई। अब मैं क्या करूँ? मैं तुम्हारी ओर देखकर सब सह लेता हूँ, नहीं अभी इन्हें बता देता कि मैं रथी हूँ या महारथी।'

पितामह ने सूखी हँसी हँसते हुए कहा—'अरे सूत के छोकड़े! तुझे मैं बता देता कि इन बूढ़े हाड़ों में कितना बल है। तेरा मुंह अभी पीठ की तरफ कर सकता हूँ, किन्तु सोचता यही हूँ कि आपस में फूट न पड़े। तू जवान है, मैं बूढ़ा हूँ फिर भी तेरा तेल निकाल सकता हूँ। हाथ से मच्छर की तरह मसल दूँगा। बचूजी! सम्हल कर बातें करो।'

२१ बार समस्त पृथ्वी के क्षत्रियों को नाश करने वाले अपने गुरु परशुराम को मैंने युद्ध में छकाया है। वे संसार में मेरे ही युद्ध से सन्तुष्ट हुए हैं। तेरा तो तब जन्म भी न हुआ होगा। थोड़ा जीभ में लगाम लगाकर बातें कर। बड़ा ग्रास खाना अच्छा है, बड़ी बातें करना ठीक नहीं।'

कर्ण ने दुर्योधन को लक्ष्य करके कहा—'बहुत बूढ़े होने से मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। इसी तरह इन पितामह की बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। इन्हें तो सेनापति बनाना ही नहीं चाहिये था। इनको तो अब पेंशन का समय है। नहीं तो ये घर के शत्रु की तरह सर्वनाश कर देंगे। इनको तो अब विदा देना ही ठीक है। पड़े रहें और बड़बड़ाते रहें। बूढ़े का दिमाग़ हमेशा आसमान पर चढ़ा रहता है। अपने सामने किसी को कुछ समझते ही नहीं। आपने जो किया होगा, तब किया होगा जब कर्ण नहीं था। अब वे बातें पुरानी हो गईं। अब

तो मैं आपको दिखा सकता हूँ, किन्तु दुर्योधन ने तो मेरे हाथ काट दिये हैं। आपसे कुछ कहता हूँ तो उनका अनिष्ट होता है, नहीं कहता हूँ तो आप दिनो दिन अधिकाधिक सिर पर चढ़ते जाते हैं। सब लोग समझते हैं कि भीष्म धर्मात्मा और सत्यवादी हैं। वे कभी झूठ नहीं बोलते। यदि आप सबके सामने मुझे अर्धरथी कहेंगे तो सभी अर्धरथी कहकर मेरी हँसी उड़ावेंगे। इसलिये आपको ऐसी झूठी बात नहीं कहनी चाहिये। यह निर्णय तो अभी हो सकता है कि मैं रथी हूँ या अतिरथी।'

पितामह ने फिर गंभीरता के साथ कहा—'तू साक्षात् वैर का स्वरूप है। युद्ध का बीज तू ही है। मैं तो तुझे अभी मार सकता हूँ किन्तु मैं घर में विरोध भाव नहीं चाहता। तेरी मृत्यु तो सिर पर नाच रही है। जहाँ अर्जुन से तेरा सामना हुआ कि औंधा सिर कर के कुत्ते की मौत मारेगा। तू अर्जुन से किसी तरह बच नहीं सकता। तू नीच, कुलांगार, दुर्बुद्धि होकर भी अपने को श्रेष्ठ समझता है, इसी पाप का फल भोगेगा।'

बात को बढ़ते देख, दुर्योधन ने देखा यहाँ तो घर में युद्ध होना चाहता है। इसलिये उसने दोनों के हाथ पैर जोड़ कर, अनुनय-विनय करके दोनों को शांत किया। कर्ण का मन उदास हो गया।



कर्ण की भीष्म से अंतिम भेंट

व्यपनी तोऽद्यमन्युमें यस्त्वां प्रति धुराकृतः।
दैवं धुरुषकारेण न शक्य मतिवर्तितुम्॥
सोदर्याः पाण्डवा वीरा भ्रातरस्तेऽरिसूदन।
सङ्गच्छतैर्महावाहो मम चेदिच्छासिप्रियम॥*

(भी० प० १२२।२०।२१)

मनुष्य का असली रूप एकान्त में, अंत समय या विपत्ति में प्रकट होता है। धन-ऐश्वर्य में या सब के सम्मुख तो सभी अपने भावों को छिपा सकते हैं। प्रेम एक ऐसी चीज है जो क्रोध में नहीं छिप सकता। आंतरिक भाव थोड़ी देर भले ही छिपा लिये जायँ, किन्तु समय पर वे अवश्य प्रकट हो जायँगे।

अपनी प्रतिज्ञानुसार युद्ध में अभी तक कर्ण ने अस्त्र ग्रहण नहीं किये। वे अपने शिविर में एक तटस्थ पुरुष की भाँति बैठे रहते थे। कभी दर्शनार्थी की भाँति इधर-उधर घूम फिर कर युद्ध के मैदान को देख आते, नहीं तो मन मसोसे पड़े रहते। गाने वाले को ताल स्वर से युद्ध में या बाघों के रहने पर गाने को

---

* भीष्म ने कर्ण को आलिंगन करके कहा—'हे महाबाहो! मैं तुम्हें उपर के मन से बुरा कहता था। मेरा तुम्हारे प्रति अब क्रोध नहीं है। भैया! पुरुषार्थ के द्वारा भाग्य को कोई अन्यथा नहीं कर सकता। देखो पांडव तुम्हारे सगे भाई हैं; यदि तुम मुझे प्रसन्न करना चाहते हो तो बेटा, उनसे मेल कर लो।'

न मिले, भूखे को व्यंजन रहने पर भी खाने को न मिले, प्यासे को पिपासित अवस्था में गंगातट पर भी जल पीने की आज्ञा न हो जिस प्रकार इन सब को दुःख होता है; उसी प्रकार रण-भैरवी बजते रहने पर भी शूरवीर, पराक्रमी, आत्माभिमानी योद्धा को लड़ाई का अवसर न दिया जाय तो महान दुःख होता है। कर्ण अपने भावों को रोके हुये थे। उन्हें अपनी समस्त इच्छाओं के विरुद्ध लड़ाई करनी थी। उनका निश्चय था कि मेरा चाहे मान हो या अपमान मैं हर तरह दुर्योधन का भला करूँगा। मैं अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी उसका प्रिय कार्य करूँगा। इसी से उन्होंने भीष्म, द्रोण आदि के इतने अपमानों को चुपचाप सह लिया।

पितामह भीष्म ने जैसी प्रतिज्ञा की थी, उसी तरह एक-एक दिन में लाखों वीरों को वे मारते थे। जिधर भी भीष्म निकल जाते उधर ही घास की तरह योद्धाओं को काटते जाते। धर्मराज घबड़ा गये। भगवान वासुदेव की सम्मति से उन्होंने पितामह से उनकी मृत्यु का उपाय पूछा। अपनी प्रतिज्ञानुसार भीष्म ने बता दिया—'शिखंडी को आगे करके अर्जुन मेरे ऊपर बाण छोड़े; फिर मैं अस्त्र ग्रहण न करूँगा।' पांडवों ने ऐसा ही किया। द्रुपद के पुत्र शिखंडी जो पहले स्त्री थे, उन्हें आगे करके अर्जुन ने हजारों लाखों बाण छोड़कर कुरुकुल महारथी, संसार विजयी भीष्म को शरशय्या पर सुला दिया। पितामह भीष्म को अपने पिता की इच्छा-मृत्यु होने का वरदान था। अतः वे मरे नहीं। समर भूमि में शरशैया पर ही पड़े रहे। इस प्रकार १० दिन युद्ध करके भीष्म युद्ध से उपराम हो गये।

कर्ण ने जब सुना कि भीष्म रण में धराशायी हुए। पांडवों ने अधर्म से शिखंडी को आगे करके उन्हें मार दिया। तब

उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे जिस प्रकार अपने शिविर में बैठे थे वैसे ही जल्दी से उठकर पितामह के दर्शनों को चले। उनकी आँखों में आँसू थे, हृदय धड़क रहा था। जिन वीर को युद्ध में देवता भी परास्त नहीं कर सकते थे, उनको अन्याय से, अधर्म से पांडवों ने जीत लिया। जब वे शिखंडी को स्त्री समझकर युद्ध से उपराम हो चुके थे, तब शस्त्रहीन होने पर भी अर्जुन ने उनपर असंख्य बाण छोड़े। ये बातें स्मरण करके कर्ण बड़े दुखी थे। बिना सेवक, नौकर और वाहन के कर्ण अकेले ही भीष्म के पास चले।

जहाँ भीष्म शरशैया पर पड़े थे, उनके चारों ओर गहरी खाई खुदी हुई थी। पंक्तिबद्ध सैकड़ों सैनिक शस्त्र लिये उनकी रक्षा में चारों ओर खड़े थे। कर्ण ने जाकर देखा जैसे सहस्र-रश्मियों से सूर्य की शोभा होती है, वैसे ही असंख्य बाणों से वृद्ध पितामह शोभित होरहे थे। जैसे शरद का चन्द्रमा पृथ्वी पर गिर पड़ा हो, उसी प्रकार उनकी कांति छिटक रही थी। वे नेत्र बन्द किये, सनातन परब्रह्म भगवान वासुदेव के ध्यान में मग्न थे। कर्ण ने डबडबाई आँखों से उन वृद्ध महारथी को देखा और रुँधे हुए कंठ से कहा—"पितामह! मैं आपका प्रतिद्वंदी, सदा आपकी आँखों में किरकिरी की तरह खटकने वाला सूत-पुत्र राधेय कर्ण आपको प्रणाम कर रहा हूँ।" यह कहकर कर्ण ने अपना किरीट युक्त सिर पितामह के चरणों में रख दिया।

योगी जिस प्रकार समाधि से उठकर नेत्र खोलता है, उसी प्रकार धीरे-धीरे पितामह ने नेत्र खोले। उन्होंने एक बार दोनों नेत्रों से जी भरकर कर्ण के मुख को देखा। उनके दोनों नेत्रों की कोर से अश्रु बिन्दु इधर-उधर ढल पड़े। प्रहरी को आज्ञा

हुई, "समस्त रक्षकों को दूर चले जाने की आज्ञा दो।" जब समस्त पहरे वाले दूर चले गये, तब पितामह ने अत्यंत ही स्नेह के साथ कहा—"पुत्र कर्ण! आओ बेटा! आज मैं तुम्हें अच्छी तरह आलिंगन करलूं। आज मैं अपनी अंतिम इच्छा को पूर्ण कर लूँ।" यह कह कर उन्होंने कर्ण को अपने समीप बुलाया। नीचा मुख किये हुए कर्ण पितामह के दायीं ओर चले गये। पितामह के सम्पूर्ण शरीर में बाण विंधे हुये थे। बड़े कष्ट से उन्होंने अपना बाँया हाथ उठा कर कर्ण को अपनी छाती से चिपटाया। बँदरिया का बच्चा जिस प्रकार अपनी माता के हृदय से चिपक जाता है, उसी प्रकार कर्ण पितामह के हृदय से चिपक रहे थे। उन्होंने अपनी आँसुओं से पितामह के वक्षस्थल को भिगो दिया और पितामह के नेत्रों के आसपास की जमीन गीली हो गई। थोड़ी देर के बाद आँसू पोछते हुए कर्ण उठे और धीरे-धीरे अपना कोमल कर पितामह के मस्तक पर फेरने लगे। उन्होंने बाणों के बीच में फँसे हुए बालों को धीरे धीरे सुलझाया। पितामह ने गद्गद् कंठ से कहा—"बेटा कर्ण! इस समय तुमने आकर मेरा बड़ा उपकार किया। मैं तुम्हारे इस कार्य से अत्यंत सन्तुष्ट हुआ। देखो बेटा! मैं तुम्हें एक गुप्त बात बताता हूँ। तुम सूत के पुत्र नहीं हो। न अधिरथ तुम्हारा पिता है और न राधा माता। असल में तुम्हारी माता महारानी कुन्ती हैं और भगवान सूर्य तुम्हारे पिता हैं। धर्मतः तुम पांडु के पुत्र और मेरे नाती हो। मैं तुम से सत्य-सत्य कहता हूँ कि मेरा तुम से कभी द्वेष नहीं रहा है। हृदय से मैं सदा तुम्हारा सबसे अधिक सम्मान करता रहा हूँ। मैं खूब जानता हूँ कि तुम महा पराक्रमी हो और संसार में एक तुमही मुझ से टक्कर लेने वाले, मेरे प्रतिस्पर्धी हो। मैं तुम्हारे

गुणों को अच्छी तरह जानता हूँ। तुम धर्मात्मा, शूरवीर, सत्यपरायण और दानी हो। संसार में तुम्हारे टक्कर का योद्धा शायद ही कोई हो। तुम जरासंध से भी बढ़कर हो। संसार में वह अजेय था; युद्ध में उसे कोई भी नहीं जीत सका, उसे भी तुमने हराया था। तुमने अपने बाहुबल से पृथ्वी के समस्त राजाओं को जीत कर दिग्विजय की थी। मैं तुम्हारी शूरवीरता को खूब जानता हूँ। जान-बूझ कर भी मैं तुम्हारी सदा निन्दा करता रहता था। वह इसलिये कि तुम्हारा बल और उत्साह क्षीण हो। मुझे विश्वास था कि यदि दुर्योधन को तुम्हारा साहाय्य और सह-योग प्राप्त न होता, तो वह कभी युद्ध न करता। यदि तुम उससे अलग हो जाते तो यह सर्व-संहारक, कुल-घातक महा-युद्ध छिड़ता ही नहीं। अपने कुल की भलाई के लिये मैं तुम्हें उत्साही हीन करने के लिए ऐसी कड़ी-कड़ी बातें कहा करता था। तुम धर्मात्मा हो और निन्दा करने के अयोग्य हो। तुम वीरता में श्री कृष्ण और अर्जुन के समान हो। मैं मन-ही-मन तुम्हारा आदर करता था, किन्तु यह परस्पर का युद्ध अभीष्ट नहीं था। किन्तु भाग्य को कौन मेंट सकता है? जिसे मैं नहीं चाहता था वही हुआ और युद्ध का कर्णधार मुझे ही बनना पड़ा। अब बेटा! मेरी बात मान लो! अब तुम पांडवों से मेल कर लो। मुझ बूढ़े की आहुति देने से ही यह नर-संहारी महायुद्ध समाप्त हो जाय तब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। मेरी तो अब अवस्था ही है। मैं तो मृत्यु के घाट पर बैठा ही था; आज नहीं कल, मुझे तो मरना ही है। अभी तुम सब बच्चे हो; राज सुख के योग्य हो। भाई-भाई पर-स्पर में मिलकर सुख भोगो और अपना संयुक्त बल लगा

कर विपक्षी राजाओं को परास्त करो। कर्ण और अर्जुन मिलकर देवताओं को भी जीत सकते हैं। तुम दोनों भाइ अद्वितीय योद्धा हो। तुम सब भाई मेरे सामने आकर छाती से छाती लगाकर मिलोगे तो मुझे कितना सुख होगा। तुम्हें प्रेम से साथ बैठे देखकर मैं सन्तोष के साथ सुखपूर्वक मर सकूँगा। बेटा ! मेरी इस बात को मान लो।'

इतना कहते-कहते पितामह का गला सूखने लगा। वे बहुत थक गये और चुप हो गये। पितामह के दोनों चरणों को धीरे-धीरे दबाते हुए कर्ण बोले—'पितामह ! यदि ऐसा हो सकता होता तो इससे मुझे अत्यन्त प्रसन्नता होती, किंतु ऐसा अब होना असंभव ही है। आप स्वयं ही कह चुके हैं पुरुषार्थ से कोई भाग्य को असंभव नहीं कर सकता। मालूम होता है कि मुझे विधाता ने इसीलिये उत्पन्न किया है। अर्जुन से लड़ने की मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। यह मैं आपकी बात मानता हूँ कि भगवान वासुदेव जिसके रक्षक हैं उस अर्जुन को कोई संसार में जीत नहीं सकता, किन्तु इससे मेरा उत्साह कम नहीं हुआ है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है, मेरे मन में ऐसा उत्साह उठता है कि मैं पांडवों को जीत लूँगा। पांडवों की इतनी तैयारियों से मुझे भय नहीं होता। मैं अर्जुन से युद्ध किये बिना मानूँगा नहीं। किन्तु शस्त्र मैं तभी उठाऊँगा जब आपकी आज्ञा और आशीर्वाद प्राप्त कर लूँगा। मैं आपके चरणों में अपना मस्तक टेक कर आपसे युद्ध करने की आज्ञा और अनुमति चाहता हूँ। आपका आशीर्वाद मेरे लिये कल्याण-प्रद ही होगा।'

पितामह की आँखों से फिर टप-टप करके आँसू गिरने लगे। उन्होंने कर्ण को फिर छाती से लगाया और बोले—'बेटा ! मैं

भी जानता हूँ कि संसार के वीरों का क्षय इस युद्ध में अवश्यम्भावी है। युद्ध को अब टालने की किसी की शक्ति नहीं। वासुदेव भगवान को यही मंजूर है। अर्जुन के रथ पर बैठ कर वे ही सब की आयु और प्राणों का क्षय कर रहे हैं। अच्छी बात है बेटा, मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ तुम क्षत्रिय धर्म के अनुसार बड़े उत्साह के साथ युद्ध करो। जैसे पांडवों के सर्वस्व श्रीकृष्ण हैं, उसी तरह कौरवों के सहारे, रक्षक और त्राता तुम हो। दुर्योधन के एकमात्र अवलंब तुम ही हो। तुम अर्जुन से खुल कर युद्ध करो। तुम्हारा मङ्गल होगा। मरकर उत्तम लोकों को प्राप्त करोगे। क्षत्रियों के लिये रणभूमि में शस्त्र के प्रहार से लड़ते-लड़ते शत्रु के सम्मुख मर जाने से श्रेष्ठ गति दूसरी कोई नहीं है। भगवान तुम्हारा भला करे। माँ जगदम्बा तुम्हें सद्बुद्धि प्रदान करें। तुम्हारे पिता सूर्य तुम्हारे शौर्य, तेज और बल-पौरुष से सन्तुष्ट होकर तुम्हें अपना स्वरूप प्रदान करें। मेरी मङ्गल कामना तुम्हारे लिये सदा बनी रहेगी।'

यह कहकर भीष्म ने कर्ण का माथा सूंघा। कर्ण ने फिर गदगद कंठ से कहा,—'मेरे पिता के भी पिता! मेरे माननीय देव, यदि भूल में, प्रमाद से, अज्ञानतावश मैंने जो भी अनुचित बात कह दी हो उसे आप भूल जायँ, मेरे अपराधों को क्षमा करें।'

इतना कहकर कर्ण ने पितामह के पैर छुए, उनकी प्रदक्षिणा की और अपने शिविर को लौट आए।

बड़ों का सदा सम्मान करने से, उनकी अनुचित बातों को भी सहने से उसका परिणाम अच्छा ही होता है और पीछे उसका शुभ फल मालूम पड़ता है।

भीष्म की आज्ञा से कर्ण का अस्त्र ग्रहण।

शिवेनाऽभिवदामित्वां गच्छ युद्धयस्व शत्रुभिः।
अनुशाधि कुरून् संख्ये धत्स्व दुर्योधनेजयम्॥*
(द्रो० प० ४।१०)

जिन्हें कार्य करने की सच्ची लगन है, वे पद, प्रतिष्ठा की परवाह नहीं करते। बहुधा देखा ऐसा ही जाता है कि सच्चे कार्य-कर्ता प्रतिष्ठा के समय तो दूसरों को आगे कर देते हैं और कार्य करने के समय स्वयं जुट जाते हैं। उन्हें उत्तम पद मिले इसके लिये वे कभी चेष्टा नहीं करते। भरसक उससे बचते ही रहते हैं। पद प्रतिष्ठा कभी-कभी तो कार्य में विघ्न स्वरूप हो जाती है। लोग पद प्रतिष्ठा के चक्कर में पड़ कर अकारण ही परस्पर में द्वेष करने लगते हैं, फिर असली काम तो रह जाता है और आपस में ही एक दूसरे को नीचा दिखाने के उद्योग में लग जाते हैं। प्रतिष्ठित किसी के बनाने से नहीं बनते। अच्छे काम स्वयं ही पुरुष की प्रतिष्ठा बढ़ा देते हैं। जो स्वयं ही प्रतिष्ठित बनना चाहता है, अभिमान के कारण उसकी प्रतिष्ठा घट जाती है। कोई बनावे चाहे न बनावे संसार में प्रतिष्ठा उसी की होगी जिसने जान पर खेल कर कार्य किया हो।

---

* भीष्म पितामह ने कहा, 'बेटा कर्ण! जाओ। मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ। तुम शत्रुओं से युद्ध करो। समस्त कौरवों की रक्षा करते हुए तुम दुर्योधन को विजयी बनाने का उद्योग करो।'

जो प्रतिष्ठित बनना चाहते हैं; वे किसी तरह षडयन्त्र से लोगों को मिला कर प्रतिष्ठित पद पर आसीन तो हो जाते हैं, किन्तु काम पड़ने पर प्राणों के मोह से बहाना बना देते हैं और अन्त में उनकी निन्दा होती है। इसलिए सच्चे पुरुष जबतक विवश नहीं हो जाते, तब तक किसी पद को ग्रहण नहीं करते।

पितामह भीष्म के शर-शैया पर पड़ते ही कौरव सेना में हाहाकार मच गया। "अब हमारी रक्षा कौन करेगा? बिना नायक के वीर कैसे लड़ेंगे? सेनापति के बिना काम कैसे चलेगा? अब भीष्म के समान वीर एक मात्र कर्ण हैं। कर्ण हमारी रक्षा करें तब काम चलेगा, नहीं तो हम लोग बिना मौत मारे जायेंगे।" यही सर्वत्र कौरव शिविरों में शोर मच रहा था। सबकी जिह्वा पर कर्ण का नाम नाच रहा था। जिधर देखो उधर ही सैनिक कर्ण की दुहाई दे रहे थे। दुर्योधनादि कौरव घबड़ाये हुए थे। उनके एक मात्र जीवनदाता, भय-त्राता, रक्षक; सुहृद और सखा कर्ण ही थे। उनकी सम्पूर्ण आशायें कर्ण पर ही लगी हुई थीं।

महात्मा कर्ण ने भी अपना धन, स्त्री, पुत्र और सर्वस्व दुर्योधन के लिये समर्पित कर रखे थे। कौरव सेना में सेनापति के अभाव होने से हाहाकार मचा हुआ था। सभी भयभीत और डरे हुए मालूम पड़ते थे। पांडवों की सेना में उत्साह छा रहा था। पांचाल वीर जोरों से गर्जना कर रहे थे। कौरव सेनाकी ऐसी दशा देख कर और सबके मुख से अपना ही नाम सुनकर कर्ण जल्दी से अपने शिविर से बाहर हुए। उन्होंने आज्ञा के स्वर में सब सेवकों से कहा,—'अभी मेरा रथ लाओ। मेरे पहिनने के कवच और वस्त्र लाओ। युद्धोपयोगी सब सामान तैयार करो। मैं युद्ध करने जाऊँगा। बात की बात में सब सामान

सेवकों ने सम्मुख उपस्थित कर दिया। कर्ण ने वीर वेष बनाया। वे शूरवीर योद्धा के वेष में बड़े ही भले मालूम पड़ते थे। उनके रथ की घरघराहट और सेवकों के कोलाहल से पृथ्वी काँपने लगी, दिशायें गूँजने लगी और वे जोरों से शंख बजाते हुये कौरव सेना, को उत्साहित करने लगे। रथ पर चढ़े हुए वीर-वेष में महाधनुर्धर कर्ण को देखकर सबकी जान में जान आई। गया हुआ उत्साह फिर से लौट आया। सैनिक मारे प्रसन्नता के कोलाहल करने लगे। जैसे किसी अपने परम आत्मीय बन्धु का पुत्र मर जाय और सुनते ही उसके स्नेही उसके पास दौड़े जायँ, उसी तरह कर्ण दुर्योधन के पास दौड़े गये और बोले,—'महाराज! आप कोई चिंता न करें। मैं आपके शत्रुओं को उसी तरह मारूँगा जैसे सिंह मृगों को मार डालता है। पितामह का शर-शैया पर गिरना एक असंभव बात थी। संसार में उन्हें कोई जीत नहीं सकता था, किन्तु दैव की गति विचित्र है। इसे कोई समझ नहीं सकता। जब पितामह ही धराशायी हुये, तब कौन अपने प्राणों को सुरक्षित कह सकता है? फिर भी 'जब तक स्वाँसा, तब तक आशा' हम अपनी पूरी शक्ति लगाकर अर्जुन से लड़ेंगे; पांडव-पक्ष के वीरों को संग्राम में मारेंगे। जय-पराजय तो श्रीकृष्ण के हाथ में है। इस समय मैं कुरुकुल-वृद्ध, जगतवन्द्य पितामह भीष्म के पास उनकी आज्ञा लेने जा रहा हूँ। वे मुझे युद्ध के लिये आज्ञा और आशिर्वाद दे देंगे तभी मैं युद्ध में प्रवृत हो सकता हूँ। उनकी आज्ञा के बिना मैं कुछ भी न करूँगा।'

यह कह कर कर्ण ने सारथी को रथ चलाने को कहा। सारथी रथ को दौड़ाता हुआ भीष्म के समीप पहुँचा। जहाँ से भीष्म का स्थान दीखने लगा वहीं पर कर्ण ने रथ को छोड़

दिया। नौकरों को साथ आने से निवारण कर दिया। अकेले और पैदल ही वे भीष्म के निकट पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने देखा मृत्यु जिनके वश में है, ऐसे शांतनु-सुत, गंगातनय, वसु के अवतार, परशुराम से युद्ध में टक्कर लेनेवाले, संसार विजयी बालब्रह्मचारी, निखिल शास्त्रवेत्ता, धर्मात्मा, सत्यवादी, पितामह भीष्म शर-शैया पर आँख बंद किये चुपचाप पड़े हैं। उनके शरीर में तिल भर भी ऐसी जगह नहीं है, जिसमें बाण न लगा हो। इरछे-तिरछे, सीधे, दायें-बायें, सर्वत्र बाण ही बाण हैं। बाणों की शैया पर वे तपस्वी की तरह, योगी की तरह और मृगराज की तरह पड़े हुये हैं। उनका मन भगवान वासुदेव के चरणों में लगा हुआ है। अपने प्रधान सेनापति और कुरुकुल के सब से श्रेष्ठ महापुरुष की ऐसी दशा देखकर कर्ण रो पड़े। उनकी आँखों से अश्रुधारा बह रही थी। हा! दैव की कैसी अद्भुत गति है, विधाता की कैसी विचित्र विडम्बना है, जो समर में संसार विजयी के नाम से विख्यात थे, जिनकी बराबरी देवता, यक्ष, गन्धर्व, गुह्यक तथा राक्षस भी नहीं कर सकते थे, जो देवराज इन्द्र को भी युद्ध में परास्त करने की शक्ति रखते थे, आज वे अनाथ की तरह, साधारण मनुष्य की तरह समरभूमि में शर-शैया पर सुख से सो रहे हैं। कर्ण ने पितामह के चरणों में सिर रखकर उन्हें प्रणाम किया और कहा—'पितामह! मैं कर्ण आपके चरणों में प्रणाम कर रहा हूँ।'

पितामह ने आँखें खोलीं और स्नेह के साथ कहा—'आओ बेटा, कर्ण! आओ! तुम भले आये।'

कर्ण ने कहा—'हे कौरवों के परमपति! आप हम सब के नाथ हैं। आपके बिना दुर्योधन की सेना में हाय-हाय मच रही है। सर्वत्र त्रास फैला हुआ है। हे गंगानन्दन! मैं युद्ध के

लिये आपकी आज्ञा लेने आया हूँ। आप मेरी ओर कृपापूर्ण दृष्टि से देखें। आप एक बार मुझे स्नेह-पूर्वक आँख भर के ऊपर से नीचे तक देख लें। आप की आज्ञा लेकर मैं पांडवों से युद्ध करना चाहता हूँ। अर्जुन को समरभूमि में परास्त करना चाहता हूँ। यद्यपि मैं जानता हूँ भगवान वासुदेव चराचर प्राणियों से अजेय हैं। उन्हें संसार में कोई जीत नहीं सकता। वे ही वासुदेव जिन पांडवों के पृष्ठपोषक, अंग-रक्षक, सखा, सुहृद, सारथी, मंत्री और सम्मतिदाता हैं। जो पांडव असुरारी यदुनंदन की आज्ञा के बिना कोई भी कार्य नहीं करते, उन्हें जीतना सहज नहीं है। फिर भी मैं अपनी प्रतिज्ञानुसार घनघोर युद्ध करना चाहता हूँ। अपने प्राणों की बाजी लगाकर दुर्योधन का भला करना चाहता हूँ। दुर्योधन जिस समय के लिये मुझसे आशा लगाये बैठे थे; वह समय अब आगे आ उपस्थित हुआ है। अब मैं गांधारी-नन्दन के समस्त मनोरथों को पूर्ण करना चाहता हूँ। अब या तो मैं अपने चोखे बाणों से पांडवों को परास्त करूँगा या स्वयं धराशायी हूँगा। अब मुझे जीने की इच्छा नहीं। अब मैं अपनी पूरी शक्ति लगाकर, जान पर खेल कर युद्ध करना चाहता हूँ। मेरे दोनों हाथों में लड्डू हैं, या तो इन्द्र की दी हुई अमोघ शक्ति से सव्यसाची अर्जुन का वध करूँगा या गांडीव धनुष से निकले हुए बाणों से आप की ही भाँति ही रणभूमि में गिर पड़ूँगा। यदि जीतूँगा, तो मित्र ऋण से उऋण होकर कृतज्ञ कहाऊँगा; और समस्त पृथ्वी का सुख भोगूँगा। युद्ध में शत्रु के सम्मुख लड़ते-लड़ते शस्त्र से मारा जाऊँगा तो स्वर्ग में सुख भोगूँगा, दिव्यलोकों को प्राप्त हूँगा। आप मेरे ऊपर कृपा करें। मुझे आज्ञा, आशीर्वाद, अनुमति और उपदेश दें।'

भीष्म ने धीरे-धीरे कहना आरम्भ किया—'कर्ण! तुम संसार में अद्वितीय शूरवीर हो। ऐ सूर्यनन्दन! तुम्हारे समान योद्धा तुम ही हो। दुर्योधन की समस्त आशायें तुम्हारे में ही केन्द्रीभूत हैं। जैसे पांडवों के श्रीकृष्ण आधार हैं, उसी तरह कौरवों के तुम ही एकमात्र गति हो। बेटा! मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ; जाओ पांडवों से युद्ध करो। भगवान तुम्हारा कल्याण करें। तुम्हारा सर्वत्र मङ्गल ही होगा। संसार में तुम्हारी कीर्ति सदा बनी रहेगी। निश्चय ही तुम पुण्यात्माओं के उत्तम लोकों को प्राप्त कर सकोगे। मैं आज्ञा देता हूँ, तुम सव्यसाची, गांडीवधारी अर्जुन से जाकर युद्ध करो। अपने युद्ध कौशल से भगवान वासुदेव को सन्तुष्ट करो। उनके सम्मुख मरने से ही सद्गति मिलेगी।'

इतना कहकर पितामह चुप हो गये। कर्ण ने अपने देवतुल्य पितामह की चरण-वंदना की। सुवर्ण-मण्डित, किरीटयुक्त मस्तक को उनके चरणों में रखकर उनका सम्मान किया; फिर तीन बार उनकी प्रदक्षिणा करके तथा उनकी आज्ञा और अनुमति पाकर कर्ण ने रणभूमि की ओर प्रस्थान किया। उनके भयङ्कर सिंहनाद को सुनकर शत्रु सेना में आतंक छा गया तथा कौरव सेना में हर्ष का समुद्र उमड़ने लगा। कौरव पक्ष के वीर अपने हाथों से दुपट्टा उड़ा-उड़ाकर तथा शंख, दुंदुभी और भेरी तथा शंख बजा-बजाकर वीर कर्ण का स्वागत करने लगे। धर्मराज जिसके बल को स्मरण करके रात्रि दिन बेचैन रहते थे, वही वीर अब दिव्य कवच पहिन कर संग्राम में आ गया है। यह सुनकर शत्रुसेना के छक्के छूट गये।

दुर्योधन ने कर्ण का स्वागत किया और नम्रता के साथ कहा—'बन्धुवर ! अब मुझे जो करना उचित हो, उसका उपदेश दीजिये। आप ही हमारे मन्त्री, सुहृद, सेनापति तथा सर्वस्व हैं। हमारा राज्य, कोष, धन, भाई, बन्धु सब तुम्हारे अधीन हैं। भीष्म की जगह अब सेनापति के पद पर किसे अभिषिक्त करूँ, इसकी आप आज्ञा दीजिये।'

कर्ण ने कहा—'राजन् ! आप स्वयं बुद्धिमान हैं। उचित-अनुचित बात को आप मुझसे अधिक सोच सकते हैं। आप की सेना में अनेक वीर हैं। सभी कुलीन, धर्मात्मा और शस्त्रज्ञ हैं। उनमें से एक को चुनकर तुम सेनापति बनाओगे तो दूसरे बुरा मानेंगे और अपना अपमान समझेंगे तथा मन लगाकर युद्ध न करेंगे। वे सेनापति का समय आने पर अपमान करेंगे और उसे मरवाने की चेष्टा में रहेंगे। इसलिये मेरी सम्मति में सेनापति ऐसा होना चाहिये जो वर्ण में, कुलीनता में सबसे श्रेष्ठ हो, वयोवृद्ध हो, जिसकी आज्ञा सब मान सकें, सभी का जिनमें पूज्यभाव हो। मेरी दृष्टि में ऐसे द्रोणाचार्य ही हैं। इनके सेनापति बनाने में सभी सन्तुष्ट होंगे। वैसे भी सभी गुरु भाव से इनकी चरण-वंदना करते हैं। सेनापति होने पर तो कोई इनकी आज्ञा को टाल नहीं सकता। अतः मेरी सम्मति में आचार्य को प्रधान सेनापति के पद पर अभिषिक्त कर दो।'

कर्ण की आज्ञा पाकर दुर्योधन ने आचार्य द्रोण का प्रधान सेनापति के पद पर अभिषेक किया। अब नये उत्साह से आचार्य के नेतृत्व में कर्ण के द्वारा रक्षित कौरव सेना ने पांडवों पर धावा बोल दिया।

—:०:—

कर्ण का घोर युद्ध और इन्द्रदत्त अमोघ शक्ति का प्रयोग

शक्ति हस्त पुनः कर्णं को लोकेऽस्ति पुमानिह ।
य एनमभितस्तिष्ठेत् कार्तिकेयमिवाहवे ॥*

(द्रो० प० १८० । १३)

मनुष्य अपना असली पुरुषार्थ तभी प्रकट कर सकेगा, जब वह प्राणों का मोह छोड़ देगा। जब तक मनुष्य मरने को उद्यत नहीं होता, तब तक उसे किसी भी काम में पूर्ण सफलता नहीं मिलती। सद्-कार्य के लिये हँसते मरना ही जीना है। जो मरना नहीं जानता वह व्यर्थ जीता है। जिसे प्राणों का मोह है, वह तो नारकीय जीव है। प्राणों का उपयोग ही यश, कीर्ति और आत्मज्ञान है। जिसने इस नश्वर शरीर से अक्षयकीर्ति लाभ नहीं की, जिसने प्राणों की बाजी लगाकर सत्-साधन नहीं किये; वह तो व्यर्थ जीता है। इसलिये तो जङ्गल में घोर साधन करते हुए योग के द्वारा अपने आप शरीर को त्याग देना और समर में शत्रु के सामने हँसते-हँसते प्राण त्याग देना, ये ही दो श्रेष्ठ मृत्यु बताई गई हैं। इन्हीं दो का शरीर धारण करना सार्थक है। नहीं वैसे तो कौआ भी बुरी वस्तु से अपना पेट भर कर बहुत वर्षों तक जीता रहता है।

---

* इन्द्रदत्त शक्ति के विफल हो जाने पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—"कर्ण वैसे ही बड़ा बलवान है, फिर जब देवताओं के सेनापति स्वामिकार्तिकेय के समान वह शक्ति हाथ में लेकर खड़ा हो तो संसार में ऐसा कौन पुरुष है, जो उसे जीत सके ?"

महावीर कर्ण के शस्त्र ग्रहण कर लेने पर कौरवों को बड़ी प्रसन्नता हुई और बड़े उत्साह से कौरव सेना युद्ध में प्रवृत्त हुई। यद्यपि पांडव पक्षीय वीर अपने बाणों से कौरव सेना का बुरी तरह विनाश कर रहे थे, किन्तु कौरव सेना ने कायरता नहीं दिखाई। सभी प्राणों का मोह छोड़ कर लड़ रहे थे। कर्ण सबको उत्साहित कर रहे थे।

समर में कभी किसी की जय होती है और कभी किसी की पराजय। सदा जय तो भगवान की ही होती है। भगवान को छोड़कर अन्य पुरुषों की कभी जय होती है, कभी पराजय। कर्ण अनेक योधाओं से लड़े। कभी अवसर पाकर वे युद्ध से हट जाते और थोड़ी देर में सँभल कर फिर युद्ध करने लगते।

उन्होंने अनेक वीरों को धराशायी किया। बहुतों को घायल किया और असंख्यों क्षत्रियों को स्वर्ग पठा दिया! इसी युद्ध में भीमसेन भी उनके सामने आये। उनसे इसका घोर युद्ध हुआ। कर्ण ने उनका रथ तोड़ दिया, सारथी और घोड़ों को मार दिया, उनके धनुष को काट दिया तथा शस्त्रहीन बना दिया। अब ऐसे समय वे चाहते तो भीमसेन को जान से मार सकते थे। किन्तु उन्हें अपनी माता कुन्ती को दिये हुए वचनों का स्मरण था। उन्होंने भीमसेन को जान से नहीं मारा। धनुष की नोक से उनके शरीर को धक्का देकर वे भीमसेन से बोले — "अरे पेटू! तू तो भाग जा यहाँ से। इधर उधर युद्ध कर। मेरे जैसे वीर के सामने फिर कभी नहीं आना। तू साँड़ की तरह फूल रहा है। तुझमें कुछ बल भी है? बहुत खाने वालों में बल कहाँ से आया? वे तो पेटू होते हैं। तू युद्ध करना क्या जाने? तू तो रसोइयों और भोजन परोसने वालों को ही डाँट-फटकार बता सकता है या मनों हलुआ उड़ा

सकता है। वनवास में भीख माँगना ही तेरे योग्य कार्य है। खबरदार अब मेरे सामने आया तो।' यह कहकर भीमसेन को कर्ण ने छोड़ दिया। भीमसेन ने अपना बड़ा अपमान समझा। वे कर्ण को खरी-खोटी सुनाने लगे। कर्ण ने उनकी सभी बातें अनसुनी कर दीं और वे लड़ने लगे।

अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु ने बड़ी वीरता दिखाई। उसने कौरव सेना के छक्के छुड़ा दिये। उस वीर बालक की वीरता को देख कर बड़े-बड़े महारथी घबड़ा गये। प्रधान सेनापति द्रोणाचार्य ने उस बालक को मारने के लिये पूरी शक्ति लगा दी। उन्होंने एक अभेद्य व्यूह की रचना की। उस व्यूह का भेद अभिमन्यु जानते थे। धर्मराज की आज्ञा से उस व्यूह को भेदने के लिये अभिमन्यु भीतर घुसे। धर्मराज अपने वीर सैनिकों के सहित उनके पीछे जाना चाहते थे, किन्तु शिव के वरदान से बली जयद्रथ ने उन्हें किसी तरह भीतर नहीं जाने दिया। अकेला बालक व्यूह के भीतर घिर गया और वहाँ द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, कर्ण, वृहद्‌वल और कृतवर्मा इन ६ महारथियों ने मिलकर उसे मार डाला। छोटे बालक को ६ महारथियों ने मिलकर अधर्म से जीता। यदि एक-एक उसके साथ युद्ध करते तो वह न मारा जाता; किन्तु प्रधान सेनापति द्रोणाचार्य की यही आज्ञा थी। सभी ने उसका पालन किया। अभिमन्यु की मृत्यु में जयद्रथ को प्रधान कारण समझ कर अर्जुन ने उसे भगवान की कूटनीति के सहारे मारकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

दोनों ओर घमासान युद्ध हो रहा था। रणचंडी का वहाँ नग्न नृत्य हो रहा था। रणभैरवी योद्धाओं के शरीर में उत्साह की बिजली-सी उत्पन्न कर देती। दोनों ओर के योद्धा

प्राणों का मोह छोड़कर लड़ रहे थे। सभी को यही आशा थी—मरेंगे तो स्वर्ग मिलेगा, जीतेंगे तो 'जय' प्राप्त होगी। कौरवों की ओर एक मायावी अलायुध राक्षस था और पांडवों की ओर भीमसेन का पुत्र घटोत्कच था। दोनों राक्षस घोर मायावी, शूरवीर और रण से हटने वाले नहीं थे। दोनों में घोर युद्ध हुआ और महाबली भीम के पुत्र घटोत्कच ने अलायुध को मार गिराया। पहिले घटोत्कच कर्ण से ही युद्ध कर रहे थे, किन्तु जब अलायुध ने भीमसेन को घेर लिया तब घटोत्कच कर्ण को छोड़कर अपने पिता की रक्षा करने गये और अपनी राक्षसी माया से अलायुध की माया को खंडित करके उसे मार डाला। अलायुध बड़ा भारी वीर था। दुर्योधन को उसका पूरा भरोसा था। भीमसेन ने उसके भाई को मारा था, अतः उसने प्रतिज्ञा की थी, 'मैं भीमसेन को मार डालूँगा।' किन्तु दैव-गति से वह स्वयं भीम-पुत्र के हाथों मारा गया। अब तो कौरव बड़े दुखी हुए। राक्षसों का बल रात्रि में बहुत बढ़ जाता है। दोनों राक्षस रात्रि में ही लड़ते रहे। अलायुध को मारकर घटोत्कच कौरव सैना की ओर मुड़ा। आज उसने विकराल रूप धारण कर लिया था। वह अपनी पूरी शक्ति लगा कर युद्ध कर रहा था। युध क्या कर रहा था? उसने तो प्रलय-कालीन दृश्य उपस्थित कर रखा था। मानों आज वह कौरवों की समस्त सेना का संहार करके ही साँस लेगा। उसकी राक्षसी भयङ्कर मार से कौरवसेना तिलमिला उठी और युद्ध छोड़कर भाग खड़ी हुई। घटोत्कच आकाश से निरन्तर भयङ्कर अस्त्र-शस्त्र और गोलों की वर्षा कर रहा था। पृथ्वी पर खड़े हुये सैनिक उसके अस्त्रों से बुरी तरह मरने लगे।

वह भागते हुए वीरों का भी पीछा करने लगा। कौरव सेना में सर्वत्र हाहाकार मच गया। चारों ओर 'हे कर्ण, बचाओ। हे कर्ण, हमारी रक्षा करो।' यही आर्तनाद सुनाई पड़ने लगा। कर्ण ने आगे बढ़कर घटोत्कच को रोका और उससे युद्ध करने लगे; किन्तु वह राक्षस तो मानवीय युद्ध करता ही नहीं था। वह तो आकाश में कभी अदृश्य हो जाता, कभी भयंकर रूप बना लेता। कभी लाखों राक्षस पैदा करके अस्त्रों की वर्षा करता। कभी निरंतर आकाश से प्रलयकारी अस्त्रों की वर्षा करने लगता। इसकी ऐसी लड़ाई से कर्ण के आश्वासन देने पर भी कौरव सेना में भगदड़ मच गई। कौरव सेना के वीर भय से अंधे हो गये, परस्पर में ही मारकाट करने लगे। उन्हें अपने पराये का ज्ञान नहीं रहा। घोर आधी रात्रि में यह भयंकर राक्षसी-घोर युद्ध हो रहा था। सोते हुए शिविरों के सैनिकों पर भी वह गोला वर्षाने लगा। चारों ओर तूफान सा आ गया। सैनिक कर्ण की ही दुहाई देने लगे—'हे दानवीर! आप अपनी इन्द्रदत्ता-शक्ति को छोड़कर इस दुष्ट की माया को नाश कीजिये। हमें इस घोर विपत्ति से बचाइये, हम बेमौत मर रहे हैं! कर्ण बड़ी देर तक उससे लड़ते रहे। अंत में वे भी विचार शून्य हो गये। उन्हें कुछ सूझ न पड़ा। भगवान की माया से मोहित होकर वे अर्जुन को मारने की बात को भूल गये। जिस इन्द्रदत्ता अमोघ शक्ति को वे अर्जुन के मारने के लिये रखे हुए थे, जिसकी वे नित्य विधिःपूर्वक आराधना करते थे, मोहवश सैनिकों के आर्तनाद को सुनकर वह शक्ति उन्होंने घटोत्कच के ऊपर छोड़ दी। कभी व्यर्थ न होने वाली उस दिव्यशक्ति ने समस्त राक्षसी माया का क्षण भर में नाश कर दिया। उसी समय कर्ण को पर्वताकार घटोत्कच का बृहत्काय शरीर दिखाई दिया। इन्द्रदत्त शक्ति उसके

शरीर में लगी। शक्ति लगते ही घटोत्कच के शरीर के टुकड़े टुकड़े हो गये। मरते-मरते भी उसके शरीर ने हजारों लाखों सैनिकों को मार गिराया। घटोत्कच के मरने पर कौरव सेना में प्रसन्नता का सागर उमड़ने लगा। इधर पांडव सेना में सर्वत्र शोक छागया। धर्मराज और उनके भाई-बन्धु तथा सम्बन्धी शोकसागर में निमग्न हो गये। पीछे से कर्ण को स्मरण आया, अरे! बड़ी भूल हो गई। किन्तु जो शक्ति छूट गई वह फिर लौटकर उनके पास आ तो सकती ही न थी। वह तो घटोत्कच को मारकर सीधी स्वर्ग में इन्द्र के पास चली गई।

पांडव सेना में रुदन का शब्द सुनाई देने लगा। धर्मराज के रोने पर सभी जोरों से रुदन करने लगे। शत्रुओं को मारकर लौटते हुये रथ पर श्रीकृष्ण और अर्जुन ने यह समाचार सुना। सुनते ही भगवान वासुदेव जो उनके सारथी बने हुए रथ हाँक रहे थे, अर्जुन के रथ को खड़ा कर दिया। दौड़ कर उन्होंने अर्जुन को बारंबार आलिंगन किया। वे बार बार हँसते और फिर-फिर अर्जुन का आलिंगन करते। मारे प्रसन्नता के मधुसूदन थिरक-थिरक कर नाचने और गाने लगे। वे जोरों से हँसते और हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते। अर्जुन ने आज तक श्रीकृष्ण की ऐसी दशा कभी नहीं देखी थी। वे आश्चर्य-चकित होकर भगवान की ओर देखने लगे। जब भगवान की प्रसन्नता का आवेग कम हुआ और वे हँसते-हँसते आकर रथ पर बैठ गये तब हाथ जोड़े हुए भगवान से अर्जुन ने पूछा,—'प्रभो! मेरी ओर आज सर्वत्र रुदन की करुण क्रंदन ध्वनि सुनाई दे रही है। आप ताली बजा-बजा कर हँस रहे हैं। आप समुद्र की तरह गंभीर हैं; हिमालय की तरह अटल प्रतिज्ञ हैं। संसार में आपके लिये कोई आश्चर्य की बात नहीं

फिर भी आज आप पागलों की तरह हँस रहे हैं और नाच रहे हैं। इसका मैं कारण जानना चाहता हूँ। आपकी हँसी अकारण तो हो नहीं सकती। प्रभो! मेरा प्राण प्यारा भतीजा, भीम का दुलारा पुत्र, महापराक्रमी घटोत्कच मारा गया है। उसकी मृत्यु पर आप शोक न करके इतने प्रसन्न क्यों हो रहे हैं।? यदि बताने योग्य बात हो तो कृपा करके मुझे बताइये। मैं अत्यन्त ही विस्मित हो रहा हूँ।"

भगवान बोले,—'अर्जुन। मुझे रात्रि दिन तुम्हारी चिन्ता बनी रहती थी। कर्ण दिव्य कवच और कुण्डल धारण किये पैदा हुआ था। जब तक उसके शरीर पर कवच कुंडल बने रहते तब तक संग्राम में उसे कोई भी नहीं मार सकता था। तुम्हारा प्रिय करने के लिये तुम्हारे पिता इन्द्र ने छल से उसके कवच कुंडल छीन लिये। फिर भी उसने इन्द्र से एक अमोघ शक्ति मांग ली थी। वह शक्ति कभी भी व्यर्थ होने वाली नहीं थी। कर्ण बड़े यत्न से तुम्हारे मारने के लिये सुरक्षित रखे हुए था। मुझे रात्रि दिन उसी का खटका बना रहता था। कर्ण महाबली है, परम धर्मात्मा है। उसे संसार में कोई जीत नहीं सकता। अब उसकी वह अमोघ शक्ति घटोत्कच को मार कर इन्द्र के पास चली गई। अब शक्तिहीन साधारण मनुष्य की भाँति हो गया। अब तुम उसे युद्ध में मार सकोगे। इतने होने पर भी अब भी उसमें इतना बल है कि धर्म युद्ध से इन्द्र भी उसे परास्त नहीं कर सकता। तुम्हारी तो सामर्थ्य ही क्या? अब भी उसे छल से ही मारना होगा। जब तक उसके हाथ में शस्त्र रहेगा, उसे कोई मार नहीं सकता। जब वह शस्त्र-हीन और दूसरे काम में लगा रहे, तब तुम मेरा संकेत पाकर उसे अवश्य ही मार डालना। धर्म-अधर्म का ध्यान मत

करना। प्रबल शत्रु जिस प्रकार भी मारा जाय वही ठीक है।" यह कह कर भगवान ने अर्जुन का फिर से आलिंगन किया। अनिच्छा होने पर भी भगवान की बात अर्जुन को माननी पड़ी। कर्ण युद्ध से लौट आये किन्तु आज वे सर्वस्व मँगवा कर लौटे। फिर भी उस वीर का उत्साह कम नहीं हुआ। क्योंकि वह जय-पराजय को समान समझता था। वह धर्मात्मा और सच्चा शूर था। सच्चे शूर अपने प्राणों की कभी चिन्ता नहीं करते। मरना उनके लिये खेल है। वे मृत्यु को एक साधारण घटना समझते हैं।



सेनापति कर्ण

उक्तमेतन्मयापूर्वं गान्धारे तव सांन्नधौ,
जेष्यामि पांडवान् सर्वान् सपुत्रान् सजनार्दनान् ।
सेनापतिर्भविष्यामि तवाहं नात्र संशयः,
स्थिरो भव महाराज जितान्विद्धंचपांडवान् ॥,,
(कर्ण० प० १० । ४०, ४१)

जब मनस्वी पुरुषों पर विपत्तियों के ऊपर विपत्तियाँ आने लगती हैं, तो वे थोड़ी देर के लिये विचलित हो जाते हैं। क्षण भर में वे फिर अपने को सम्हाल कर उस विपत्ति का सामना करने के लिये उद्यत हो जाते हैं। जिसे भगवान दुख या संकट देते हैं, उसे सहन शक्ति भी प्रदान करते हैं। तभी तो बड़े सुकुमार पुरुष बड़ी-बड़ी व्याधियों को चिरकाल तक सहते रहते हैं। मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा विचित्र है कि वह शक्ति भर किसी से दबना नहीं चाहता। मनुष्य क्या प्राणीमात्र का ही यही स्वभाव है। छोटी सी चींटी को आप दबाइये, वह भी बाहर

---

* दुर्योधन की सेनापति पद के स्वीकार करने की प्रार्थना पर कर्ण ने कहा— 'हे गांधारी-तनय ! मैंने तुमसे पहिले ही कई बार कहा है कि मैं पाण्डवों को, उनके पुत्रों को, श्रीकृष्ण सहित युद्ध में जीत लूँगा। इसमें आप सन्देह न करें। मैं आप का सेनापति अवश्य बनूँगा। हे महाराज ! आप स्थिर हों और समझ लें कि बस पाण्डव अब जीत ही लिये गये।'

होने का शक्ति भर प्रयत्न करेगी और आप को जोरों से काट लेगी; अंत में ऐसा करने से उसके प्राण ही क्यों न चले जायँ। मनुष्य जब सब ओर से निराश हो जाता है, जब उसे दूसरा कोई रास्ता नहीं दीखता तब वह परवश होता है। बहुत से ऐसे भी वीर होते हैं कि वे जीते जी किसी के सामने सिर झुकाते ही नहीं। वे पराधीन होने की अपेक्षा मर जाना उत्तम समझते हैं। महामना कर्ण उन्हीं आत्माभिमानी मनस्वी वीरों में से थे।

आचार्य द्रोण ने पाँच दिन बड़ी वीरता से सैन्य-संचालन और युद्ध किया। पांडव पक्ष के द्रुपद, विराट् आदि बहुत से प्रधान-प्रधान वीरों का संहार किया। वे महारथियों के अग्रणी थे। शस्त्र लेकर जिधर वे निकल जाते उधर ही काई फट जाती थी। कोई भी वीर उनका सामना करने में समर्थ नहीं था। भगवान को बड़ी चिन्ता हुई। पांडवों को बुलाकर उन्होंने कहा, 'देखो भाई, जब तक आचार्य के हाथ में धनुष रहेगा। तब तक इन्हें देवताओं के सहित इन्द्र भी नहीं जीत सकते। ४ दिनों में तुम्हारे असंख्य योद्धाओं का इन्होंने संहार किया है। यदि एक दिन भी ये और लड़े तो तुम्हारी सेना में एक भी वीर बाकी न बचेगा। इसलिये धर्म से, अधर्म से, छल से, कला से, कौशल से सत्य से, असत्य से; जैसे भी आचार्य मारे जायँ वही उद्योग करना चाहिये। पांडवों को और विशेष कर अर्जुन को यह बात रुचिकर नहीं हुई। किन्तु वासुदेव भगवान की इच्छा को कौन रोक सकता है? बहुत समझाने-बुझाने पर धर्मराज झूठ बोलने पर राजी हुए। भगवान जानते थे कि आचार्य अपने पुत्र को बहुत प्यार करते हैं। पुत्र की मृत्यु का समाचार सुनते ही ये शस्त्र त्याग देंगे, किन्तु इनके पुत्र को मारने की तो

किसी में सामर्थ्य ही नहीं। वह तो अजर, अमर और अजेय है। इसलिये भीमसेन से कहा—'तुम झूठे ही जाकर आचार्य को समाचार दे दो कि अश्वत्थामा मारा गया।' भीमसेन ने बड़ा कौशल रचा। मालव देश के इन्द्रवर्मा राजा के एक हाथी का नाम अश्वत्थामा था। उसे अपनी गदा से मार कर द्रोणाचार्य के रथ के सामने जोरों से चिल्लाने लगे कि अश्वत्थामा मारा गया।'

आचार्य थोड़ी देर तो विचलित हुए, फिर समझ गये यह झूठे ही बकता है। संसार में मेरे पुत्र को कौन मार सकता है? इसलिये वे इस बात पर कुछ भी ध्यान न देकर और भीमसेन को डाट-डपट कर फिर उसी भाँति भयङ्कर युद्ध करने लगे। ब्रह्मास्त्र, वायव्यास्त्र आदि दिव्य अस्त्रों से वे एक-एक बाण में लाखों सैनिकों का संहार करते। वे बड़े वीर थे, मूर्तिमान धनुर्वेद थे। संसार में उनका सामना कर ही कौन सकता था? किन्तु उनकी मृत्यु समीप आ गई थी। ऋषियों ने इसकी सूचना उन्हें दे दी। द्रुपद ने यज्ञ करके धृष्टद्युम्न को उत्पन्न ही इसीलिये किया था कि वह द्रोणाचार्य का वध करे। इसीलिये वे धृष्टद्युम्न से युद्ध करने लगे। उन्हें रह-रह कर काल के प्रभाव से अपने पुत्र की मृत्यु के विषय में सन्देह होने लगा। पास में ही धर्मराज युद्ध कर रहे थे। आचार्य जानते थे धर्मराज त्रैलोक्य का राज्य पाने पर भी झूठ न बोलेंगे। इसीलिये उन्होंने धर्मराज से पूछा—'युधिष्ठिर! भीम कहता है अश्वत्थामा मारे गये, किन्तु मुझे भीम की इस बात पर विश्वास नहीं होता। वह तो झूठ भी बोल सकता है। तुमने जन्म लेकर अब तक झूठ नहीं बोला; तुम सच-सच बताओ कि अश्वत्थामा मारा गया या जीवित है?'

धर्म-भीरु धर्मराज बड़े घबड़ाये। मधुसूदन बार-बार उन्हें उकसा रहे थे। किन्तु असत्य बोलने को उनकी हिम्मत नहीं पड़ती थी। धीरे से भीमसेन ने कहा—'राजन्! कह दो, कह दो, मैंने अभी मालवेश के अश्वत्थामा नामक हाथी को मारा है। इसमें झूठ भी नहीं।' धर्मराज ऐसा कहना नहीं चाहते थे, किन्तु पार्थ सारथी की इच्छा, दैव की गति को कौन टाल सकता है? विजय के लोभ से धर्मराज ने कह दिया 'अश्वत्थामा मारे गये' इसके अनन्तर धीरे से यह भी कह दिया 'अश्वत्थामा हाथी मारा गया'। धर्मराज ने ज्यों ही यह पीछे का वाक्य कहा त्योंही मधुसूदन ने जोर से शंख बजाकर बड़ा भारी कोलाहल कर दिया। इसलिये यह शब्द किसी को सुनाई नहीं दिया। पुत्र की मृत्यु का निश्चय होने पर भी आचार्य ने धनुप नहीं छोड़ा, वे युद्ध करते ही रहे। तब भीमसेन ने बड़े अपमानित शब्दों में कहा—'ब्राह्मणों में भी ऐसे नीच पुरुप होते हैं? आचार्य आप केवल खाने के लोभ से ऐसा पाप क्यों कर रहे हैं? एक ही तुम्हारे पुत्र था, वह भी मरा पड़ा है। फिर भी तुम लड़ रहे हो। तुम्हारे ब्राह्मणपने को धिक्कार है। मेरी बात पर चाहे विश्वास मत भी करो, किन्तु तुम्हारे सामने सत्यवादी युधिष्ठिर ने भी इसका अनुमोदन किया है, फिर तुम लड़ना बन्द क्यों नहीं करते? इस नरहत्या को अब छोड़ो। भगवान में मन लगाओ। क्यों और पाप सिर पर लादते हो?'

आचार्य ने भी अब अपना अंतिम समय समझ लिया। उन्होंने धनुष रख दिया और रथ पर बैठ कर नेत्र बंद किये। पद्मासन लगाकर वे सनातन परमपुरुष प्रभु के ध्यान में मग्न हो गये। जब वे ध्यान में लगे थे, तभी पीछे से आकर धृष्ट-

द्युम्न ने उनका सिर काट लिया। वे ऋषियों के साथ सनातन लोकों में गये। उनका मृत शरीर रथ से नीचे लुढ़क पड़ा। कौरव और पांडव दोनों दुःखित हुए। कौरव की सेना में तो हाहाकार मच गया। सर्वत्र भगदड़ मच गई।

द्रोणाचार्य की मृत्यु के बाद अश्वत्थामा की सम्मति से दुर्योधन ने कर्ण को सेनापति बनाना चाहा। दुर्योधन अत्यन्त दुखी था। आचार्य की मृत्यु से उसे अब विजय की आशा बहुत कम रही थी। अब उसे एकमात्र कर्ण का ही सहारा था। उसे विश्वास था कि कर्ण सब से श्रेष्ठ बली है और वह मेरे लिये अपने प्राणों को भी कुछ न समझेगा। उसने बड़ी नम्रता से कहा—'भैया कर्ण, अब तुम्हीं एकमात्र हमारे सहारे हो। तुमने प्रतिज्ञा की थी कि मैं भीष्म के जीते रहने पर युद्ध न करूँगा, लो पितामह शर-शैया पर पड़े हैं। आचार्य द्रोण भी इस लोक से चल बसे। अब जय-पराजय सब तुम्हारे ही ऊपर निर्भर है। तुमने प्रतिज्ञा की थी कि युद्ध में मैं अर्जुन को मारूँगा। सो वह समय आ गया है। तुम मेरे सेनापति बन कर मेरे शत्रुओं का संहार करो। मेरी डूबती हुई नौका के एकमात्र अब तुमही पतवार हो। इसे बचाना और पार लगाना तुम्हारे ही अधीन है।'

कर्ण ने दुर्योधन को उत्साहित करते हुए कहा—'राजन्! आप तनिक भी चिंता न करें। मैं श्रीकृष्ण सहित पांडवों को युद्ध में अवश्य पराजित करूँगा। मैं अर्जुन को मार कर तुम्हें प्रसन्न करूँगा। तुम चिन्ता, शोक, मोह, क्लैव्यता, दीनता और विषाद को तिलांजलि दे दो। तुम्हारी आज्ञा से मैं अवश्य ही तुम्हारा सेनापति बनूँगा और प्राणों की बाजी लगाकर आप का प्रिय करूँगा। मैं शत्रु सेना में खलबली मचा दूँगा

और पांडवों के दाँत खट्टे कर दूँगा। आप प्रसन्न होकर युद्ध की तैयारियाँ कीजिये।'

कर्ण के ऐसे आश्वासन और उत्साहपूर्ण वचन सुनकर दुर्योधन बहुत प्रसन्न हुआ। उसी समय वेदज्ञ ब्राह्मणों को बुला कर कर्ण का प्रधान सेनापति के पद पर अभिषेक किया गया। अभिषेक के उपलक्ष में दुर्योधन ने बड़ा उत्सव मनाया। बहुत से ब्राह्मणों को भोजन कराया गय। असंख्यों अशर्फियाँ लुटाई गईं। विविध प्रकार के मंगल कृत्य कराये गये। ब्राह्मणों ने वेद-मंत्रों से कर्ण का अभिषेक किया। ब्राह्मणों से स्वस्त्ययन कराके और उनका आशीर्वाद लेकर सिंहनाद करता हुआ वीर कर्ण आगे बढ़ा। कौरव सेना का उत्साह चौगुना बढ़ गया। जिस समय सेनापति के पद-पर आसीन होकर कर्ण अपने रथ की घड़घड़ाहट से दिशाओं को गुँजाता हुआ और पृथ्वी को कँपाता हुआ आगे चला तो ऐसा प्रतीत होता था मानों बड़े जोर का बवंडर आ रहा हो। या प्रचंड रीति के प्रलयकालीन समुद्र उमड़ रहा हो। महावीर कर्ण को आता हुआ देख कर धर्मराज के रोंगटे खड़े हो गये। वे अर्जुन से बोले –'भैया अर्जुन, तुम जानते ही हो कौरव दल के प्रधान-प्रधान महारथी, पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण आदि तो मारे ही गये, उनकी सेना का भी तुमने अत्यधिक संहार कर डाला है। दुर्योधन के बहुत से भाई भी मारे गये। किन्तु कर्ण तो अभी तक जीवित है। कर्ण संसार में सब से बड़ा शूरवीर है। इसे देवता, दैत्य, दानव कोई भी युद्ध में नहीं जीत सकते। किसी तरह तुम इसे मार सको, तब तो हमारी विजय ही है। मुझे भीष्म, द्रोण से बढ़ कर इसी का डर है। १२ वर्ष से यह मेरे हृदय में कांटे की तरह चुभ रहा है। यदि कर्ण मारा गया तब तो दुर्योधन

भरा ही हुआ है। दुर्योधन की समस्त आशायें कर्ण पर ही लगी हुई हैं। कर्ण है भी इसी योग्य। वह धर्मात्मा, सत्यप्रतिज्ञ, दानी और महापराक्रमी है।'

अर्जुन ने कहा – "राजन्! आप चिन्ता न करें। मैं भगवान वासुदेव की सहायता से कर्ण को अवश्य जीतूँगा। आप संशय को छोड़ दें।"

इतना कहकर अर्जुन ने अर्धचन्द्राकार व्यूह की रचना की। उसने अपने प्रधान-प्रधान वीरों को बड़ी सावधानी से मोरचों पर खड़ा किया। भीम, नकुल, सहदेव सभी के सभी ओठ चबाते हुए कर्ण का सामना करने को डट गये।

इधर कर्ण ने भी मत्स्य-व्यूह बनाया। अपनी ओर के महारथियों को उसने प्रधान-प्रधान स्थानों पर खड़ा किया। स्वयं व्यूह के अग्रभाग में सबकी रक्षा के लिये खड़ा हुआ। जिस समय कवच पहिनकर धनुष बाण लेकर महावीर कर्ण युद्ध के लिये अपने रथ पर खड़े हुए उस समय वे साक्षात् मूर्तिमान वीररस ही जान पड़ते थे। उनकी दिव्य सुहावनी और उत्साहपूर्ण मूर्ति को देखकर कौरवों में आनन्द छा गया। वे द्रोणाचार्य की मृत्यु को भूल गये। अपने नवीन प्रधान सेनापति के नेतृत्व में वे पांडवों को पराजित करने के लिये उछल कूद करते हुए सिंहनाद करने लगे। वे अपने प्रत्यक्ष शत्रुओं को तो हराने में समर्थ थे, किन्तु जो मित्र रूप में अपने ही पक्ष में छिपे हुये शत्रु थे, उन्हें कैसे परास्त करें?

सब से पहिले तो अपने भीतर के छिपे शत्रुओं को ही जीतना परम धर्म है। तभी बाहर के शत्रु जीते जा सकते हैं, नहीं तो 'घर का भेदिया लङ्का को ढाता है।' यह लोकोक्ति अक्षरशः सत्य है।

नकुल को प्राणदान

वध प्राप्तं तुतं शूरो नाहनद्धर्मवित्तदा।
स्मृत्वा कुन्त्या वचो राजं स्तत एनंव्यसर्जयत् ॥*
(कर्ण० प० २४।५१)

सत्य प्रतिज्ञ मनुष्य अपने वाक्य का सदा स्मरण रखते हैं। वीर पुरुष विपत्ति आने पर भी धर्म के पक्ष से विचलित नहीं होते। जय-पराजय तो समर में होती ही है। प्रशंसा उसी की है, जो समर में भी अपने धर्म की रक्षा करता है; अपनी प्रतिज्ञा का पूर्ण-रीत्या पालन करता है। वीर लोग वीरता के लिये लड़ते हैं। वे क्रोध के वशीभूत, द्वेष-बुद्धि से किसी का अनिष्ट करना नहीं चाहते। युद्ध में कपट नीति और छल का भी प्रयोग होता है, कहना कुछ और करना कुछ। किन्तु इसे नीतिकारों ने भी गर्ह्य बताया है। कुटिल नीति का प्रयोग भी राजा तभी करते हैं, जब वे अन्य सभी उपायों से निराश हो जाते हैं। किन्तु जो कर्तव्य समझकर स्वर्ग की कामना से युद्ध करता है—उसके लिये जय, पराजय दोनों समान है।

कर्ण ने युद्ध में बड़ी-बड़ी वीरता के काम किये हैं। इस विषय में विस्तार से लिखा जाय तो बहुत बड़ा पोथा बन जाय।

---

*"नकुल महावीर कर्ण के वश में आगये। उनके गले में डोरी डाल दी थी। कर्ण चाहते तो उन्हें मार सकते थे; किन्तु वे धर्मात्मा थे, सच्चे शूर थे। माता कुन्ती के वरदान को स्मरण करके उन्होंने नकुल को मारा नहीं, जीते ही छोड़ दिया।"

महाभारत में 'कर्ण-पर्व' के ही ९६ अध्याय हैं। उन सब में कर्ण की वीरता की ही कहानी है। यदि टीका-टिप्पणी सहित वे सब बातें लिखी जांय, तो एक नये महाभारत की रचना हो जाय। किन्तु यहाँ तो हमें अत्यन्त ही संक्षेप में उनकी बहुत ही मुख्य-मुख्य घटनाओं का उल्लेखमात्र करना है।

कर्ण ने अपनी माता कुन्ती के सामने प्रतिज्ञा करली थी कि 'मैं अर्जुन को छोड़कर तुम्हारे चार पुत्रों को वश में आने पर भी न मारूँगा।' इस प्रतिज्ञा का पालन उन्होंने अक्षरशः किया। माता से यह प्रतिज्ञा न करते तो अर्जुन की बात तो कह नहीं सकते, किन्तु शेष चार भाई तो उनके वश में आ ही गये थे। वे चाहते तो उन्हें युद्ध में मार सकते थे। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। वश में आने पर भी उन्हें प्राणदान दे दिया और बिना मारे ही पराजित कर के छोड़ दिया।

कर्ण जब सेनापति बने तब उन्होंने बड़ा भीषण युद्ध किया। १० दिन भीष्मपितामह, ५ दिन द्रोणाचार्य सेनापति के पद पर रहे। इस प्रकार १५ दिन युद्ध तो हो गया। अब सोलहवें दिन कर्ण सेनापति हुए। उन्होंने बाणों की वर्षा से पांडव सेना के छक्के छुड़ा दिये। अलातचक्र की भाँति वे इधर से उधर घूमते थे। उनका पुरुषार्थ अवर्णनीय था। वे शत्रुओं को मारते काटते आगे जा रहे थे कि रास्ते में उन्हें नकुल मिल गये। महावीर कर्ण को देखकर नकुल क्रोध के मारे लाल पड़ गये और दाँतों से ओठ चबाते हुए बोले—'अरे ओ नीच सूत पुत्र! उधर कहाँ भागा जा रहा है। आज भाग्य से तेरे दर्शन मुझे हुए। मैं सदा तेरी खोज में ही रहता था। आज तू भाग्य से मुझे मिल गया। समस्त वैर भाव और हत्या की जड़ तू ही है। यह महाभारत तेरे ही कारण हुआ है। आज मैं तुझे मारकर धर्मराज को प्रसन्न

करूँगा और पांडवों का कंटक निकाल फेकूँगा। आजा, मुझसे युद्ध कर।'

महावीर कर्ण हँस पड़े। उन्होंने हँसते-हँसते कहा–'नकुल! मैं तुम्हारी बात से बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। तुमने क्षत्रिय बालक के अनुरूप ही वचन कहे हैं। शत्रु से लड़ना ही वीर का परम धर्म है। युद्ध में शत्रु को ललकारना ही वीरों की शोभा है, किन्तु बड़बड़ाने की अपेक्षा कुछ करके दिखाना अधिक उपयुक्त है। यदि तुझमें कुछ बल पौरुष है तो सामने आकर दो-दो हाथ दिखा दे। मैं तुझे जान से तो मारूँगा नहीं, फिर भी तू अपनी इच्छा पूरी तो कर ही ले। अच्छा तो सम्हल कर मेरे ऊपर बाणों की वर्षा कर।'

इतना सुनते ही नकुल ने बहुत से चोखे बाण कर्ण के ऊपर छोड़े। कर्ण ने उन सभी बाणों को सहज ही में बीच से काट कर गिरा दिया। अब कर्ण ने भी नकुल पर बाण छोड़े। दोनों वीर दो सिंहों की तरह लड़ रहे थे। जैसे दो साँड़ लड़ते-लड़ते टक्कर मारकर कभी किसी को खदेड़ ले जाता है,कभी किसी को। उसी भाँति कर्ण और नकुल एक दूसरे को परास्त करने की चेष्टा करने लगे। उन दोनों वीरों के इस युद्ध को देखकर, बहुत से वीर उसे देखने के लिये इधर उधर खड़े हो गये। कभी तो कर्ण अपने बाणों से नकुल को रथ सहित ढक देते कभी नकुल इतने बाण छोड़ते कि कर्ण दिखाई ही नहीं देते। जैसे बादलों को फाड़ कर भगवान् सूर्य उदय होते हैं, वैसे ही वे वीर उन बाणों के जाल से निकलकर सामने आते। इस प्रकार बड़ी देर तक युद्ध होता रहा। अवसर पाकर कर्ण ने बहुत से बाण मारकर नकुल के रथ को चूर-चूर कर दिया, घोड़ों को मार डाला और नकुल के अंग-रक्षक तथा सारथियों को भी यमलोक पठा दिया। अब

रथहीन नकुल ढाल तलवार लेकर रथ से कूदकर जमीन पर आ गये और वहीं से युद्ध करने लगे। एक चोखे बाण से कर्ण ने नकुल की ढाल को भी काट गिराया। तलवार की मूठ ही उनके हाथ में रह गई। तब लोहे की एक परिघ लेकर नकुल कर्ण की ओर दौड़े। उसे भी कर्ण ने अपने बाणों से काट गिराया। रथहीन, शस्त्रहीन होने पर नकुल युद्ध छोड़कर बड़ी तेजी से भाग निकले। तब आगे बढ़कर कर्ण ने उन्हें पकड़ लिया और अपने धनुष की डोरी उनके गले में डालकर बोले— 'बच्चा जी! अब भाग कर कहाँ जाओगे? युद्ध का मजा तो चखते जाओ। बोलो, अब और कुछ करना बाकी है?'

नकुल लज्जा के कारण नीचे निहार रहे थे। लज्जा और पराजय के कारण वे निरूत्तर खड़े हुये थे। तब कर्ण ने फिर कहा—'देखो, मैं तुम्हारे प्राणों को न लूँगा। तुम्हें जीवित ही छोड़े देता हूँ। किन्तु आज से यह प्रतिज्ञा करो कि अपने से बलवान वीर से कभी न लड़ोगे।' यह कहकर कर्ण ने नकुल को छोड़ दिया। अत्यन्त लज्जित हुए नकुल किसी दूसरे के रथ में बैठकर वहाँ से भाग गये।

इस प्रकार वीरवर कर्ण ने अपने वश में आने पर भी माता को वरदान देने के कारण नकुल को नहीं मारा। उन्हें प्राण-दान दे दिया।। धन्य वीर—तुम्हारी वीरता और सत्यप्रतिज्ञता!



कर्ण के सारथी शल्य

एष सारथ्यमातिष्ठे राधेयस्य यशस्विनः ।
युध्यतः पाण्डवाग्र्येण यथा त्वं वीर मन्यसे ॥
समयश्चहि मे वीर कश्चिद्वै कर्तनं प्रति ।
उत्सृजेयं यथाश्रद्धमहं वाचोऽस्य सन्निधौ ॥*

(कर्ण० प० ३६।६४,६५)

हम बार-बार कह चुके हैं कि दैव अनुकूल हो तो बिगड़े हुए काम बन जाते हैं। इसके विपरीत दैव की प्रतिकूलता में बने हुए काम भी नहीं बनते। सब साधन अनुकूल होने पर भी पिछड़ जाते हैं। मित्र शत्रु हो जाते हैं, अपने पराये बन जाते हैं। सहायक ही अपने पथ में कंटक का काम करते हैं। कर्ण के जीवन में हम पग-पग पर इसका अनुभव करते हैं।

माद्री के भाई मद्रदेश के राजा बड़े शूरवीर थे। वे पांडवों की ओर से लड़ने को आरहे थे। रास्ते में दुर्योधन की आज्ञा से उनके सेवकों ने उनकी बड़ी भारी सेवा की। उसकी सेवा से प्रसन्न होकर उन्होंने दुर्योधन से मनमाना वरदान माँगने को कहा। तब दुर्योधन ने कहा—'मामा जी! आप पांडवों के सगे मामा हैं। मेरे ऊपर आप की कृपा है और आप मुझे वर-

---

* शल्य ने दुर्योधन से कहा—'हे वीर! यदि आप चाहते हैं कि पांडवाग्रज से युद्ध करते समय यशस्वी कर्ण का मैं सारथीपन करूँ तो मेरी यह शर्त है कि मैं कर्ण से जो भी चाहूँगा कह सकूँगा और वह बात उसे सहनी पड़ेगी।'

दान देना चाहते हैं, तो यही वरदान दीजिये कि आप पांडवों की ओर न लड़कर मेरी ओर से युद्ध करें।' शल्य तो वचन-बद्ध हो चुके थे। उन्होंने दुर्योधन की इस बात को स्वीकार कर लिया और कौरवों की तरफ से लड़ने को उद्यत हुए।

पीछे से धर्मराज युधिष्ठिर अपने मामा को प्रणाम करने और आशीर्वाद लेने गये। इस पर शल्य ने कहा—'देखो भैया, मैं लड़ने के लिये तो दुर्योधन को वचन दे चुका हूँ। लड़ाई को छोड़ कर तुम और जो भी वरदान मुझसे माँगना चाहो, माँग लो।'

तब धर्मराज ने कहा—'मामा जी! आप बड़ी प्रसन्नता से दुर्योधन की ओर से लड़ें, किन्तु एक काम आप मेरा भी कर दें। वह यह कि आपकी बराबर रथ और अश्वविद्या में प्रवीण कोई नहीं है। आप भगवान वासुदेव के समान हैं। कर्ण जब अर्जुन से युद्ध करेगा, तो निश्चय ही आप को सारथी बनावेगा। उस समय आप उसे कड़े वचन कहकर हतोत्साहित करते रहें। उसकी बार-बार निंदा करते रहेंगे तो वह तेजहीन होकर ठीक-ठीक युद्ध न कर सकेगा। बस, यही वरदान आप मुझे दें।'

शल्य ने कहा—'हे धर्मराज! मैं ऐसा ही करूँगा। सूत-पुत्र कर्ण को मैं युद्ध के समय कड़ी-कड़ी बातें कहकर, बुरी-बुरी गालियाँ देकर उसके तेज, प्रभाव, बल और उत्साह को बराबर नष्ट करता रहूँगा। तुम इस बात पर विश्वास रखो।' इतना सुनकर धर्मराज प्रसन्न होकर चले गये।

सोलहवें दिन का युद्ध समाप्त हुआ। सत्रहवें दिन कर्ण ने दुर्योधन से कहा—'राजन्! मैं आज युद्ध का अंत कर देना चाहता हूँ। या तो युद्ध में आज अर्जुन को मार दूँगा या

स्वयं लड़ते-लड़ते मर कर वीरगति को प्राप्त हूँगा। अर्जुन से मैं बल में किसी प्रकार कम नहीं हूँ। वह मेरे बराबर वीर है ही नहीं, किन्तु तीन बातों में वह मुझसे बढ़ कर है। एक तो उसका रथ दिव्य है। खांडव-दाह के समय उस रथ को अग्नि ने उसे दिया था। वह किसी प्रकार के भी अस्त्र से कटता नहीं। उस पर वानर की ध्वजा है, घोड़े उसके सुन्दर और सुशिक्षित हैं। दूसरे उसके पास गांडीव धनुष है और सबसे बढ़ कर बात यह है कि उसके सारथी भगवान देवकी-नंदन हैं। इन बातों में मैं उससे घट कर हूँ। धनुष तो मेरे पास भी एक गांडीव से बढ़ कर है। रथ भी मैं अच्छे से अच्छा तैयार करा लूँगा, किन्तु यह मेरा सारथी मेरे मन का सा नहीं है। आप के पक्ष में जो ये मद्रदेश के राजा शल्य, हैं, ये अश्वविद्या में बड़े प्रवीण हैं। ये महाबलवान गुणी, कुलीन और सारथी-कर्म में परम प्रवीण हैं। किसी तरह इन्हें तुम मेरा सारथी बनाना स्वीकार करा दो, तो मैं आज निश्चय ही अर्जुन को जीत लूँगा। इसमें आप तनिक भी संदेह न करें, किन्तु शल्य का सारथी होना मुझे कठिन ही जान पड़ता है।

दुर्योधन ने कहा—'मित्र कर्ण! तुम्हीं मेरे एकमात्र आधार हो। मेरी इतनी सेना का नाश हो गया है फिर भी मैं आप की कृपा का भरोसा रखकर विजय अपनी ही समझता हूँ। यदि आज तुम सव्यसाची अर्जुन को मार सको तो मेरे समस्त मनोरथ पूरे हो जायँ। फिर तो मेरी विजय ही है। मैं शल्य से जाकर अभी प्रार्थना करता हूँ, मुझे आशा है वे मेरी प्रार्थना को स्वीकार कर लेंगे।' यह कह कर दुर्योधन शल्य के पास चला गया।

शल्य के पास जाकर दुर्योधन ने उन्हें प्रणाम किया। कुशल प्रश्न के अनन्तर उसने इधर-उधर की बातें बनाकर कहना आरंभ किया—"मामाजी! आप जानते ही हैं मेरी सेना में सर्वश्रेष्ठ महारथियों में आप भी हैं। मैं आपको भीष्म, द्रोण, कर्ण के समान मानता हूँ। संसार में आप अद्वितीय योद्धा हैं। आप की टक्कर का वीर ढूंढ़ने पर भी पांडव-दल में न मिलेगा। आज मैं आप से एक प्रार्थना करने आया हूँ।"

शल्य ने कहा—"कहो भैया, क्या बात है? मैं तो तुम्हारे अधीन ही हूँ। तुम जैसा कहोगे वैसा ही करूँगा।"

डरते-डरते दुर्योधन ने कहा—"मामाजी! कर्ण आज युद्ध का अन्त करना चाहते हैं। उनके अनुरूप कोई योग्य सारथी नहीं है। आप इस विद्या में परम प्रवीण हैं। यदि आप कृपा करके कर्ण के सारथी हो जायँ तो मेरी विजय निश्चित है।"

दुर्योधन के ऐसे वचन सुनकर शल्य क्रोध के कारण लाल हो गये। उनके नेत्रों से अग्नि सी निकलने लगी। ओठों को चबाते हुये, त्योरियाँ बदलते हुये, वे आवेश के साथ बोले—"दुर्योधन! मैं तुमसे ऐसी आशा नहीं रखता था। तुम कुलीन होकर भी मेरा इतना अपमान करोगे, इस बात का मुझे स्वप्न में भी भरोसा नहीं था। क्या तुम जानते नहीं, मैं कुलीन क्षत्रिय हूँ? राजर्षि-कुल में मेरा जन्म हुआ है। क्षत्रिय ब्राह्मण की सेवा तो कर सकता है, किन्तु अपने से हीन वर्ण की सेवा करते हुये तो हमने किसी आत्माभिमानी राजा को नहीं देखा। मैं मूर्धाभिषिक्त राजा हूँ। शास्त्र की विधि से मेरा राजसिंहासन पर अभिषेक हुआ है, तिस पर भी तुम मुझसे दास-वृत्ति करने के लिये कहते हो, तुम्हें शर्म नहीं आती? रथ हाँकना मेरा काम नहीं है। मैं युद्ध करने के लिये आया हूँ। मुझसे युद्ध

करा लो। तुम सब चुपचाप बैठ जाओ, मैं अकेला युद्ध करूँगा और समस्त पांडवों को परास्त करूँगा।'

दुर्योधन ने गिड़गिड़ाते हुये कहा—"मामाजी! अपमान करने की मेरी स्वप्न में भी इच्छा नहीं थी। न मैं आपको कम बलवान समझता हूँ, किन्तु इस समय काम ही ऐसा आ पड़ा है।'

दुर्योधन की बात काटते हुये शल्य बोले—"कैसा भी काम आ पड़े। अपने से हीन वर्ण की सेवा क्षत्रिय राजकुमार कर सकता है? तुम मुझसे सूत का सारथी बनने को कहते हो? कर्ण को मेरा सारथी बनना चाहिये था। मैं कर्ण से कम हूँ क्या? मुझे चाहे जिससे भिड़ा दो। मैं पीछे हटने वाला थोड़े ही हूँ। तुम मुझे बुलाकर मेरा अपमान करते हो? तुम रखो अपनी लड़ाई को; मैं अपने घर जाता हूँ। ऐसा अपमान मैं कभी भी नहीं सह सकता। तुम उस नीच सूतपुत्र को सेनापति बनाकर विजय प्राप्त करो। क्षत्रिय कोई भी तुम्हारी ओर से अब न लड़ेगा।'

इतना कह कर शल्य बड़ी तेजी से उठकर चल दिये। उन्होंने चिल्ला कर अपने सारथी से कहा—"जल्दी मेरा रथ तैयार करो। मद्रदेश की सेना शीघ्र ही सुसज्जित हो। मैं अपने देश को जाऊँगा।'

दुर्योधन का मुँह फक पड़ गया। उसके होश उड़ गये। उसने देखा—यह तो बनी बनाई बात बिगड़ी जाती है। जल्दी से दौड़ कर उसने शल्य के दोनों चरण पकड़ लिये; और पैरों में सिर रख कर बड़े ही विनीत भाव से कहा—"हे पुरुषसिंह! मेरा अभिप्राय कभी आप को अपमानित करने का नहीं था। आप मेरे रक्षक, गुरु और पूजनीय तथा वंदनीय हैं। मुझे

आपका ही सहारा है। मैं आपको कम बलवान नहीं मानता, न मैं आप से कोई अनुचित कार्य करने को ही कहूँगा; किन्तु इस समय मैं संकट में हूँ। अर्जुन के समान वीर से टक्कर लेने के लिये मैं कर्ण को ही उपयुक्त समझता हूँ। आप उस लड़के से लड़ें, यह मुझे अनुचित जान पड़ता है। अर्जुन के सारथी श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण के समान, बुद्धिमान, हितैषी, वीर, पराक्रमी और गुणी मैं आप को ही समझता हूँ। जैसे पांडवों के आश्रय श्रीकृष्ण हैं, वैसे ही हमारे आश्रय आप हैं। श्रीकृष्ण की बराबरी आप ही कर सकते हैं। जिस प्रकार श्रीकृष्ण की सहायता पाकर अर्जुन विजयी होते हैं, उसी प्रकार आप की सम्मति, सहायता और सहयोग प्राप्त करके कर्ण भी निश्चय ही विजयी होंगे। जैसे कर्ण और अर्जुन समान बलवाले हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण और आप समान विद्या, बुद्धि, बल, वीर्य और पराक्रम वाले हैं।'

दुर्योधन की ऐसी मीठी चापलूसी वाली बातें सुनकर शल्य बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'दुर्योधन तुमने भरी सभा में सब के सामने मुझे देवकी-नन्दन भगवान वासुदेव के बराबर बताया है। इससे मैं तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हूँ। अब बताओ, मैं तुम्हारा कौन सा कार्य करूँ?'

दुर्योधन की जान में जान आई। उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। शल्य को बढ़ावा देते हुए कहने लगा—'महाराज! मैं तो आप को गुणों में श्रीकृष्ण से भी श्रेष्ठ समझता हूँ। आप सर्व समर्थ हैं। आप का सामना युद्ध में कोई कर ही नहीं सकता। आप बली, शूर, गुणज्ञ, देश काम की बातें जानने वाले और परम नीतिज्ञ हैं। मैं आप से वही कार्य कराना चाहता हूँ जो कार्य श्रीकृष्ण अर्जुन का कर रहे हैं। आप की सहायता

से, आप की छत्र-छाया में रहकर महामना कर्ण अर्जुन को परास्त करेंगे। आप हमारे प्रतिपालक, रक्षक, स्वामी और शरण्य हैं। आपकी सहायता से हम सनाथ हैं। आप हमारी रक्षा कीजिये। इस महान् संकट से हमें उबारिये।'

दुर्योधन की यह बात स्वीकार करते हुए शल्य ने कहा— 'राजन्! मैं कर्ण का सारथी बनूँगा, उसके रथ को हाकूँगा। किन्तु मेरी एक शर्त कर्ण को भी माननी होगी। मैं उचित अनुचित जो भी कुछ कहूँगा, कर्ण को मेरी वह बात सहनी पड़ेगी। यदि यह शर्त तुम्हें मंजूर हो, तो मैं सूत-पुत्र का सारथी बनने को तैयार हूं।'

दुर्योधन ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'आप हमारे स्वामी हैं, पूज्य हैं। कर्ण भी आप को बड़ा मानते हैं। आप जो भी कुछ कहेंगे, कर्ण उन सब बातों को सहेंगे। आप तो हमारे कल्याण की ही बातें कहेंगे।' यह कह कर पास में बैठे कर्ण से दुर्योधन ने कहा—'क्यों जी कर्ण! मैं ठीक कहता हूँ न। आप को इनकी बातों में क्या आपत्ति है?'

कर्ण ने सरलता के साथ कहा—'मुझे यह बात मंजूर है। ये जो कुछ भी कहेंगे, मैं उनको सहन करूँगा। जैसे ये तुम्हारे मामा हैं, उसी तरह मेरे भी ये पूज्य हैं। इनकी सहायता से मैं अवश्य ही अर्जुन को मार सकूँगा।'

यह सुनकर शल्य ने सूखी हँसी हँसी, और कहा—'अच्छी बात है। मैं तैयार हूँ। तुम भी युद्ध भूमि में चलने के लिये तैयार हो जाओ।'

शल्य की स्वीकृति पाकर कर्ण अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने निजी पुराने सूत को रथ तैयार करके लाने की सम्मति दी। सुवर्ण से मंडित विशाल रथ बात की बात में

सूत ने लाकर खड़ा कर दिया। वह एक नगर के समान था। सूर्य की भाँति चमचमा रहा था। अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित जिसमें परम प्रवीण घोड़े जुते हुए थे, उस सुन्दर रथ को देखकर कर्ण ने शल्य से कहा—'पहिले आप रथ पर सवार हों। तब मैं चढ़ूंगा। ब्राह्मणों ने रथ का पूजन किया, कर्ण को आशीर्वाद दिया, शल्य ने घोड़ों की रास अपने हाथों में पकड़ी। उस समय वे सूर्य के सारथी अरुण की भाँति चमक रहे थे। ब्राह्मणों के स्वस्त्ययन करने पर महावीर कर्ण उस अपूर्व दिव्य रथ में सवार हुए। उस समय शल्य के साथ वे ऐसे प्रतीत होते थे मानों दो सूर्य साथ ही जा रहे हों। शल्य ने घोड़ों को हाँक दिया। सब को आशा थी कि रात्रि में अर्जुन को परास्त करके, विजयी कर्ण को लेकर शल्य लौटेंगे। किन्तु शल्य तो सचमुच कर्ण के लिये असह्य शल्य—कांटे हुए! उन्होंने उनके मर्म को ऐसा वेधा कि वे फिर लौटकर शल्य के रथ पर नहीं आये। वहीं रणभूमि में सो गये। वे धर्म से नहीं जीते गये। पृथ्वी ने, शल्य ने, पार्थ ने और पार्थ के सारथी ने उनके साथ धोखा किया। विश्वासघात और अधर्म के कारण वे धराशायी हुए।



शल्य और कर्ण की कहा सुनी

न ऋर्ण देश सामान्यात् सर्वः पापं निषेवते।
यादृशाः स्वस्वभावेन देवा अपि न तादृशाः ॥*

(कर्ण० प० ४५।४६)

संसार में जिन्होंने अपनापन त्याग दिया है, उन्हें मान और अपमान समान हैं। किन्तु जिनमें थोड़ा भी अपनापन शेष है, वे अपने मान से संतुष्ट और अपने अपमान से असन्तुष्ट होते हैं। मैं,मेरा यही मान अपमान और सुख-दुख का कारण है। मेरा शरीर, मेरा कुल, मेरी जाति, मेरी सम्प्रदाय, मेरा देश यही ममत्व है। जिनमें ममत्व है, मेरापन है उनकी अच्छाई से, उन्नति से, हमें संतोष और सुख होता है। जिसमें परायापन है, उसके सम्बन्ध में हम उदासीन रहते हैं। जिसमें द्वेष बुद्धि है, उसकी अच्छाई से हमें असंतोष और बुराई से संतोष होता है। जब हम किसी की प्रशंसा करने लगते हैं, तो उसके सम्बन्ध के सभी अवगुणों को भूल जाते हैं और उसके गुणों का ही बढ़ा-चढ़ाकर बखान करते हैं। इसके विपरीत जब हम किसी की निन्दा करने पर उतारू होते हैं,तो उसके गुणों को एकदम भूल जाते हैं। उसके शरीर में, उसके परिवार में, उसके जाति में, उसके सम्प्रदाय में,

---

*कर्ण ने जब मद्रदेश और पञ्चनद देशवासियों को बहुत अधिक निन्दा की तो शल्य ने कहा—'हे कर्ण! सभी देश के सभी लोग पापी ही हों यह बात नहीं है। सच तो यह है कि जिसका जैसा स्वभाव है वह अपने समान देवताओं को भी नहीं समझता।'

उसके देश में. जो अवगुण होते हैं, उन्हें ही तिल का ताड़ बनाकर कहते हैं। नीच पुरुष झूठी भी निंदा करते हैं, किन्तु साधारण लोग निन्दनीय बातों की ही निन्दा करके विपक्षी को चिढ़ाते हैं। निन्दात्मक बात हो और वह सत्य हो तो इससे विपक्षी को लज्जा आती है और अपमान के कारण क्रोध भी आता है।

कर्ण पर्व में जहाँ शल्य और कर्ण का संवाद है, वह बड़े ही मजे का है। उसे पढ़ते-पढ़ते बड़ी हँसी आती है। देश-देश के आचार विचारों का ज्ञान होता है। देशाचार और कुलाचार भिन्न-भिन्न होता है। किसी देश में जो बात बुरी मानी जाती है, दूसरे देश में उसी को सब लोग करते हैं। सब देशों का आचार विचार भिन्न-भिन्न होता है। बहुत से लोग किसी विशेष सम्प्रदाय वालों को दोष देते हैं कि अमुक सम्प्रदाय वाले तो बड़े भ्रष्ट होते हैं, किन्तु ध्यान पूर्वक देखा जाय तो आचार विचार का सम्बन्ध तो कुल और देश के ऊपर निर्भर करता है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों को मानने वालों के एक से आचार विचार होते हैं और एक ही सम्प्रदाय के लोगों के भिन्न-भिन्न आचार विचार देखे गये हैं। हमारे यहाँ जैनी हैं, वे वैदिक धर्म को नहीं मानते। हमारे वेद, पुराण, शास्त्र और देवताओं में उनका विश्वास नहीं। धार्मिक मान्यता के नाते वे हमसे उतने ही दूर हैं जितने अन्य धर्मावलम्बी। किन्तु उनका और हमारा आचार विचार तथा संस्कृति एक है, इसलिये वैदिक धर्म को मानने वालों के साथ उनका रोटी बेटी का सम्बन्ध है। भारत में अब बौद्ध नहीं रहे। यदि वे होते तो भारतीय बौद्ध और चीन जापान के बौद्धों के आचार विचार में जमीन और आसमान का अन्तर होता। दक्षिण की यात्रा में

हमने एक ऐसे ईसाई परिवार को देखा, जिनका आचरण शुद्ध ब्राह्मणों जैसा था। पूछने पर मालूम हुआ आज लगभग १५०० वर्ष पूर्व भगवान् शंकराचार्य से भी पहिले इधर कोई ईसाई संत आये थे। उनके उपदेश से कुछ ब्राह्मण ईसाई हो गये। उन ईसाइयों के आचार विचार में और पश्चिमी ईसाइयों के आचार की कोई तुलना ही नहीं। पंजाबियों और संयुक्त-प्रांत के मुसलमानों के आचार विचार में बहुत कम अन्तर होगा। मनुष्य चाहे जिस धर्म को मानलें; कुल, धर्म और आचार विचार की बहुत सी बातें बनी ही रहेंगी। संयुक्त-प्रांत में ऐसे बहुत से मुसलमान हैं, जो हिन्दुओं की तरह रहते हैं। उनके आचार विचार हिन्दुओं के से हैं। पंजाब और पंजाब के आसपास के प्रांत, सिन्ध, सीमाप्रांत, अफ़गानिस्तान आदिका आचार-विचार पहले से ही गिरा हुआ था। भारतीय संस्कृति से भिन्नही इनका आचार था, जब तक मुहम्मदीय सम्प्रदाय नहीं चला था। मुहम्मदीय सम्प्रदायमें दीक्षित होकर तो वे और भी आर्य संस्कृत से दूर हो गये। शल्य और कर्ण के संवाद को पढ़ने से पता चलता है, वहाँ पहिले से ही लोग आचार हीन होते थे। कर्ण ने वहाँ के आचार की बड़ी-बड़ी निंदास्पद बातें बता-कर शल्य को लज्जित किया। शल्य ने भी उन बातों को माना है; उनका विरोध नहीं किया है। बहुत से लोग पंचनद (पंजाब) और पांचाल देश को एक ही समझते हैं। बहुतों को मैंने द्रौपदी को पंजाब ही कहते सुना है; किन्तु पंजाब और पंचनद देश में बड़ा अन्तर है। पंचनद (पंजाब) तो वह प्रांत कहाता है जिसमें सतलज, रावी, चुनाव, झेलम और व्यास ये ५ नदी हों। पांचाल गंगा के पास हस्तिनापुरसे पूर्व बताया है। पांचाल देश की राजधानी कांपिल्य बताई है। कांपिल्य का अप-

भ्रंश 'कोल' है। अलीगढ़ का अब भी पुराना नाम कोल है। अतः पांचालदेश अलीगढ़, बुलंदशहर और एटा का कुछ हिस्सा तथा बदायूँ और बिजनौर जिले हैं। द्रोणाचार्य ने द्रुपद को हराकर गंगाजी के दक्षिण भाग का हिस्सा (बदायूँ, बिजनौर) उनसे छीन लिया था। इसलिये पांचाल देश अलीगढ़ के आस-पास के प्रांत को कहते हैं। मेरठ, देहली, हिसार, बीकानेर इस भाग को कुरुजांगल देश कहते हैं। देहली कुरुक्षेत्र तक कुरुदेश और हिसार से आगे मरुदेश के कुछ भाग का नाम जांगल देश है। बीकानेर के महाराज अब भी जांगल-नरेश कहलाते हैं। आयुर्वेद में सबसे अधिक स्वास्थप्रद जांगलदेश (राजपूताना) बताया है। महाभारत में आचार विचार और पवित्रता में पांचाल देश और कुरुजांगल को बताया है। ये प्रकरण बड़े मनोरंजक और पढ़ने योग्य हैं। स्मृतिकारोंने अङ्ग,वङ्ग, कलिङ्ग दक्षिण के देश—सौराष्ट्र, मगध, पश्चिम के देश—सिन्ध से लेकर समस्त अनार्य देशों को आचार हीन कहा है। शल्य जब कर्ण को बहुत चिढ़ाने लगे; तब कर्ण ने उनके देश के निन्दनीय आचार विचार का वर्णन करके उन्हें बहुत लज्जित किया।

रथ पर चढ़कर महावीर कर्ण आगे बढ़े। उन्होंने निश्चय कर लिया था कि आज बिना अर्जुन के मारे न लौटूँगा। या तो मैं समर में अर्जुन को मार डालूँगा। या अर्जुन मुझे सदा के लिये इस संसार से बिदा कर देगा। इसलिये उन्होंने सेवकों को सुनाते हुए कहा—'जो कोई आज मुझे अर्जुन को दिखा देगा, उसे मैं मुँह माँगा इनाम दूँगा। वह जो भी माँगेगा वही देने को मैं तैयार हूँ। आज मैं बिना अर्जुन को मारे न छोड़ूँगा।"

शल्य तो सिखाये हुए थे। उन्हें तो कर्ण का तेज और उत्साह घटाना ही अभीष्ट था। वे बोले—'अरे नीच सूतपुत्र! तू इतनी

बढ़-बढ़ कर बातें क्यों करता है ? कहाँ खरगोश, कहाँ हाथी ! गीदड़ नहीं सिंह से लड़ सकता है ? बकरी का बच्चा भेड़िये से लड़ सकता है ? तू अर्जुन से क्या लड़ेगा ? जिस समय रथ पर बैठे हुये श्रीकृष्ण सहित अर्जुन को देखेगा, उसी समय तू डरके मारे कांपने लगेगा ? गांडीव धनुष की प्रत्यंचा के घोष से ही तू बेहोश हो जायगा। अग्निदत्त रथ की घर-घराहट से ही तेरे कान बहरे होजायँगे। पहिले तू अर्जुन को देख कर अपने होश तो ठीक रख लेना, युद्ध करने की बात तो अलग रही। क्षण में ही मैं तुझे सव्य-साची अर्जुन के रथ के पास लिये चलता हूँ। जैसे पतंगा स्वयं ही मरने के लिये अग्नि की ओर दौड़ता है, वैसे ही तू काल के वशीभूत होकर अर्जुन की खोज कर रहा है। थोड़ी देर ठहर जा, मैं तुझे अर्जुन से मिलाये देता हूँ। किसी को तुझे इनाम देने की आवश्यकता न पड़ेगी।

कर्ण ने कहा—'शल्य ! तू नीच है, तुझमें बल नहीं। तू मित्र रूप में मेरा शत्रु है। तू मेरे बल पौरुष और उत्साह को घटाना चाहता है। किन्तु मैं तेरे इन वचनों की कुछ भी परवाह नहीं करता। कुत्ते भौंकते रहते हैं, गजराज अपनी मस्त चाल से निकल जाते हैं। मैं अर्जुन को आज मार कर तुझ मित्र-घाती को भी मार डालूँगा। तू पहिले अपनी खैर तो मना ले। मार तो तुझे अभी डालता, किन्तु मैं दुर्योधन से वचनबद्ध हूँ। इसलिये तुझे क्षमा किये देता हूँ।'

शल्य ने कहा—"सूतपुत्र ! नीच पुरुषों को हित की बात भी अच्छी नहीं लगती। तैंने वृद्धों की सेवा नहीं की है। तू सदा नीचों की संगति में रहा है। तेरे विचार क्षुद्र हैं। जैसे बौना-पुरुष अपने हाथसे चन्द्रमा को पकड़ना चाहे, उसी प्रकार तेरा विचार अर्जुन से लड़ने का है। तू यदि कुलीन, सच्चरित्र होता

तो मेरी बात पर विश्वास करता, मेरा कृतज्ञ होता, किन्तु तेरे सिर पर तो काल मँडरा रहा है। तू मृत्यु का मेहमान है; इसीलिये तेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। तू मुझे भी मारना चाहता है। तभी तो कहते हैं, नीच पुरुषों का साथ ठीक नहीं। मैं दुर्योधन के स्नेहवश तेरा रथ हाँक रहा हूँ, नहीं तो तुझ जैसे नीच, क्षुद्र, कुलहीन, अकृतज्ञ और सदाचार रहित व्यक्ति से तो मैं बातें भी न करता।'

कर्ण ने कहा—'हे नीच देश के रहने वाले। इतनी बढ़-बढ़ कर बातें मत कर। मद्र देशवालों का आचार विचार मैं जानता हूँ। वहाँ की स्त्रियाँ कैसी स्वेच्छा-चारिणी होती हैं, इसका मुझे पता है। वहाँ के लोग घर-घर शराब बनाते हैं, मांस खाते हैं। एक ही बर्तन में माँस, सत्तू, शहद और शराब खा लेते हैं, उसी में दूसरा खाता है, फिर उसे कुत्ते भी चाटते रहते हैं। वहाँ के लोग वर्ण शंकर होते हैं। स्त्रियाँ स्वेच्छाचार करती हैं। वहाँ कुल धर्म, जाति धर्म, कुछ भी नहीं। वहाँ के लोग अखाद्य मांस भी खा लेते हैं। उसी देश का तू राजा है। उन्हीं के षष्ठांश को लेकर तू अपना काम चलाता है, इसलिये तुझमें भी वे सब नीचतायें हैं।'

शल्य ने कहा—'कर्ण! अच्छे बुरे सभी देशों में होते हैं। तू मुझमें बता क्या दोष है? मैं कुलीन, सदाचारी और दानी हूँ। मेरा विधिवत राज्य सिंहासन पर अभिषेक हुआ है। मैंने गुरुजनों की श्रद्धा से सेवा की है। दान दिये हैं, यज्ञ किये हैं। तू जो मद्रदेश की इतनी निंदा कर रहा है, अपने अंग-देश की बात नहीं कहता! वहाँ के लोग कृतघ्नी और स्वार्थी होते हैं। मतलब पड़ने पर वे माता, पिता, भाई, बन्धु को छोड़ देते हैं। अपने सगे भाई को बीमार छोड़ कर चले आते हैं, उसकी सेवा

नहीं करते। समय पड़ने पर वे अपने सम्बधियों से घृणित व्यवहार करते हैं। उसी देश का रहनेवाला तू है। तू किस मुँह से मुझसे बातें कर सकता है। कोई पांचाल और कुरुजांगल देश का आदमी कहता तो ठीक भी था। क्योंकि इनके आचार विचार शुद्ध हैं।'

कर्ण ने कहा—'मैंने अनेक ब्राह्मण और यत्रियों के मुख से मद्रदेशीय लोगों की निंदा सुनी है। मद्र-देशी पुरुष सबसे नीच होते हैं। बाल्हीक लोगों का कोई कुल गोत्र नहीं; उनके पिता का भी पता नहीं, कौन हैं ? शाकल नगर निवासी सब प्याज में पका बकरे का मांस खाते हैं। ऊँट, गधा, खच्चर, मुर्गा, सूअर आदि का अखाद्य मांस खाते हैं। वे मदिरा के मद में चूर्ण रहते हैं। मद्रदेश पृथ्वी का मल है। वाल्हीक लोग सबसे नीच हैं। सज्जन लोग वाल्हीकों और शाकल नगर निवासियों से कभी भूल कर भी संसर्ग नहीं रखते। तू उसी देश का नीच राजा है। मेरा काम न होता तो मैं तुझे छूता तक भी नहीं।'

यह वाद-विवाद बहुत देर तक होता रहा। तब दुर्योधन ने दोनों के हाथ पैर जोड़ कर दोनों को इस झगड़े से रोका। तब वीर कर्ण आगे बढ़ा। सामने पांडव सेना व्यूह बनाये सुसज्जित खड़ी थी। शल्य ने घोड़ों को जोरों से हाँक दिया। पांडव सेना के सम्मुख रथ को खड़ा कर के शल्य ने कहा—'लो कर्ण! सम्हल जाओ। अब तुम्हें घोर युद्ध करना होगा।'

कर्ण ने कहा—'मैं सम्हला हुआ हूँ, मैं केवल भगवान वासुदेव को खोज रहा हूँ।'



धर्मराज युधिष्ठिर को प्राणदान

गृहं गच्छ कौन्तेय यत्र तौ केशवार्जुनौ।
नहि त्वां समरे राजन् हन्यात कर्णः कथञ्चन ॥*

(कर्ण० प० ४६।५८)

वीरों की वीरता सम्मुख ही प्रकट होती है। पीठ पीछे तो निर्बल लोग भी अपनी प्रशंसा के पुल बाँध देते हैं, सभी को खरी खोटी सुनाते हैं। जो सम्मुख लड़कर युद्ध में वीरता दिखावे वही यथार्थ में सच्चा वीर है। वीर हमेशा कर्तव्य करके दिखाते हैं,वे बहुत बकते और बड़बड़ाते नहीं। वे दूसरे की निंदा की भी परवाह नहीं करते। दूसरे कुछ भी कहते रहें; उन्हें अपने काम से काम।

शल्य ने हर प्रकार से कर्ण को निरुत्साहित किया, किन्तु कर्ण पर उसका कुछ भी असर नहीं पड़ा। वह अपने निश्चय से तिल भर भी नहीं हटा। अपनी समस्त सेना को सुसज्जित करके और एक अमोघ-व्यूह बनाकर वह पांडवों की सेना के सम्मुख डट गया। वीर-वेष में सूर्य-पुत्र कर्ण को महाराज युधिष्ठिर ने देखा। वह विशाल रथ पर बैठा हुआ कालांतक

---

*कर्ण ने धर्मराज युधिष्ठिर को परास्त करके कहा—'हे धर्मराज! अब आप अपने घर चले जाइये, या वहां जाइये जहाँ श्रीकृष्ण और अर्जुन हैं। वे तुम्हारी रक्षा करेंगे। हे राजन! आप विश्वास रखें, कर्ण तुम्हें युद्ध में कभी भी न मारेगा।'

यमराज के सदृश दिखाई देता था। उनकी शोभा ऐसी मालूम पड़ती थी मानो आकाश से दूसरा सूर्य उतर कर रणभूमि में प्रकाश करने आ डटा है। मद्रराज शल्य उनका सारथ्य कर रहे थे। मद्रराज भी अद्वितीय धनुर्धर थे। दोनों महावीरों को एक रथ पर ही देखकर, धर्मराज विस्मित हुए। उन्होंने अर्जुन से कहा—'अर्जुन! वह सामने देखो, सूत-पुत्र कर्ण अपनी समस्त सेना को सुसज्जित करके घोर संग्राम के लिये खड़ा है। बस, आज ही परीक्षा का दिन है। तुम इस मेरे सदा खटकने वाले कंटक को निकाल कर फेंक दो।'

अर्जुन ने कहा—'धर्मराज! मैं ऐसा ही करूँगा। आप कोई चिन्ता न करें। मैं कर्ण को अवश्य आज मार डालूँगा। आप बड़ी सावधानी से समस्त सेना की कर्ण के बाणों से रक्षा करें। यह दिव्यास्त्रों का प्रयोग करके, हमारी समस्त सेना को नष्ट करने पर उतारू है। आप ऐसा उद्योग करें कि सेना डर कर भागने न पावे।

धर्मराज ने कहा—'सब अपनी ओर के महारथी अपनी अपनी जोड़ी के महारथी से बाँट कर युद्ध करो। तुम कर्ण से भिड़ जाओ। मैं कृपाचार्य का सामना करता हूँ। भीमसेन दुर्योधन से युद्ध करें। इसी तरह पाँचाल देशीय मद्र-देशियों को रोकें।' धर्मराज ऐसा कह कर घोर युद्ध के लिये वीरों को उत्साहित करने लगे। दोनों ओर के वीर प्राणों का मोह त्याग कर परस्पर एक दूसरों को मारने की इच्छा से बाणों की वर्षा करने लगे। बाणों की वर्षा से सूर्य नारायण दिखाई नहीं देते थे। सर्वत्र, 'मारो, काटो, पकड़ लो। देखो, जाने न पावे। तू जीता नहीं जा सकता। मैं तुझे बिना मारे नहीं छोड़ूंगा। अरे! मेरा साथी मर गया। मेरा रथ टूट गया। उधर से मेरा रथ

लाओ। उस हाथी को यहाँ बढ़ाओ। देखो सावधान रहना, वह आगे न बढ़ने पावे। खबरदार पीछे मत हटना। हाँ वीरो! आगे बढ़ते चलो, विजय हमारी है। बस, अब तो मार ली बाजी। आज संग्राम समाप्त हो जायगा। कोई पीछे पैर न हटाना। या तो मरकर स्वर्ग प्राप्त करो, या विजय-लक्ष्मी का आलिंगन करो।' ये ही शब्द चारों ओर सुनाई पड़ते थे। वहाँ इतना कोलाहल मच रहा था कि कोई किसी की बात नहीं सुन सकता था। रथों की घड़घड़ाहट, घोड़ों की हिनहिनाहट, हाथियों की चिंघाड़, वीरों की हुंकार, घायलों की चीत्कार और धनुष की टंकारों से दशों दिशाएँ गूंज रही थीं। दोनों ओर के वीर आँखें बंद करके युद्ध कर रहे थे। वीरता के मद में मदान्ध हुए शूरों को अपने पराये का ज्ञान नहीं रहा। अर्जुन उधर अन्य वीरों को परास्त करने में लगे हुए थे कि सामने ही धर्म-राज युधिष्ठिर कर्ण को दिखाई दिये। धर्मराज को देख कर शल्य से कर्ण ने कहा—'महाभाग! आप मेरे रथ को धर्मराज के सम्मुख ले चलें।' शल्य रथ को बढ़ाकर धर्मराज के समीप ले गये।

धर्मराज ने जब अपने सम्मुख युद्ध करने की इच्छा से कर्ण को देखा, तब तो उनके क्रोध का पारावार नहीं रहा। वे गरज कर बोले—'अरे नीच सूत-पुत्र! मेरा बड़ा सौभाग्य है, जो आज तेरी सूरत दिखाई दी। आज मैं तुझे अपने बाणों से मारकर अपने सभी दुखों को भुलाऊँगा। नीच! एकमात्र तू ही हमारी विपत्ति का कारण है। तेरे ही बल भरोसे पर, तेरे ही पराक्रम की आशा पर, दुर्योधन ने हम पर भाँति-भाँति के अत्याचार किये और युद्ध आरम्भ किया। आज मैं दुर्योधन की आशा को तुझे मार कर विफल बना दूँगा। तू जल्दी से सम्हल जा।'

कर्ण ने हँसते हुए कहा—'धर्मराज, बहुत बड़बड़ाने से तो काम चलने का नहीं। मैं गीदड़-भभकियों में आने वाला नहीं। बन्दर-घुड़की किसी दूसरे को देना। कर्ण बहुत बकता नहीं. वह पराक्रम दिखाकर उत्तर देता है। अच्छा मैं तैयार हूं। तुम मेरे ऊपर प्रहार करो।'

इतना सुनते ही धर्मराज क्रोध में भर कर कर्ण के ऊपर बाण वर्षा करने लगे। कर्ण भी भयङ्कर बाणों को छोड़ कर धर्म-राज को व्यथित करने लगे। कुन्ती को दिये हुये वचनों को वे भूले नहीं थे। उन्हें धर्मराज की जान नहीं लेनी थी। किन्तु आज उन्हें परास्त करने की उसने ठान ली थी। धीरे-धीरे युद्ध ने भयङ्कर रूप धारण कर लिया। धर्मराज ने कानों तक धनुष की डोरी खींच कर एक बाण ऐसा मारा कि उसके लगते ही कर्ण थोड़ी देर के लिये बेहोश हो गये। बुद्धिमान सारथी शल्य रथ को युद्धभूमि से हटा लेगये। चेतना होने पर कर्ण ने कहा—'शल्य तुम इसी समय मेरे रथ को धर्मराज के सन्मुख ले चलो। आज मैं उन्हें बिना परास्त किये मानूँगा नहीं।'

शल्य जल्दी से फिर रथ को धर्मराज के सन्मुख ले गये। दोनों में फिर भयङ्कर युद्ध होने लगा। जैसे दो चीलहें आकाश में माँस के टुकड़े के लिये लड़ती हैं, वैसे ही दोनों—धर्मराज और कर्ण लड़ने लगे। पहिले सत्य के कारण धर्मराज का रथ हमेशा पृथ्वी से ४ अंगुल ऊपर आकाश में उड़ता था। जिस दिन उन्होंने द्रोणाचार्य के सम्मुख 'अश्वत्थामा मारा गया' यह झूठ वचन बोला उसी दिन से उनका रथ सब साधारण वीरों की तरह पृथ्वी पर ही चलने लगा। कर्ण ने अब धर्मराज को लक्ष्य करके अनेकों बाण छोड़े। धर्मराज भी बड़ी वीरता से कर्ण का सामना कर रहे थे; किन्तु कर्ण महाबली था। शनैः शनैः

धर्मराज का पक्ष कमजोर पड़ने लगा। कर्ण ने अपने बाणों से रथ को छिन्न-भिन्न कर दिया और धर्मराज के हृदय में ऐसे बाण मारे कि वे उन बाणों की असह्य वेदना से व्यथित होकर रण छोड़कर भाग खड़े हुये। धर्मराजको भागते देखकर पांचाल वीरों ने कर्ण को रोका। किन्तु जैसे समुद्र के भयंकर तूफान को कोई नहीं रोक सकता, इसी तरह कर्ण को कोई रोक न सका। भागते हुये धर्मराज का उन्होंने पीछा किया। थोड़ी ही देर में कर्ण भागते हुये धर्मराज के टूटे रथ के समीप पहुँच गये। उन्होंने रथ से रथ को भिड़ाकर एक पैर धर्मराज के रथ पर रखकर धर्मराज के कंधे पर अपना हाथ रखा। आज भाई ने भाई के गले में हाथ डाल दिया। कर्ण की इच्छा धर्मराज को मारने की नहीं थी। उन्होंने सोचा—"जीते ही इन्हें पकड़ लूँ, फिर छोड़ दूँगा।' यही सोचकर धर्मराज को पकड़नेकी इच्छा से उनके कन्धे को स्पर्श किया। शल्य बड़े घबड़ाये। उन्होंने सोचा मेरे भानजे को यह जीता ही पकड़ लेगा। अतः डाँटकर कर्ण से बोले—"कर्ण! धर्मराज को बाँधने की, उन्हें छूने की इच्छा कभी मत करना। ये साक्षात् धर्म के अवतार हैं। अभी अपनी रोष भरी दृष्टिसे तुझे और मुझे भी भस्म कर डालेंगे। इन्हें पकड़ना मत।'

कर्ण की इच्छा भी धर्मराज को तंग करने की न थी। वह उन्हें केवल लज्जित करना चाहते थे। सो धर्मराज स्वयं ही बड़े लज्जित हो रहे थे। कर्ण ने उन्हें पकड़ने का विचार छोड़ दिया और हँसते हुये बोले—"धर्मराज! आप युद्ध करना क्या जाने? जङ्गलों में पूजा पाठ कीजिये और ब्राह्मणों को बहुत सा दान दीजिये। यही काम आप के उपयुक्त है। आप तो माला घुमाने के योग्य हैं। धनुष बाण और गदा तलवार

आपके हाथों में शोभा नहीं देती। आपके मुख से धर्म का व्याख्यान ही शोभा देता है। वीरता की बातें आपके मुख से लज्जास्पद प्रतीत होती हैं। आप तपस्या कीजिये, शरीर को सुखाइये। अतिथियों को आप अपने सत्कार से सन्तुष्ट कर सकते हैं। शूर वीर योद्धाओं को रण में सन्तुष्ट करने में आप समर्थ नहीं हैं। आपको पैदल यात्रा ही शोभा देती है, रथ पर चढ़कर युद्धयात्रा आपकी प्रकृति के अनुकूल नहीं है। जल्दी से प्राण लेकर भाग जाओ। फिर कभी मेरे जैसे वीर का सामना मत करना।' यह कहकर कर्ण ने अपना रथ लौटा दिया धर्मराज अपनी जान लेकर भाग गये।

जब महापराक्रमी भीम ने यह देखा कि धर्मराज को इसने बहुत भयभीत किया है, तब वे दूसरों से युद्ध छोड़कर कर्ण से आकर भिड़ गये। दोनों वीरों में बहुत कहा सुनी और लड़ाई हुई। एक दूसरे को परास्त करने के लिये बाज-पक्षी की तरह झपट्टा मारने लगे। जैसे दो साँड़ गौ के लिये परस्पर में लड़ते हैं, उसी तरह विजय की इच्छा से वीर कर्ण और गदापाणि भीम आपस में युद्ध करने लगे। एक दूसरे के ऊपर बाणों की वर्षा करते, भाँति-भाँति के पैंतरे बदलते और आपस में खरी खोटी सुनाते। बड़ी देर तक कर्ण और भीम का युद्ध होता रहा। धर्मराज आगे जाकर सैनिकों को उत्साहित करने लगे। दैव संयोग से फिर युधिष्ठिर और कर्ण की भिड़न्त हो गई। धर्मराज कर्ण के बाणोंसे व्यथित हुये। अन्य लोगों ने आकर धर्मराज की रक्षा की। इतने में ही नकुल सहदेव ने आकर कर्ण के ऊपर बाणों की वर्षा आरम्भ की। अपने दोनों छोटे भाइयों को कर्ण से लड़ते देखकर धर्मराज भी उनकी सहायता के लिए आ पहुँचे तीनों भाई कर्ण से भिड़ गये। कर्ण तीनों में से किसी को भी जान से

मरना नहीं चाहते थे, किन्तु आज वे अपना अस्त्र कौशल दिखा रहे थे। उन्होंने भयंकर बाण वर्षा करके धर्मराज और नकुल को ढक दिया। उनके सारथी को मार डाला। रथ के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और घोड़ों को भी मार गिराया। धनुष को तोड़ दिया। रथ-हीन और धनुष-हीन होकर धर्मराज और नकुल बड़े घबड़ाये। कर्ण आगे बढ़े। अब शल्य के होश उड़ गये। उसने समझा अब कर्ण मेरे दोनों भानजों की जान लेना ही चाहता है। इसीलिये उन्हें समझा कर बोले—'महावीर कर्ण! धर्मराज को जान से मारने में तुम्हारा क्या लाभ होगा। तुम्हारी प्रतिज्ञा तो अर्जुन को मारने की है। चल कर महावीर अर्जुन से युद्ध कीजिये।' परन्तु कर्ण ने शल्य की बातों पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। वे धर्मराज की ओर बढ़ते ही गये। इस पर शल्य ने उनका ध्यान बँटाने के लिये इधर-उधर की बातें आरंभ कर दीं।

शल्य ने कहा—'तुम इतने वीर होकर धर्मराज को क्यों मारना चाहते हो? धर्मराज और नकुल को मारने से तुम्हें लाभ ही क्या होगा? इन्हें जान से मत मारो। देखो सामने महा-पराक्रमी भीम दुर्योधन को मारने पर उतारू हैं। वहाँ चलकर उनकी रक्षा करो। धर्मराज को और नकुल, सहदेव को मारने से तुम्हें कुछ भी हाथ न लगेगा। हाँ, अर्जुन को मारकर तुम हम सब के राजा बन सकोगे। वह देखो, सफेद घोड़ों से युक्त रथ में बैठे हुए सव्य-साची वीर अर्जुन दिखाई देते हैं। तुम तो अर्जुन को दिखाने वाले को अपना सम्पूर्ण राज्य देने को तैयार थे। अब मैं तुम्हें उन महावीर अर्जुन को दिखाये देता हूँ, जिनके सारथी भगवान वासुदेव हैं। देवकीनंदन जिस रथ को हाँक रहे हैं, वहाँ चलकर तुम अपनी वीरता दिखाओ। मैं भी

अपनी रथ हाँकने की चातुरी दिखाऊँगा। अब यहाँ अधिक समय बिताना ठीक नहीं है। यदि तुम यहीं अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दोगे और बाणों को खाली कर दोगे, अर्जुन के सामने तुम्हें लज्जित और पराजित होना पड़ेगा। बराबर के वीर के सम्मुख ही लड़ने में शोभा है। तुम्हारी प्रशंसा तो अर्जुन के मारने में ही है। तभी तुम्हारा नाम होगा और दुर्योधन का काम होगा। सब से पहिला काम तुम्हारा दुर्योधन की रक्षा और अर्जुन को हराना है। उसमें अपनी पूरी शक्ति लगा दो। 'धर्मराज को छोड़ दो।'

कर्ण मारना थोड़े ही चाहते थे। वे तो अपनी माता के सम्मुख अर्जुन को छोड़कर अपने चारों भाइयों को न मारने की प्रतिज्ञा कर चुके थे। अतः अब वे हँस कर पीछे की ओर लौटे। धर्मराज और नकुल दोनों सहदेव के रथ पर चढ़ कर अपनी-अपनी जान लेकर भागे। तीनों भाइयों को इस तरह भागते देखकर कर्ण दुर्योधन की ओर चले जहाँ भीमसेन अपनी गदा से दुर्योधन के भाइयों को यमपुरी पहुँचा रहे थे।

इधर धर्मराज के भागते ही पांडव सेना में भगदड़ मच गई। जैसे तैसे पांडवपक्ष के बहुत से वीर सेनापतियों ने आगे बढ़कर भागते हुये सैनिकों को रोका। कर्ण को युद्ध के मैदान से दूसरी ओर जाते देखकर सैनिकों के जान में जान आई। वे भागने से रुक गये।

इधर धर्मराज का बुरा हाल था। उनके शरीर का कवच छिन्न-भिन्न हो रहा था। मर्म स्थानों में बहुत से बाण घुसे हुये थे। समस्त अंगों में जोर की पीड़ा हो रही थी। पराजय के अपमान से लज्जित थे। उनका समस्त साहस जाता रहा। विजय की आशा टूट गई। खिन्न मन से उदास होकर वे विश्राम करने

के निमित्त रण छोड़ छोड़ कर अपने शिविर में चले गये। उनके दोनों भाइयों ने उन्हें बड़ी सावधानी से ले जाकर, सुकोमल शैया पर लिटाया। सुयोग्य चिकित्सकों ने उनके शरीर में लगे हुए बाणों को बुद्धिमानी के साथ निकाला। घावों पर तुरन्त असर करने वाली औषधियाँ लगाईं। औषधियों के लेप से तुरन्त ही घाव भर गये, बाण निकल गये और शरीर की पीड़ा जाती रही। किन्तु कर्ण के द्वारा जो अपमान हुआ उसके तीक्ष्ण वाक्य-बाण उनके हृदय में घुस गये थे। उनकी पीड़ा उन्हें बार बार मार्मिक दुःख पहुँचाने लगी। उनके हृदय की वेदना शरीर की वेदना के कम होने पर भी बढ़ती ही गई। उन्होंने नकुल, सहदेव को तुरन्त ही अपने भाइयों की सहायता के लिये रणभूमि में भेजा। स्वयं वे उदास मन से दुखी होकर चुप-चाप शैया पर पड़े रहे।

जिन कर्ण का उन्हें सदा भय बना रहता था, उनके ही द्वारा इस बुरी तरह से पराजित और अपमानित होने पर उन्हें अपार क्लेश हुआ। कुन्ती के वरदान से ही आज धर्मराज बच गये थे। वरदान से क्या बच गये; उनके धर्म ने, उनकी वासुदेव भक्ति ने उन्हें बचाया। जिसके सहायक श्रीकृष्ण हैं, उन्हें कौन मार सकता है?

"यतो धर्मस्ततो जयः"



कर्ण के बाणों से व्यथित धर्मराज के समीप अर्जुन

रौक्मं वरं हस्तिगजाश्वयुक्तं रथं प्रदित्सुर्यः परेभ्यस्त्वदर्थं ।
सदा रणे स्पर्धते यः सपापः कच्चित्त्वयानिहतस्तातयुद्धे ।।*

(कर्ण० प० ६६।२३)

अपने आत्मीय सुहृद की प्रशंसा सभी करते हैं, किन्तु आदर्श पुरुष वे ही कहलाते हैं जिनकी प्रशंसा शत्रु भी पीठ पीछे करें। स्वपक्षीय योद्धा के बल वीर्य की प्रशंसा तो उसे उत्साहित करने के लिये की ही जाती है, किन्तु माननीय वीर तो वही है कि विपक्षी भी जिसका लोहा मान लें। यह संसार सदा वीरों द्वारा ही प्रशंसित है। संसार में वीर न रहें तो नरक में और इसमें अंतर ही क्या है? इस पृथ्वी की शोभा वीरों से ही है। इसका उपयोग वीर पुरुष ही कर सकते हैं। 'वीर भोग्या वसुन्धरा' यह लोकोक्ति यथार्थ सत्य है। दानवीर, शूरवीर, धर्मवीर, कर्मवीर आदि वीरों से ही पृथ्वी सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। जब संसार में आत्माभिमानी वीर नहीं रहते, समस्त वीरों का जब नाश हो जाता है, तब क्षुद्र पुरुष छल, बल, कौशल, धूर्तता और नाना भाँति की कुटिल नीतियों का आश्रय लेकर बहुमत के बल पर जनता के अग्रणी बनकर पाप-

---

* धर्मराज युधिष्ठिर अर्जुन से पूछते हैं—'हे भैया, जो कर्ण आज तुम्हें दिखानेवाले पुरुष को सुवर्ण का सुन्दर रथ, हाथी, घोड़े और बैल देने की घोषणा कर रहा था। जो युद्ध में सदा तुमसे प्रति-स्पर्धा, लाग-डाँट रखता था, वह पाप-मति कर्ण मारा गया क्या!'

बुरे कार्यों के प्रचार से पाप कर्मों का प्रसार और पापियों को प्रोत्साहित करते हैं। सिंह को बहुमत की आवश्यकता नहीं। उसे कोई राजसिंहासन पर बिठाकर राजतिलक नहीं करता। वह तो अपने पराक्रम से मृगराज और अरण्यपति बन जाता है। जब भगवान कलियुग के आने का समय देखते हैं, तो अपनी माया से समस्त वीरों का संहार कर देते हैं। नहीं तो संसार में भीष्म, द्रोण और परशुराम तथा कर्ण जैसे वीरों को कौन संग्राम में परास्त कर सकता था? जो अर्जुन साधारण भीलों द्वारा लूटे गये, वे कहीं भीष्म और कर्ण को बाणों से मार सकते थे? अतः सच कहो; अर्जुन में इतनी शक्ति कहाँ थी? यह सब तो वासुदेव की लीला थी। अर्जुन ने रण में स्पष्ट देखा कि एक भयङ्कर-मूर्ति-पुरुष अर्जुन के आगे-आगे वीरों का संहार करता हुआ चलता है। सब वीर तो उसी की गदा से मर रहे हैं। लोग समझते हैं ये सब अर्जुन के द्वारा मारे जा रहे हैं। जो जिलाने वाला है, वही मार भी सकता है। जो जिलाने की शक्ति नहीं रखता, उसे मारने की भी सामर्थ्य नहीं। अर्जुन तो निमित्त मात्र थे। मारने वाले तो वे ही काल स्वरूप श्रीहरि हैं।

अर्जुन ने जब चारों ओर देखा कि धर्मराज युधिष्ठिर दिखाई नहीं देते, तब उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। उनका हृदय धड़कने लगा। पास में ही भीम युद्ध कर रहे थे। अर्जुन संसप्तक वीरों को पीड़ित कर रहे थे। अर्जुन ने धीरे से भीमसेन से पूछा—"महाराज धर्मराज दिखाई नहीं देते। उन्हें कहीं शत्रुओं ने घेर तो नहीं लिया? मेरा दिल धड़क रहा है।"

भीमसेन ने कहा—'भैया! कुछ मत पूछो, यह क्षत्रिय धर्म बड़ा निंदनीय है। भाई-भाई के खून का प्यासा है। मैं धर्मराज की ऐसी दशा जानकर भी यहाँ युद्ध कर रहा हूँ। कर्ण ने

आज धर्मराज को बुरी तरह व्यथित किया है। कर्ण के बाणों से घायल और दुःखी होकर वे मुमुर्षु दशा में शिविर को चले गये हैं। वे शायद ही जीवित हों। उनके बचने की कोई आशा नहीं है। कर्ण ने उन्हें बार-बार पीड़ित किया है।"

यह सुनकर अर्जुन को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने भीमसेन से कहा—"तुम अभी जाकर धर्मराज की खबर सुधि लेकर मुझे बताओ। मेरे प्राण व्याकुल हो रहे हैं। धर्मराज के बिना मैं जीवित न रहूँगा'

भीमसेन ने कहा—'भैया, तुम्हीं जाकर देखो। मैं अब युद्ध से हटता हूँ, तो ये कौरव-पक्षीय वीर सभी ताली पीट-पीट कर मेरे ऊपर हँसेगे, चिढ़ावेंगे और बार-बार कहेंगे—'डर कर भाग गया, भाग गया।' तुम जाकर धर्मराजको देख आओ।'

अर्जुन ने कहा—'भैया, तुम मुझसे बड़े हो यह तुम्हारा ही काम है। मैं सब को देख लूँगा, तुम जाओ तो सही।'

भीमसेन ने कुछ रोष में अर्जुन को डांटते हुए कहा—'तुम मुझसे अब बहुत बकवाद मत करो। मैंने धृतराष्ट्र के १०० पुत्रों को मारने की प्रतिज्ञा की है। एक आध तुम्हारे हाथ से मारा गया, तो मेरी प्रतिज्ञा नष्ट हो जायगी। संसप्तकों को मैं देख लूँगा, तुम जाकर महाराज का समाचार लाओ।

भीमसेन बड़े थे। बड़ों की आज्ञा माननी चाहिये। भगवान ने भी कहा—'हाँ ठीक है। भीमसेन सब कुछ कर सकते हैं। चलो हम चलकर कुन्ती-नंदन युधिष्ठिर के दर्शन करें। देखें उनकी क्या दशा है?'

देवकी-नन्दन भगवान वासुदेव ने जोरों से रथ बढ़ाया। शत्रु सेना को चीरता हुआ वह अग्निप्रदत्त रथ क्षण भर में धर्म-

राज के शिविर के पास पहुँच गया। धर्मराज एक सुन्दर गुलगुली बड़ी शैया पर आँख बन्द किये हुये पड़े थे। उनके आस पास बहुमूल्य तकिये लगे थे। उनके सम्पूर्ण शरीर में घावोंके निशान थे। रक्तसे शरीर लथ-पथ था। वे लम्बी-लम्बी साँसे ले रहे थे। बार-बार कष्ट के साथ करवट बदलते थे। उनका मुख मलिन था, चेहरे पर चिंता के चिन्ह स्पष्ट प्रकट हो रहे थे। उनके पास कोई सेवक नहीं था। वे बहुत व्यथित उदास, दुखी और पीड़ित थे। श्रीकृष्ण और अर्जुन ने आगे बढ़कर धर्मराज के पैर छुए। धीरे-धीरे धर्मराज ने आँखें खोलीं, किन्तु कुछ बोले नहीं। तब अर्जुन ने पूछा—"महाराज अब आपकी तबियत कैसी है? आप स्वस्थ हैं न! हम और श्री-कृष्ण युद्ध से आपके दर्शन करने आये हैं। आप हमारी ओर प्रसन्नचित्त से चिन्ता को छोड़कर स्नेह भरी दृष्टि से देखिये। भगवान वासुदेव के रहते हुए आप को चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं। आपका अप्रिय करने वाला कभी पृथ्वी पर रह ही नहीं सकता।" इतना वचन सुनते ही धर्मराज के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने समझा अर्जुन कर्ण को मारकर आये हैं। वे प्रसन्न होकर कहने लगे—'हे अर्जुन! श्रीकृष्ण सहित मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ। तुम दोनों को देखकर मेरा दुःख दूर हो गया। अब मुझे कोई चिन्ता नहीं। दुरात्मा कर्ण को संग्राम में मारकर तुम दोनों ने मेरा सबसे प्रिय कार्य किया है। मुझे न भीष्म की चिन्ता थी, न आचार्य द्रोण की। मुझे सबसे अधिक चिन्ता इस दुरात्मा कर्ण की ही थी। इसके डर के कारण मुझे न भूख लगती थी न प्यास। १२ वर्ष मुझे इसी सूत-पुत्र की चिन्ता में नींद नहीं आई। ओफो! वह मनुष्य था या साक्षात् दंडधारी यम! उसे युद्ध में समस्त देवता, लोकपालों

सहित इन्द्र भी नहीं जीत सकते थे। श्रीकृष्ण की सहायता से आज तुमने उस संसार विजयी वीर को जीत लिया। तुमने उसका सिर धड़ से काटा था, या बाणों से उसे व्यथित करके मार डाला ?

धर्मराज अपने आपको भूल गये। जैसे वात के विकार में आदमी बकता जाता है, वैसे ही धर्मराज बिना विश्राम लिये कहते ही गये। वे बोले--'क्या कहूँ ? आज उसने मुझे जितना पीड़ित किया उतना न कभी भीष्म ने किया, न द्रोणाचार्य ने। आज तो उसने मेरे शरीर को वेध दिया। दयावश उसने मुझे जीता छोड़ दिया, यही उसकी बड़ी कृपा हुई। नहीं तो वह चाहता तो मुझे मार डालता। ओफ़ो ! कितना पराक्रम था उस सूत-पुत्रमें ! अब भी उसकी भयङ्कर मूर्ति मेरे सामने नाच रही है। यद्यपि भीष्म ने उसे चिढ़ाने के लिये अर्धरथी कहकर उसका अपमान किया था और इसलिये उसने १० दिनों तक शस्त्र नहीं उठाये थे, फिर भी उसके न रहने पर भी मुझे सर्वत्र कर्ण ही कर्ण दिखाई देता था। १२ वर्षसे मेरी आँखों के सामने कर्ण की मूर्ति सदा नाचती रहती थी। खाते-पीते, उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते, दिन में, रात्रि में, सदा, सर्वदा, सर्वत्र कर्ण ही कर्ण दिखाई देता था। जब से वह संग्राम में आया, तब से मुझे कोई सैनिक दीखता ही नहीं था। जिधर दृष्टि घुमाता उधर कर्ण ही कर्ण दिखाई देता। उसकी दहाड़ को सुन कर मेरे रोंगटे खड़े हो जाते। आज तो वह बुरी तरह मेरे पीछे पड़ा। घूम फिरकर मेरे पास आ जाता और मुझे घायल करके और व्यथित करके उलटी सीधी सुनाकर, फिर भाग जाता। थोड़ी देर में मैं उसे फिर अपने सामने ही देखता। उसने मुझे ऐसी-ऐसी कड़ी बातें कहीं कि सुनते-सुनते मैं मारे लज्जाके जीवित

ही मृतक तुल्य बन गया। मामा शल्य ने उससे मेरी खूब रक्षा की। मामा ने अपना प्रण खूब निभाया। वे न होते तो आज तुम मुझे इस दशा में जीवित न पाते।

धर्मराज लेटे थे, लेटे ही लेटे जोश में उठकर बैठ गये। उनकी आँखों से लज्जा और क्रोध के कारण आँसू बह रहे थे। वे अपनी बात कहते ही जाते थे। भगवान वासुदेव और अर्जुन चित्र लिखे से खड़े-खड़े उनकी बातें सुन रहे थे। उन्होंने उनकी बात को काटा नहीं। धर्मराज फिर भी चुप न हुए वे कहते ही गये—'उस नीच ने हमें कितना तंग किया। दुर्योधन को एक-मात्र उसी का भरोसा था। उसी के बल पर तो उसने हमारी सती साध्वी पत्नी का भरी सभा में अपमान किया। हत्या की जड़ वही नीच क्रूर और नृशंस सूत-पुत्र था। उसके ही मारे मैं सदा दुखी रहता था, यद्यपि अब वह इस लोक में नहीं है, फिर भी वह मुझे अब तक स्पष्ट सामने दिखाई दे रहा है। संसार मुझे कर्णमय दिखाई दे रहा है। कर्ण साधारण वीर नहीं था। बताओ तो सही तुमने उसे किस तरह मारा? भगवान वासुदेव की सहायता न होती, तो तुम उसे मार थोड़े ही सकते थे? उसे तो कोई जीत ही नहीं सकता था। मुझे जल्दी बताओ, वह सचमुच युद्ध में मारा गया या मैं स्वप्न ही देख रहा हूँ। मुझे भ्रम तो नहीं हो गया है? कहीं कर्ण सकुशल जीवित तो नहीं है?'

यह कहते-कहते धर्मराज हाँफने लगे और चुप होकर तकिये के सहारे लेट गये।

धर्मराज की बातें सुनकर अर्जुन ने धीरे-धीरे कहना आरम्भ किया—'महाभाग! राजन्, कर्ण सचमुच बड़ा वीर है। आज तक मैंने उसका ऐसा पराक्रम कभी देखा ही नहीं। हमारी सेना

में ऐसा एक भी वीर नहीं जो उससे भयभीत न हो। सब पर उसके नाम की धाक है। सैनिक उसका नाम सुनते ही भागते हैं। उसने आज हजारों राजा और राजकुमारों को मार डाला है। वह न तो थकता है, न पीछे हटता है। द्रोण पुत्र अश्वत्थामा की सहायता से वह घास की तरह हमारे सैनिकों को काट रहा है। हमारी सेना में सर्वत्र हाहाकार मचा है। मैंने अभी भीमसेन के द्वारा आपका समाचार सुना। सुनते ही मैं यहाँ दौड़ा आया। जिस नीच सूत-पुत्र के कारण हमें १४ वर्ष बन-बन भटकना पड़ा; जिसने हमारी कुल वधू को न कहने योग्य वाक्य कहे, जो सदा हमारा अपमान करता था, जो दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिये हमें हर तरह के दुख देने को तैयार रहता था। जिसने समस्त वीरों को भयभीत कर रखा है, जिसने मेरे प्यारे पुत्र अभिमन्यु को अन्य पाँच महारथियों के साथ मिलकर मरवा डाला है, जो सदा मुझसे लड़ने के लिये उतावला रहता है, जिसे मुझे जीतने की एकमात्र इच्छा है। वह अधिरथ का तनय राधेय नीच सूत-पुत्र कर्ण अभी मारा नहीं गया। राजन्! आपका समाचार सुनते ही मैं भीमसेन को युद्ध का भार सौंप कर यहाँ दौड़ा आया हूँ। अभी वह कौरव सेना का प्रधान सेनापति वसुषेण युद्ध कर रहा है। आप अब मुझे आज्ञा दीजिये। मैं युद्ध में जाकर उस नीच को मार डालूँगा। आपके आशीर्वाद से और भगवान देवकी-नंदन की कृपा से आज मैं उस नीच, नराधम सूत-पुत्र को अवश्य ही यमपुर पहुँचा दूँगा। हे धर्मराज! आप मेरी मङ्गल कामना करें। आप अब निश्चिन्त हो जायँ। कर्ण की अब आप चिन्ता छोड़ दें। आप को व्यथित करने वाला कर्ण अब मरा ही हुआ

है। उसे अब आप जीवित न समझें। उसे मृतक समझ कर ही आप सुखी होइये।'

"कर्ण अभी जीवित है" इतना सुनते ही धर्मराज बेहोश से हो गये और कपड़े से मुँह ढककर वे धड़ाम से तकिये के सहारे गिर पड़े। थोड़ी देर तक वे दुःख के आवेश में कुछ भी न बोल सके।

हा! अर्जुन जैसा शूरवीर उस सूत-पुत्र को न जीत सका। मुझे बुरे वचन कहने वाला; सब के सामने बुरी तरह से अपमानित करने वाला कर्ण अभी जीवित है। इस बात से धर्मराज को अपार दुःख हुआ। उन्हें सम्पूर्ण संसार अंधकारमय दिखाई देने लगा।



युधिष्ठिर का क्रोध और अर्जुन की कर्ण वध की प्रतिज्ञा

त्वमित्यत्र भवन्तं हि ब्रूहि पार्थ युधिष्ठिरम्।
त्वमित्युक्तोहि निहतोगुरुर्भवति भारत !*
(कर्ण० प० ६९।८३)

ब्रवीहि वाचाद्य गुणानिहात्मनस्तथा
हतात्मा भवतासि पार्थ ॥†
(कर्ण० प० ७०।२९)

जब मनुष्य की कामना पूर्ण नहीं होती, जिस चीज़ की जिससे हम आश लगाये रहते हैं, वह आशा जब निराशा में परिणित हो जाती है, हमारी अभिलाषित वस्तु हमें जब प्राप्त नहीं होती, तब हृदय में एक प्रकार की अग्नि सी लग जाती है। जब उसे भीतर मन में नहीं रोक सकते तब वह वचनों द्वारा प्रकट हो जाती है। उलटी सीधी सुनाकर भी जब सन्तोष नहीं होता तो कर्म द्वारा हम अपने स्वार्थ में विघ्न समझने वाले का अनिष्ट

---

*गांडव धनुष की निन्दा करने पर जब अर्जुन धर्मराज का वध करने को उद्यत हुए, तब भगवान ने कहा—'हे पार्थ! तुम धर्मराज को 'आप' की जगह 'तुम वा तू' कह दो। बड़े लोगों को तू कह कर अपमानित कर देना उनका सबसे बड़ा वध है।'

† जब युधिष्ठिर की निन्दा करने से दुखी होकर अर्जुन आत्महत्या करने लगे, तब भगवान ने कहा—'तुम अपने गुणों की अपने आप प्रशंसा करो। आत्मश्लाघा से बढ़कर अपनी और हत्या क्या होगी? अपने मुँह अपनी बड़ाई करना आत्महत्या के तुल्य है।'

करने पर उतारू हो जाते हैं। इस हृदय की अग्नि को क्रोध कहते हैं। इसका पिता काम है और पुत्र संमोह है। मनुष्य को जब क्रोध चढ़ता है, तब उसकी विवेकवती बुद्धि विभ्रम में पड़ जाती है। उसे अपने पराये का ज्ञान नहीं रहता। उस समय उसे कर्तव्य का भी विवेक नहीं रहता। जो उस समय अच्छा बुरा सूझ जाता है, वही करने लगता है। समस्त अनर्थों का मूल क्रोध है। यदि हम भगवान को भूल कर उनके अस्तित्व का स्मरण न करके क्रोध करें, तो निश्चय ही हमारा सर्वनाश है। और यदि हमें यह स्मरण बना रहे कि घट-घट व्यापी प्रभु हमारे सम्मुख खड़े हैं; तब मनुष्य क्रोध करना भी चाहें तो वे उसे सद्बुद्धि प्रदान करके अनर्थ करने से निवारण करते हैं। पाप सदा वही करेगा जो भगवान को भूल जायगा। भगवत्-स्मृति जिसे सदा बनी रहती है, उससे न कभी पाप होता है, और न उसे कभी भारी विपत्ति का सामना करना पड़ता है क्योंकि 'हरिस्मृति सर्व विपद्मोक्षणम्' हरिस्मरण से सब विपत्तियों का नाश हो जाता है!

धर्मराज युधिष्ठिर ने जब सुना कि दुर्योधन का एक मात्र आधार—महाभारत का प्राण, मुझे लज्जित और पराजित करने वाला, वीराग्रगण्य कर्ण अभी जीवित है। अर्जुन अभी तक उसे मार नहीं सके हैं, तब उन्हें अर्जुन के ऊपर बड़ा क्रोध आया। उनकी भृकुटी टेढ़ी हो गई। माथे में बल पड़ गया, चेहरा लाल पड़ गया, अंगों में एक प्रकार की बिजली सी भर गयी। दांतों को कटकटाते हुए, ओठों को चबाते हुए वे अर्जुन को सम्बोधित करके बोले—'अर्जुन मैं तुझे वीर समझता था। जैसे दुर्योधन को कर्ण का सहारा था, उसी तरह एकमात्र मुझे भी तुम्हारा सहारा था। तुमने बार-बार प्रतिज्ञा की थी, 'मैं कर्ण को मारूँगा।'

तुम्हारी वह प्रतिज्ञा झूठी हो गई। हा! मुझे पता होता कि तुम युद्ध में कर्ण से डर कर भाग जाओगे, तुम उस वीर को न मार सकोगे तो मैं वन से लौट कर आता ही क्यों? मैं एक साल विराट् के यहाँ गुप्त वेष से भाँति-भाँति के अपमान सहता ही क्यों? अपने को प्रकट करके फिर १२ वर्ष को वन चला जाता और फिर अज्ञातवास के दिनों में प्रकट होकर वन जाता। इस प्रकार समस्त आयु वन में ही काट देता। मैं इन पांचाल, मत्स्य और अन्यान्य राजाओं को युद्ध के लिये निमन्त्रण ही क्यों देता? मैं तो सदा कर्ण की वीरता से डरता ही रहता था, किन्तु एक-मात्र तुम्हारे विश्वास पर मैंने युद्ध आरंभ किया। मैं जानता था, कर्ण बड़ा क्रोधी है, वह मुझे मार डालेगा। मेरे मार देने में कुछ कसर थोड़े ही रही थी। उसने दयावश मुझे छोड़ दिया। वह चाहता तो मेरे प्राणों को भी ले सकता था। इतना अनादर अपमान सह कर भी मैं इसी आशा से जी रहा हूँ कि मेरे अप-कारी को, मेरे अपमानकारी को मेरा अनुज अर्जुन अवश्य ही यमपुर पहुँचा देगा। सो तुझे देखता हूँ, तू कर्ण के भय से अकेले भीमसेन को छोड़ कर डर से युद्ध छोड़ कर यहाँ चला आया। माता कुन्ती ने तुझे व्यर्थ ही जन्म दिया। जो अपनी प्रतिज्ञा का पालन नहीं करता, वह असभ्य, निन्दनीय और उपेक्षणीय है। तैंने अपनी प्रतिज्ञा का पालन नहीं किया। तू किसी तरह से भी अभी कर्ण को मार नहीं सका। कर्ण इस तरह हमारे सामने ही हमारे सैनिकों का निरंतर वध करता रहे और तू खड़ा देखता रहे; यह शूरवीर के लिये कितना भारी कलंक है। तुझसे अब हम और आशा ही क्या रखें! तैंने हमारी लुटिया ही डुबो दी, बीच मँझधार में आकर नौका छोड़ दी। अब हम न इधर के रहे न उधर के रहे। हमारे साथ

विश्वासघात किया। हाय! पहिले से ही मुझे यह पता होता कि तू सचमुच नपुंसक है, तो मैं युद्ध के चक्कर में ही क्यों पड़ता? राज्य और विजय का मोह ही क्यों करता? मैंने तो तेरे विश्वास पर ही सब कुछ किया। तेरी इतनी लम्बी-लम्बी भुजायें, ये पेड़ की निर्जीव शाखा मात्र ही हैं। तू संसार-विजयी गांडीव धनुष को व्यर्थ ही बाँधे फिरता है। अरे! इसे किसी और को दे दे जिससे इस अस्त्र का अपमान तो न हो। तू कर्ण को न मार सका। तेरे बल को धिक्कार है, तेरी वीरता को धिक्कार है, तेरे पराक्रम को धिक्कार है, तेरे अग्निदत्त रथ को धिक्कार है, तेरे अक्षय तूणीर को धिक्कार है, तेरे दिव्यास्त्रों को धिक्कार है और तेरे गांडीव धनुष को धिक्कार है।' इतना कहते कहते धर्मराज बेहोश से हो गये। वे शैया पर लेट गये और वस्त्र से मुख ढाँक कर रोने लगे।

अर्जुन अपने भाई का बहुत आदर करते थे। वे उनकी उचित अनुचित सब बातें सह सकते थे; किन्तु गांडीव धनुष की निन्दा उन्हें असह्य थी। उनकी प्रतिज्ञा थी, 'जो कोई मुझसे गांडीव धनुष को दूसरे को देने के लिये कहेगा या उसकी निंदा करेगा, तो मैं उसका सिर धड़ से अलग कर दूँगा, उसे जीवित न छोड़ूँगा।' प्रतिज्ञा के सामने अपने पराये का प्रश्न ही नहीं। बचनों की रक्षा के लिये धर्मात्माओं ने अपने सगे सम्बन्धियों, स्त्रियों और पुत्रों तक का परित्याग कर दिया है। इसलिये अर्जुन को भी क्रोध आगया। उन्होंने म्यान से तलवार निकाल ली और उससे धर्मराज युधिष्ठिर का वध करने को तैयार हो गये।

भगवान वासुदेव अर्जुन के अभिप्राय को समझ गये। उन्होंने अनजान की तरह बड़े कोमल शब्दों में कहा—'महाभाग अर्जुन! तुम यह तलवार किस लिये निकाल रहे हो? तुम यह जो

शोर सुन रहे हो वह बहुत दूर है। धृतराष्ट्र के पुत्र यहाँ नहीं आ सकते। कर्ण भी यहाँ क्यों आवेगा? तलवार तो शत्रु को मारने के लिये निकाली जाती है। यहाँ तुम्हारा कोई शत्रु तो दिखाई देता नहीं, फिर तुम यह युद्ध की सी तैयारी क्यों कर रहे हो?'

चराचर के स्वामी भगवान वासुदेव के ये वचन सुन कर अर्जुन ने कहा—'अच्युत! मेरी पुरानी प्रतिज्ञा है कि जो मेरे गांडीव धनुष की निन्दा करेगा उसका मैं सिर धड़ से अलग कर दूँगा। ये धर्मात्मा पांडु के बड़े पुत्र मेरे पूज्य हैं, सदाचारी हैं, धर्मात्माओं में अग्रणी हैं, हमारे सर्वस्व हैं फिर भी इन्होंने गांडीव धनुष की निन्दा की है, उसे दूसरों को देने के लिये कहा है। अतः मैं इनका अवश्य ही वध करूँगा। पहिले इन्हें मारकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करूँगा, तब कर्ण को मारूँगा। इस विषय में मुझे आप क्या सम्मति देते हैं?'

भगवान यह सुनकर बड़े जोरों से हँसे और फिर बड़े ही उत्तेजना के स्वरमें दृढ़ता के साथ कहने लगे—'अर्जुन! पहिले हम समझते थे, तुम बड़े बुद्धिमान हो, धर्म के रहस्य को जानते हो, किन्तु आज पता चला तुम निरे अबोध बालक हो। धर्म का तुम्हें किंचित भी ज्ञान नहीं है। सनातन धर्म क्या है? इसे तुम अभी तक समझ नहीं सके हो। अक्षरों को प्रतिज्ञा नहीं कहते, प्रतिज्ञा का भाव देखा जाता है। फिर कहीं धर्म भी अधर्म हो जाता है और अधर्म प्रतीत होने वाला भी परिणाम में धर्म ही समझा जाता है। इसलिये तुम मिथ्या प्रतिज्ञा की शंका से अपने पिता तुल्य ज्येष्ठ भाई की हत्या करके दूसरा पाप अपने सिर पर क्यों चढ़ा रहे हो? क्यों तुम संसार में उपहास्पद बन रहे हो? तुम पहिले पूर्वों पर विचार करो, अपनी

प्रतिज्ञा को भी सोचो और धर्मराज के वचनों को भी सोचो। तुम्हारी प्रतिज्ञा का भाव क्या था और धर्मराज ने किस भाव से गांडीव धनुष की निन्दा की। तुम्हारी प्रतिज्ञा का भाव यही था जो द्वेष से, शत्रुता और घृणा से तुम्हारे गांडीव की निन्दा करेगा उसे तुम मार डालोगे। धर्मराज तुमसे द्वेष नहीं करते, उनकी तुमसे शत्रुता नहीं है, वे तुमसे घृणा भी नहीं करते। इस समय वे कर्ण से पराजित और अपमानित होने के कारण दुखी थे, पीड़ित थे। इसलिए क्षोभ में उन्होंने ऐसे वचन कह दिये। उनका भाव तुम्हें उत्तेजित करने का था। वे जानते हैं कर्ण को संसार में तुम्हारे सिवाय कोई मार नहीं सकता। इसलिये तुम्हें उसे मारने के लिये जोश दिलाया है। कर्ण के ऊपर तुम्हें क्रोध आवे यही उनका अभिप्राय था। इतने पर भी उन्होंने तुम्हारी प्रतिज्ञा को भंग किया। गांडीव की निन्दा करने वाले का वध करना तुम्हारा कर्तव्य ही है। वध का अभिप्राय भी समझ लो। सबका वध एक सा नहीं होता। सम्मानित पुरुष का अपमान कर देना ही वध है। कल तक जो सबके द्वारा सम्मानित हो, फूल मालासे जिसकी सब पूजा करते हों, उसको 'तू, तड़ाक कह देना, उन्हें अपमानित कर देना' यही बड़ों का सबसे कठिन वध है। सम्मानित पुरुष को अपमानित होकर जीना वध से भी निन्दनीय है। इससे तुम धर्मराज को क्रोध में 'आप, के स्थान में 'तू' कह दो; बस, इनका वध हो गया। पीछे तुम इनसे अपने अपराध के लिये क्षमा माँग लेना। धर्मराज धर्म की सूक्ष्मगति को भली भाँति जानते हैं। जब वे समझ जायँगे कि तुमने द्वेष से या शत्रुता के वश उनका अपमान नहीं किया, अपितु अपनी प्रतिज्ञा के पालन के निमित्त

ऐसा किया है, तो वे तुम पर क्रोध न करेंगे। तुम्हारे अपराध को अवश्य ही क्षमा कर देंगे।'

अर्जुन को यह बात युक्ति युक्त प्रतीत हुई। उन्होंने अब धर्मराज को कड़ी-कड़ी, न कहने योग्य बातें कहकर उनका अपमान करना आरम्भ किया। वे बोले—'हे राजा! तू मुझे बुरा भला कह रहा है। पहले अपनी तरफ तो देख। तैंने जूआ खेल कर हमारा सर्वस्व नाश कर दिया। तू हमारे कुल का घातक है। तेरे ही कारण हमारी स्त्रि-द्रौपदी का भरी सभा में अपमान हुआ। तू क्रोधी कृतघ्न और दीर्घ-सूत्री है। मैंने अपना सर्वस्व तेरे वचनों पर निछावर कर दिया, फिर भी तू मेरी निंदा कर रहा है। तू राजा होने योग्य नहीं। सब भाइयों को तेरे ही कारण विपत्ति के सागर में डूबना पड़ा। तू स्वयं जुआरी होकर मेरी निन्दा कर रहा है।' इस तरह की अनेक न कहने योग्य कठोर बातें कहते-कहते अर्जुन मारे लज्जा के गलने लगे। उन्हें स्वयं ही बड़ा दुःख हुआ। वे आँखों में आँसू भर कर चुप हो गये। थोड़ी देर में उसने फिर म्यान से तलवार निकाल ली। अब भगवान जनार्दन बोले—'अर्जुन! तुम धर्मराज का वध कर चुके अब फिर से तलवार क्यों निकाल रहे हो। अब तुम किसका वध करना चाहते हो?'

तब अर्जुन ने कहा—'हे विश्वम्भर! मैंने अपने पूज्य ज्येष्ठ भ्राता का अपमान किया है। इसलिये अब मैं आत्म-हत्या करूँगा। भाई की निन्दा करके मैं जीना नहीं चाहता। इस खड्ग से अपना ही गला काटूँगा।'

इस पर भगवान देवकी-नन्दन ने कहा—'तुम फिर मूर्खता करते हो। भाई का अपमान करने पर ही तुम आत्महत्या करने को उद्यत हो, उन्हें खड्ग से मार डालते तो क्या होता? देखो!

आत्म-प्रशंसा से बढ़कर आत्महत्या कोई नहीं। जो अपने मुँह अपने कामों की प्रशंसा करता है, उससे बड़ा आत्म-हत्यारा कोई नहीं। तुम युधिष्ठिर के सामने अपनी प्रशंसा कर लो। बस, तुम्हारा भी मरण हो जायगा।'

भगवान वासुदेव की यह सम्मति मान कर अर्जुन कहने लगे—'महाराज! आप मुझे क्या समझते हैं? मैं संसार में सर्वश्रेष्ठ योद्धा हूँ। मैंने अकेले ही पृथ्वी की दिग्विजय की। विराट् नगर में अकेले ही सब कौरवों को हराया। मैं चाहूँ तो संसार को जीत सकता हूँ। बेचारा कर्ण है क्या चीज? मैं उसे बात की बात में मार डालूँगा। मैंने स्वर्ग में यह किया, वह किया। इसे मारा, उसे काटा। मैंने नरक को स्वर्ग बना दिया। छोटों को सिंहासन पर बिठा दिया, बड़े बड़ों को धूलि में मिला दिया। मैं जिसे चाहूँ राजा बना दूँ, जिसे चाहूँ भिखारी बना दूँ। महाराज! आप मेरा पुरुषार्थ देखें। मैं कर्ण को क्षण भर में मारता हूँ। आप मेरे बल को देखिये। सब लोकपाल भी मेरा सामना नहीं कर सकते। आज मैं कर्ण को मार कर तब आपको मुँह दिखाऊँगा।'

इतना कह कर अर्जुन चुप हो गये। अब धर्मराज अपमानित होने से अपने स्वभाव में आगये। वे फूट-फूट कर रोने लगे। उन्होंने रोते-रोते कहा—'भैया अर्जुन! तुम जो कह रहे हो; सच कह रहे हो। मैं बड़ा नीच हूँ, मेरे समान पापी संसार में कौन होगा? हाय! तुम सब भाई छाया की तरह मेरे साथ रहे। वन-वन भटकते रहे। राज-पुत्र होकर भीख माँग कर लाते थे और मुझ पापी का पेट भरते थे। तुम भाइयों ने मुझे प्रसन्न करने के निमित्त कितने कठोर-कठोर काम किये। मैं ऐसा कृतघ्नी निकला कि तुम्हें अपने पास से अलग कर दिया। अपने

स्वार्थ के लिये जीते जी तुम्हें स्वर्ग भेज दिया। जूआ तो मैंने खेला था, तुम तो चुपचाप बैठे रहे। मेरी ही करतूत से तुम्हें बनवास का घोर क्लेश सहना पड़ा। भीमसेन जुए के समय मेरे हाथों को जला रहे थे। भैया अर्जुन! तुमने उसे क्यों रोक दिया? मेरे हाथों को भीम जला देते, तो मुझे जूआ खेलने की सजा मिल जाती। सचमुच मेरे ही कारण देवी द्रौपदी नंगी की गई। जुआरियों ने उसे व्यभिचारिणी कहा और मैं पापी बैठा-बैठा सब सुनता रहा। मेरे जीवन को धिक्कार है। राज्य लोभ से मैंने कितने वीरों की हत्या करा दी। अपने स्वार्थ के लिये अपने गुरु और पितामह का वध करा दिया। सो भी धर्म से नहीं अधर्म से। मैं बड़ा स्वार्थी और नीच हूँ। मैं राज्य करने योग्य नहीं। भैया, तुम दुर्योधन, कर्ण को मार कर भीमसेन को राजा बना देना। मैं तो अभी बन में तपस्या करने जाता हूँ।' इतना कहते-कहते धर्मराज फूट-फूट कर रोने लगे और शीघ्र ही शैया से उठकर वन के लिये चल दिये। वन के लिये जाते हुए धर्मराज को देखकर आगे बढ़ कर भगवान वासुदेव ने उनके चरण पकड़े। वे विनीत भाव से धर्मराज के चरणों में लोट गये और दीनता के स्वर में बोले—'धर्मराज! आप मेरे अपराध को क्षमा करें। अर्जुन ने मेरे ही कहने से आपको कटु वचन कहे। मेरी ही प्रेरणा से उन्होंने आपका अपमान किया। क्योंकि वे अपनी प्रतिज्ञा निभाने के लिये विवश थे। उन्हें विवश समझ कर आप उन पर प्रसन्न हों और हम दोनों को आशीर्वाद दें कि हम कर्ण को अभी मार कर तब आप के दर्शन करें।'

इतना कह कर भगवान ने संकेत से अर्जुन को क्षमा माँगने को कहा। भगवान का संकेत पाते ही अर्जुन ने दोनो हाथों से

धर्मराज के चरण पकड़ लिये और रोते-रोते कहने लगे—'महाराज मैंने अज्ञान के वशीभूत होकर जो आप को कठोर वचन कहे हैं, उन्हें आप क्षमा करें। मैं आपका सेवक, आज्ञाकारी, भृत्य और दास हूँ। मैं आपकी अप्रसन्नता को कभी सहन नहीं कर सकता। धर्म की रक्षा के लिये मैंने आपसे न कहने योग्य कठोरवचन कहे हैं, उन्हें आप भूल जायँ। राजन्! अब मैं कर्ण को बिना मारे आपको मुँह न दिखाऊँगा। आप मुझ पर प्रसन्न हूजिये और विजय के लिये आशीर्वाद दीजिये।'

सर्व-समर्थ मधुसूदन ने धर्मराज से कहा—'महाराज, अर्जुन आपके पुत्र के समान हैं। वे रो रो कर अपने अपराधों की क्षमा माँग रहे हैं। आप प्रसन्न होकर उन्हें क्षमा कर दें और आशीर्वाद दें। वे कर्ण को जीत कर तब आपके दर्शन करेंगे। हम दोनों आपके अधीन हैं; हम दोनों प्रतिज्ञा करते हैं कर्ण बस आज मरा ही हुआ है। उसे आप मृतक ही समझें। जिसके जीवन को आप नहीं चाहते, वह पृथ्वी पर जीवित रह ही कैसे सकता है?'

इतना सुनकर धर्मराज ने कहा—'वासुदेव! आप जगदीश्वर हैं। आपने आज हम दोनों भाइयों को धर्म का मर्म समझा कर एक भयङ्कर अधर्म कर्म से बचा लिया। नहीं आज हम दोनों यहीं मर जाते और महाभारत आज ही समाप्त हो जाता। अब मेरा अर्जुन के ऊपर का क्रोध जाता रहा। अब मैं आशीर्वाद देता हूँ कि युद्ध में अर्जुन की विजय हो।' श्रीकृष्ण से ऐसा कहकर धर्मराज ने अर्जुन से कहा—'मेरे प्राण प्यारे बन्धु! आओ। मैं तुम्हें अपने हृदय से लगा लूँ। मैंने तुम्हें बहुत क्लेश पहुँचाया। सचमुच मैंने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया। उस समय कर्ण के द्वारा अपमानित होने से मेरी बुद्धि

भ्रष्ट हो गई थी। हमारे एकमात्र अवलंब तुम्हीं हो। तुम्हारे ही बाहुबल से हम विजयी हो सकेंगे। तुमने ही हमें बड़े-बड़े सङ्कटों से उबारा है। भगवान् मधुसूदन तुम्हारा भला करें। जिनके वासुदेव सारथी हैं, उनकी पराजय हो ही नहीं सकती। तुम निश्चय ही कर्ण को मारकर विजय लाभ करोगे। 'आओ, मैं तुम्हें अपनी छाती से चिपटाकर, अपने इस आवेग को कम करूँ।'

यह कहते-कहते धर्मराज ने अर्जुन को अपनी छाती से चिपटा लिया। अर्जुन अबोध शिशुकी तरह धर्मराज की छाती से चिपटे हुए आँसू बहा रहे थे। दोनों भाइयों के इस प्रेम मिलन को देखकर मधुसूदन मन ही मन मगन हो रहे थे। काम क्रोध क्षणभर में मनुष्यको अपने से पराया कर सकता है और प्रेम पल भर में परायों को आत्मीय बना सकता है। क्रोध ही नाश है, प्रेम ही सुख है। क्रोध में पास रहने पर भी मनुष्य दूर होजाता है, प्रेम में दूर होने पर भी सदा पास ही रहता है। प्रेम का बन्धन न होता, स्नेह की रज्जु में जगत न बंधा होता तो इस संसार में सुख का लेश भी न रहता। यह रौरव नरक से भी गया बीता बन जाता। प्रेम ही बिछुड़ों को मिला देता है, भूले भटकों को राह पर लगा देता है, अपने से अपनों को मिला देता है और इस राग द्वेष पूर्ण संसारको स्वर्ग बना देता है। जिस संसार में मनुष्य मनुष्यको निगलने को तैयार रहता है, जिसमें स्वार्थ के बिना कोई किसी से बातें नहीं करता, इन्द्रिय सुख के लिये पुरुष सब तरह के अनर्थ करता है, सगे सम्बन्धियों का जहाँ विश्वास नहीं; उस संसार में प्रेम ही एक ऐसी वस्तु है जो समस्त अनर्थों का नाश करके मनुष्य को पशु से उठाकर देवताओं से भी ऊँचा बना देता है। ऐसा प्रेम जिसका

किसी में भी हो गया है उस प्रेमी और प्रेमास्पद के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

दोनों भाई स्वस्थ हुए। अर्जुन ने प्रतिज्ञा की कि मैं आज कर्ण को अवश्य मारूंगा। धर्मराज ने अपने छोटे भाई को आशीर्वाद दिया। सारथी रथ जोत कर लाया। वासुदेव और अर्जुन ने धर्मराज की प्रदक्षिणा की; भगवान ने घोड़ों की रास पकड़ी। अर्जुन रथ पर सवार हुए। उन्होंने धर्मराज को फिर से प्रणाम करते हुए कहा—'महाराज कर्ण सूर्यास्त तक अवश्य मारा जायगा।' देवकीनन्दन भगवान वासुदेव ने अर्जुन की बात का अनुमोदन किया। जिसकी मृत्यु के लिये भगवान वासुदेव अनुमोदन करते हैं, फिर संसार में ऐसी कौन सी शक्ति है, जो उसे बचा सके?



कर्ण वध के लिए श्रीकृष्ण का अर्जुन को उत्साहित करना

सर्वयोधगुणैर्युक्तो मित्राणामभयंकरः ।
सततं पांडव द्वेषी धार्तराष्ट्रहितेरतः ॥
सर्वैरवध्यो राधेयो देवैरपिसवासवैः ।
ऋते त्वामितिमेबुद्धिस्तदद्यजहिसूतजम् ॥*

(कर्ण० प० ७३।३१।३२)

मनुष्य हमेशा आवेश में आकर बड़े-बड़े काम कर डालता है। यदि मनुष्य को प्रोत्साहन न मिले, यदि उनके शुभ कार्यों की प्रशंसा न हो, यदि लोग उनके शुभ कामों की सराहना न करें तो मनुष्य कुछ कर ही नहीं सकता। प्रोत्साहन से मनुष्य को बड़ी शक्ति प्राप्त होती है। मनुष्य के गुणों का, उसके किये हुए शुभ कर्मों का स्मरण दिलाया जाय तो हृदय में एक प्रकार की स्फूर्ति पैदा हो जाती है। डरे हुए आदमी को भी साहस होता है। चोरों के पीछे भागने वाले पुरुष की जब हिम्मत छूट जाती है और चोरों के प्रहार से वह भयभीत होने लगता है तब यदि कोई पीछे से झूठ-मूठ भी यह कह दे 'घबड़ाने की कोई बात नहीं, हम

---

* भगवान ने अर्जुन को उत्साहित करते हुए कहा—'हे पार्थ! कर्ण योद्धाओं के सभी गुणों से युक्त है। अपने मित्रों को सुखी करने वाला है। वह पांडवों से सदा द्वेष करता है और कौरवों के हित में सदा लगा रहता है। उसे कोई भी मार नहीं सकता। समस्त देवताओं के सहित इन्द्र भी उसे मारने में समर्थ नहीं है। हाँ, (मेरी कृपा से) तुम उसे मार सकते हो; इसलिये उस सूत-पुत्र को मार डालो।'

आ रहे हैं' तो उसका उत्साह और बढ़ जाता है। प्रोत्साहन ही कार्य कराने का मन्त्र है, विजय का जादू है। इसलिये जनता का और बड़े लोगों का प्रोत्साहन प्रत्येक कार्य में अनिवार्य समझा जाता है।

कर्ण जैसे बली थे, वैसा उनके भाग्य ने साथ नहीं दिया। भीष्म, द्रोण, युधिष्ठिर, अर्जुन और यहाँ तक कि भगवान वासुदेव के मुख से भी हम बार-बार यही सुनते हैं कि कर्ण के बराबर वीर त्रैलोक्य में कोई नहीं। यह श्लोक महाभारत में और विशेषकर कर्ण पर्व में अनेकों बार आया है कि 'सब देवताओं के सहित इन्द्र भी महा धनुर्धारी कर्ण को परास्त नहीं कर सकते। मनुष्यों की तो बात ही क्या है।' इतना सब होने पर भी उन्हें सारथी ऐसा निकम्मा मिला कि बिना बात, समय हो या असमय हो उन्हें गाली ही देता रहता था। जिस सारथी को रथी के सङ्केत से काम करना चाहिये, वह उन्हें सदा खरी-खोटी ही सुनाता रहता। उनकी निन्दा करके और अर्जुन की प्रशंसा करके सदा उन्हें उत्साह हीन बनाने की ही चेष्टा करता रहता। इधर भगवान वासुदेव तो नीति के समुद्र ही थे। वे विजय के कारणों को रत्ती-रत्ती भर जानते थे। किस समय कौन सी बात कहने से मेरे रथी पर कैसा प्रभाव पड़ेगा। इस समय यह बात कहनी चाहिये या नहीं; इसका मर्म तो वासुदेव ही जानते थे।

महाराज युधिष्ठिर से आज्ञा लेकर अर्जुन कर्ण से युद्ध करने चले। कर्ण की वीरता, उनकी हस्तलाघवता, शस्त्र कुशलता का स्मरण करते-करते अर्जुन का चेहरा उदास हो गया। वे बार-बार सोचते—'इतना बड़ा वीर कर्ण कैसे जीता जायगा? वह न जीता गया तो धर्मराज को मैं क्या मुँह दिखाऊँगा।

कर्ण बड़ा बली है। उसने अपने बाहुबल से समस्त क्षत्रियों को हटा-कर दिग्विजय की है। जरासंध को हराया है। उसे मैं कैसे जीत सकता हूँ ?' कर्ण की वीरता का स्मरण करके अर्जुन के रोंगटे खड़े हो गये। उसके शरीर से पसीना बहने लगा। सब अङ्ग शिथिल हो गये और गांडीव धनुष भी खिसकने लगा। सर्वज्ञ मधुसूदन उसके भाव को ताड़ गये। घोड़ों को धीरे करके बोले–'अर्जुन तुम क्या सोच रहे हो ? तुम्हें स्मरण नहीं कि अभी चलकर तुम्हें महाधनुर्धर कर्ण से युद्ध करना है ? कर्ण को तुम साधारण वीर मत समझो। वह महाबलवान है। हमारी सेना में तुम्हें छोड़कर और कोई उसका सामना नहीं कर सकता। तुम भी बड़ी सावधानी से लड़ो, तब उसके सम्मुख रण में ठहर सकते हो। मैं कर्ण को तुमसे अधिक बली मानता हूं। वह संग्राम में समस्त लोक पालों को जीत सकता है। वह अभिमानी शूर वीर और दुर्योधन का भक्त है। दुर्योधन को एकमात्र उसी का भरोसा है। उसके मरते ही, दुर्योधन का सब उत्साह भंग हो जायगा। फिर वह युद्ध न करेगा। इसलिये तुमको स्वस्थ होकर बड़ी सावधानी से एकाग्रचित्त होकर कर्ण से लड़ने को तैयार हो जाना चाहिये। कर्ण ही दुर्योधन के बाहिरी प्राण हैं।'

भगवान ने देखा अर्जुन कुछ और भी भयभीत से दिखाई देने लगे। तब उन्होंने अर्जुन की प्रशंसा आरंभ की। अर्जुन के पुराने पौरुष और उत्तम कार्यों का स्मरण कराते हुए कहने लगे—'यह ठीक है कि कर्ण बली है, किन्तु तुम चाहो तो उसे मार सकते हो। हमारी सेना में एक तुमही ऐसे हो, जो कर्ण को मारने में, परास्त करने में समर्थ हो। तुम भी कोई साधा-रण वीर थोड़े ही हो। तुमने अपने बाहुबल से समस्त क्षत्रिय राजाओं को परास्त किया। पितामह भीष्म को परशुरामजी

भी परास्त नहीं कर सके जिन्होंने सहस्रबाहु अर्जुन को मार डाला, २१ बार पृथ्वी के समस्त क्षत्रियों का संहार कर डाला, उन परशुराम जी को भी युद्ध में प्रसन्न करने वाले भीष्म का तुमने १० दिन बड़ी बहादुरी से सामना किया और अंत में मार गिराया। द्रोणाचार्य के बाणों को रोकने की सामर्थ्य संसार में तुम्हारे सिवाय और किस में है? युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में समस्त राजाओं ने तुम्हारे बाहुबल का लोहा मान लिया था। भीष्म, द्रोण को युद्ध में सन्तुष्ट करने वाले अर्जुन के लिये यह सूत-पुत्र चीज़ ही क्या है? तुम यदि सावधानी से लड़ो, तो उसे बात की बात में मार सकते हो। उसके पापों का मजा चखा सकते हो।

वासुदेव के मुख से अपनी प्रशंसा सुन कर अर्जुन के अंग फड़कने लगे। उनके चेहरे का रंग बदल गया। मुख-मंडल पर वीरता के भाव झलकने लगे। जब भगवान् मधुसूदन ने देखा मेरा प्रयोजन सिद्ध हुआ, अर्जुन के ऊपर मेरे वचनों का गहरा प्रभाव पड़ा, तब अर्जुन को उत्साहित करने और कर्ण वध के लिये उत्तेजित करने के निमित्त वे कर्ण की निंदा करने लगे।

भगवान ने कहा—'अर्जुन! कौरव सेना में हत्या की जड़ कर्ण ही है। इस महाभारत का मूल कारण तुम इस सूत-पुत्र को ही जानो। इसी की प्रेरणा से इसी के बल भरोसे पर दुर्योधन युद्ध कर रहा है। दुर्योधन को यदि कर्ण का सहारा न मिलता तो वह सिर भी ऊपर न उठा सकता था। तुम्हारे ऊपर अन्याय और अनर्थ करने की तो उसकी हिम्मत होती ही नहीं। दुर्योधन ने अपने किये का फल भोग लिया। उसकी प्रायः सभी सेना समाप्त हो चुकी। उसकी ओर अब लड़ने को रहा ही कौन है? बड़े-बड़े सभी महारथी, जिनकी पितामह भीष्म ने

प्रशंसा की थी; जिन्हें अतिरथी और महारथी कहा था वे सब तो मारे ही गये। अब केवल ५ ही महारथी शेष रहे हैं। कर्ण, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कृतवर्मा और शल्य। इन पाँचों को और मार डालो, बस समस्त पृथ्वी पर धर्मराज का अधिकार हो जायगा। इन पाँचों में भी कर्ण का मार देना अत्यावश्यक है। गुरु का पुत्र समझ कर तुम अश्वत्थामा को छोड़ना चाहो तो छोड़ भी सकते हो। यह समझो की शल्य हमारे मामा हैं, तो उन्हें मत मारना। उनके बिना मारे कोई काम अटका न रहेगा। कृपाचार्य गुरु हैं। उन्हें मारो तो तैसा, न मारो तो तैसा। कृतवर्मा कुन्ती के वंशज हैं इस नाते उन्हें तुम छोड़ना चाहो तो छोड़ देना। किन्तु इस अधिरथ के पुत्र पर दया करना कभी भी उचित नहीं। इसे यदि तुमने न मारा तो सब किया कराया चौपट ही हो जायगा। जब तक यह जीवित है, तब तक दुर्योधन की कभी पराजय नहीं हो सकती। यह सूतपुत्र ही तुम्हें क्लेश देने में प्रधान कारण है। तुम स्मरण करो, परीक्षा के दिन रंगभूमि में सबके सामने इस सूतपुत्र ने ही तुम्हारा अपमान किया था। लक्षागृह में जला डालने की सलाह दुर्योधन को इसी दुष्ट ने दी थी। जुए का खेल इसी नीच की सलाह से हुआ था। द्रौपदी को दासी और व्यभिचारिणी इसी ने बताया था। दुर्योधन इसी की सम्मति से तुम्हें चिढ़ाने के लिये बन में गया था। इसी ने मुझे पकड़ कर क़ैद करने की सम्मति दुर्योधन को दी थी, जब मैं संधि दूत बनकर गया था। इसी के कहने से दुर्योधन ने धर्मराज को ५ गाँव भी नहीं दिये थे। इसी की दुर्मन्त्रणा से मेरा भानजा और तुम्हारा प्रिय पुत्र अभिमन्यु मारा गया था। इसी दुष्ट ने उसके धनुष को काट डाला और अन्य ५ महारथियों ने मिल कर उस अकेले बालक

को बुरी तरह से मार दिया। मैं सब कुछ भूल सकता हूँ, द्रौपदी के अपमान को भी क्षमा कर सकता हूँ, किन्तु अभिमन्यु के अन्याय पूर्वक वध को कभी क्षमा नहीं कर सकता। वह घटना मुझे रात्रि दिन कष्ट देती रहती है। इस नीच ने हमारी कितनी सेना का संहार कर डाला है। 'हमारे प्रधान-प्रधान वीरों को इसने मार डाला। धर्मराज को अपमानित किया फिर भी यह दुष्ट जीता है। यह सदा तुम्हें मारने की बात सोचता रहता है। धृतराष्ट्र के सब पुत्रों को विश्वास है कि यह मुझे और तुम्हें युद्ध में अवश्य ही मार डालेगा। तुम कौरवों के इस विश्वास को मेट दो। उन्हें दिखा दो अर्जुन वीर है। अर्जुन के सामने कर्ण पतङ्गे के समान है। वह अर्जुन के लपट से ही जलकर भस्म हो जायगा। आज संसार देखे कि कर्ण में और अर्जुन में अर्जुन ही वीर है, कौरव आज कर्ण को औंधे मुख जमीन पर पड़ा हुआ देखें। आज संसार देख ले कर्ण नाम का ही वीर था। काम का वीर तो पांडु पुत्र कुन्ती-नन्दन सव्य-साची अर्जुन ही है। आज तुम मेरा रथ कौशल देखना। आज तुम देखोगे कि कर्ण को मैं कैसा धोखा देता हूँ। शल्य मेरे सामने क्या रथ चला सकता है? कर्ण आज अपने को मरा हुआ समझेगा। कर्ण को मार कर तुम उसके सिर पर पैर रखो। उसे आज यमपुर पहुँचा दो। उसका बोलना और बड़बड़ाना बन्द कर दो। उसके मुँह को मोड़ दो, धनुष को तोड़ दो, पेट को फोड़ दो। आज तुम अपना पूरा पराक्रम दिखाओ। तुम निश्चय समझो विजय तुम्हारी ही होगी।'

भगवान वासुदेव के ये उत्साहपूर्ण वचन सुन कर अर्जुन के रोम रोम खिल उठे। वह वीर बड़े जोरों से गर्जन करने लगा। वह मूर्तिमान वीर रस की तरह दिखाई देने लगा। उसका

मुख मंडल दमकने लगा। उसने प्रसन्नता के आवेश में कहा— 'मधुसूदन ! आप आज दुष्ट कर्ण को मरा हुआ ही समझें। आपके आशर्वाद से मैं निश्चय ही कर्ण को मार डालूँगा सचमुच कर्ण ही हमारे दुःखों का मूल कारण है। यह भरी सभा में सबके सामने गर्व से कहता था–'मैं अर्जुन को मारूँगा।' आज मैं समर में उसके गर्व को चूर्ण करूँगा। इस दुरात्मा ने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक मैं अर्जुन को मार न लूँगा तब तक किसी से पैर न धुलाऊँगा। आज मैं उसकी इस प्रतिज्ञा को तोड़ूंगा। यह बड़बड़ाता रहता था कि मैं समस्त वीरों का नाश कर दूँगा। आज मैं अपने बाणों से उसकी बोलती बन्द कर दूँगा। वह अपने बाहुओं को बार बार ठोक कर कहता था —'इन बहुओं के भरोसे मैं सब को परास्त करूँगा।' उन्हीं बड़ी बड़ी साखू के समान उसकी दोनों भुजाओं को मैं काटूँगा। वासुदेव ! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ आपकी मेरे ऊपर इसी तरह कृपा बनी रही तो मैं आज कर्ण को अवश्य ही परास्त करूँगा। आप मेरे रथ को अब कर्ण के समीप ले चलिये। अब विलंब करने का काम नहीं। अब तो संसार में या तो कर्ण ही रहेगा या मैं ही रहूंगा। आपके आशीर्वाद से मैं ही रहूँगा। कर्ण तो मारा ही जायगा। उसके शरीर को गिद्ध नोंचेंगे, गीदड़ उसकी लोथ को घसीटेंगे। वह मरकर पृथ्वी पर पड़ा हुआ अपने पुराने पापों को स्मरण करके यमपुर सिधारेगा।'

अर्जुन के ऐसे वीरतापूर्ण वचन सुन कर भगवान वासुदेव ने उनका अभिनंदन किया और बोले—'हे कुंती नंदन ! ऐसा ही होगा। हे पांडव ! तुम अवश्य ही विजयी होगे। लो, अब यह सामने भयंकर युद्धभूमि आ गई। वह सामने ही कर्ण का विशाल रथ दिखाई देरहा है। तुम्हारे मामा शल्य उसे

बड़ी फुर्ती से हाँक रहे हैं। मेरे वीर होशियार हो जाओ ! हाँ जाने तो मत पाए ! शाबाश. वीरवर अवश्य ही तुम जीतोगे क्योंकि तुम्हारे रथ पर मैं हूँ। मैं जिसके रथ पर बैठ जाता हूँ, उसकी पराजय कभी नहीं होती।

किन्तु हे कृष्ण ! मैं कहता हूँ जो तुम्हारे सामने मरता है उसकी भी कभी पराजय नहीं होती। समझे सरकार। पार्थ के सारथी. किस धोखे में हो ?



कर्ण और अर्जुन की मुठभेड़

नशिश्ये वा निहतस्ताभ्यामनित्यो हिरणीजयः।
कृतार्थोऽथ भविष्या म ह्त्वा वाप्ययवाहतः ॥*

मनुष्य अपने भ्रम से अज्ञातवश शुभ-अशुभ की कल्पना कर लेता है। सम्पूर्ण जगत में वे ही श्रीहरि क्रीड़ा कर रहे हैं। वे ही चराचर जगत का संचालन कर रहे हैं। उनकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता। एक नन्हा-सा बीज भी नहीं उग सकता। जो लोग इस संसार में अपनी अलग इच्छा की पूर्ति चाहते हैं, वे ही दुखी होते हैं और जो अपनी इच्छा को श्रीहरि की इच्छा में मिला देते हैं, उन्हें न किसी घटना से दुःख होता है, न सुख। वे प्रत्येक बात में प्रसन्न रहते हैं। जिनका नाम शिव है, वे अशिव कार्य कैसे कर सकते हैं? जो मंगल भवन है, उनके द्वारा असंगल की कल्पना की ही कैसे जा सकती है? जो आनंद स्वरूप हैं, उनकी क्रीड़ा निरानंद हो ही नहीं सकती। इसलिये सुख-दुख और लाभ-हानि में सन्तुष्ट रहना ही सच्चे वीरों का काम है। बस, सामने से मनमोहन की मनमोहिनी मनोहर मूर्ति लोप न होने पाये। उनका पुनीत

---

* कर्ण ने कहा—"शल्य, आज या तो मैं श्रीकृष्ण अर्जुन के हाथ से स्वयं मारा जाऊँगा या उन्हें ही मार डालूँगा। उन्हें मार कर मुझे अनन्त यश मिलेगा और उनके हाथ से मरने पर मुझे मुक्ति मिलेगी। मैं तो दोनों तरह से कृतार्थ हो जाऊँगा। मेरे तो दोनों ही हाथों में लड्डू है।"

पावन नाम विस्मरण न होने पावे फिर चाहे पूजास्थल हो या यज्ञस्थल, दोनों समान हैं, दोनों ही मङ्गलमय के मङ्गलकार्य हैं।

अपने बड़े भाई धर्मराज से प्रतिज्ञा करके अर्जुन कर्ण का वध करने के निमित्त पूरे उत्साह से चले। उधर कौरव सेना और पांडवों की सेना में घमासान युद्ध हो रहा था। दोनों ओर के वीर अपने विपक्षियों को परास्त करने के लिये प्राणपन से प्रयत्न कर रहे थे। पांडव सेना के वीरों ने दुर्योधन को बुरी तरह से तंग किया। सभी ने मिलकर दुर्योधन पर साथ ही प्रहार किया। सबका संयुक्त प्रहार न सह सकने के कारण दुर्योधन युद्ध-भूमि से हटने लगे। पांचाल और पांडव वीर कौरव सेना को खदेड़ने लगे। अपनी सेना को इस तरह भागते हुए देखकर सेनापति कर्ण अत्यन्त क्रुद्ध हुए। उन्होंने शल्य से कहा—मद्र-राज! मेरे रथ को पांचाल वीरों के सामने ले चलो। ये लोग मेरे सैनिकों को बुरी तरह भगा रहे हैं। आज मैं इन्हें मजा चखाऊँगा।'

शल्य ने कहा—'महाभाग कर्ण! तुम्हारा कल्याण हो। मैं अभी आपको धृष्टद्युम्न, नकुल, सहदेव, भीम, द्रौपदी के पाँचों पुत्रों के सामने पहुँचाता हूँ; जो आपकी सेना का संहार कर रहे हैं', यह कहकर शल्य ने बड़े कौशल से रथ हाँका और क्षण भर में वे पांडव सेना के प्रमुख वीरों के सम्मुख पहुँच गये। कर्ण वीर थे। कृपाचार्य, अश्वत्थामा और कृतवर्मा अपने सहायक सैनिकों के साथ उनकी सहायता कर रहे थे। उनके तीनों पुत्र सुषेण, सत्यसेन और वृषसेन उनके रथ के दायें-बायें और पृष्ठ भाग की रक्षा कर रहे थे। कर्ण ने ऐसा घमासान युद्ध किया कि पांडव सेना के छक्के छुड़ा दिये। पांडवों ने विजय की आशा छोड़ दी और सर्वत्र हाहाकार मच गया।

अर्जुन ने कहा—'वासुदेव ! मेरी सेना को सूतपुत्र कर्ण बहुत ही पीड़ित कर रहा है। प्रभो ! आप मेरे रथ को आज उस महावीर कर्ण के रथ के पास ले चलिये। आज या तो मैं ही उसे मार डालूँगा या आपके सामने हँसते-हँसते मैं स्वयं ही उसके बाणों से मर कर स्वर्ग को जाऊँगा। आज मैं अवश्य ही सूतपुत्र से युद्ध करूँगा। मेरी सेना भागी जा रही है। कर्ण उसे बुरी तरह खदेड़ रहा है।'

भगवान बोले—'हाँ अब अधिक विलम्ब करने की आवश्यकता नहीं है। दूसरी जगह अपनी शक्ति का व्यय क्यों किया जाय ? चलो, चलें।' आज कर्ण का ही निर्णय हो जाना चाहिये।' यह कहकर वासुदेव ने रथ को बढ़ाया।

चारों ओर घमासान युद्ध हो रहा था। 'मारो, काटो' की गगनभेदी आवाज से सर्वत्र शोर हो रहा था। बाणों की वर्षा से युद्ध-भूमि में अंधकार-सा छाया था। श्रीकृष्ण बड़ी चातुरी से रथ को हाँक रहे थे। कर्ण के समीप पहुँचने को उन्हें बहुत दूर तक युद्ध-भूमि के बीच से ही जाना था। चारों ओर मरे हुए और घायल सैनिकों की लाशें पड़ी हुई थीं। किसी का हाथ कट गया था, किसी का सिर कटा हुआ पड़ा था। कोई घायल ही पड़ा चिल्ला रहा था। किसी का कुंडल सहित कान ही कटा पड़ा हुआ था, कोई वस्त्रहीन उलटा पड़ा था। किसी के शरीर पर वस्त्र लिपटा हुआ था। कहीं दो वीरों की लाश साथ ही पड़ी थी, मानो एक दूसरे का आलिंगन कर रहे हों। कहीं एक के ऊपर एक बहुत से मृतक सैनिक पड़े थे। कभी-कभी तो इतने मृतक सैनिक मिलते कि रथ उनके ऊपर से ले जाना पड़ता। कहीं-कहीं गड्ढों में रक्त भरा हुआ था। रथ उसमें चला जाता तब वासुदेव उतर कर उसके

चक्र को निकालते। उनका आधा पीताम्बर रक्त में सराबोर था। कहीं-कहीं तो रक्त की नदियाँ वह रहीं थीं, जिनमें कटे हुए सैनिकों के सिर कछुए के समान तैर रहे थे। रथ के वेग से रक्त के छींटे उड़-उड़कर घायल और मृतक सैनिकों के ऊपर पड़ रहे थे। रक्त की वहती हुई नदियों के भीतर से भगवान वासुदेव रथ को बड़ी शीघ्रता से ले जा रहे थे। अर्जुन ने कहा—'वासुदेव! बड़ा वीभत्स दृश्य है। कर्ण कहाँ छिप गया?'

भगवान ने कहा—'यही तो रणचंडी का दृश्य है। माँ काली को कभी-कभी प्यास लगती है। उसका पेय रक्त ही है। जब उसे जोर की प्यास लगती है,तभी यह दृश्य उपस्थित होता है। तुम देख रहे हो न? सर्वत्र रक्त-रंजित जगत दीख रहा है। मांस मेदा और रक्त के भोजी सियार, गिद्ध, तथा अन्य मांस भोजी जीव निर्भय होकर विचर रहे हैं। कर्ण वहुत दूर पर युद्ध कर रहा है। अभी तो सामने वह देखो कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा तुम्हें थकाने के लिये चले आ रहे हैं। तुम इनसे उलझ मत जाना। इन्हें मारना तो तुम्हें अभीष्ट है ही नहीं,फिर ये तीनों अमर हैं। इन्हें कोई संग्राम में मार भी नहीं सकता। तुम तो अपनी सम्पूर्ण शक्ति आज कर्ण पर लगा दो।'

अर्जुन ने कहा—'वासुदेव मुझे इन वीरों के बीच से ही ले चलो। ये मेरा कुछ भी न कर सकेंगे।'

भगवान ने कहा—'ऐसा ही होगा।' तब उन्होंने बड़ी फुर्ती से घोड़ों को बढ़ाया। दोनों पक्ष के सैनिक प्राणों की वाजी लगा कर युद्ध कर रहे थे। सभी के वस्त्र मुकुट रक्त से भीगे हुए थे। सभी के शरीरों से रक्त की धारायें वह रही थीं। बहुतों के शरीर में तो वाण घुसे हुए थे और उनसे निरन्तर खून वह रहा था। वे चलते फिरते टेशू के से फूल दिखाई देते थे। अर्जुन ने रास्ते

में किसी योद्धा से युद्ध नहीं किया। वह अपनी आत्मरक्षा करता हुआ कर्ण की ओर ही बढ़ रहा था। सामने से उसे कर्ण के रथ की ध्वजा दिखाई दी। उसकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा।

कर्ण युद्ध में बेसुध थे। आज वे मूर्तिमान् यमराज बने हुए थे। जो भी उनके सामने आता या तो यमपुर को सिधार जाता या प्राण लेकर युद्धभूमि से भाग जाता। उसके सम्मुख ठहरने की किसी की सामर्थ्य नहीं थी। तब चिल्लाकर शल्य ने कहा–'महावीर कर्ण ! वह देखो, जिन्हें तुम खोज रहे थे; उन्हीं अर्जुन के रथ की ध्वजा दिखाई दे रही है।'

फुर्ती से बाण छोड़ते हुए कर्ण ने पूछा—'कहाँ है ?'

शल्य ने कहा—'सामने देखते नहीं हो ? बड़ी तेजी से सुवर्ण-मंडित श्वेत घोड़े से युक्त, वानर ध्वजा वाला रथ तुम्हारी ओर बढ़ा आ रहा है। भगवान वासुदेव उसे कैसे कौशल से चला रहे हैं। ध्वजा पर बैठा कपि कितने जोर से दहाड़ मार रहा है। अभी अर्जुन दिखाई नहीं देते, उनकी ध्वजा दीख रही है। उधर ही चलूँ न ?'

कर्ण ने कहा—'पहिले इन पांचालों को समाप्त कर लूँ, तब निश्चिन्त होकर उधर चलूँगा।'

शल्य ने कहा—'सूत-पुत्र ! तुम समझते नहीं। अर्जुन का सामना तुम्हारे सिवाय कोई नहीं कर सकता। तुम्हारी ओर के समस्त रथी, महारथी, अतिरथी अर्जुन की सूरत को ही देखकर भाग जायेंगे। पहिले तुम इसी से भिड़ जाओ। अर्जुन को तुमने जीत लिया, तो मानों पृथ्वी को विजय कर लिया। वह देखो, श्रीकृष्ण और अर्जुन अब स्पष्ट दिखाई देने लगे; तुम्हारे सामने आ ही गये।'

कर्ण ने कहा—'आज मेरा अहोभाग्य! श्रीकृष्ण के सम्मुख में अर्जुन से युद्ध करुँगा और अपनी बहुत दिनों की इच्छा को पूर्ण करूँगा।'

शल्य ने कहा—'राजन्! तुम्हारा कल्याण हो। अर्जुन का सामना तुम्हारे सिवाय संसार में कोई नहीं कर सकता। तुम्हीं उसे युद्ध में सन्तुष्ट कर सकते हो।'

कर्ण का चेहरा प्रसन्नता से दमकने लगा। उसने अत्यंत ही उल्लास के साथ कहा—'महाभाग शल्य! अब तुम्हारे होश हवाश ठीक हुए। अब तुम्हारे मन से अर्जुन का भय जाता रहा। तुम जैसा कहते हो आज मैं युद्ध में अवश्य ही अर्जुन को मारूँगा। तुम आज मेरी वीरता देखना।'

शल्य ने कहा—'अर्जुन बड़े वीर हैं और वासुदेव उनकी रक्षा कर रहे हैं। तुम अर्जुन को जीत नहीं सकते। संसार में वासुदेव से रक्षित पार्थ—अर्जुन अजेय हैं।'

कर्ण ने कहा—'मामा! यह तो मैं भी जानता हूँ। जिसके रक्षक श्री हरि हैं, उसे रणमें कौन परास्त कर सकता है? जिन वासुदेव की भ्रकुटि-विलास से यह सृष्टि पल भर में उत्पन्न होती और विलीन हो जाती है, उन्हें कौन जीत सकता है? जो विभु हैं, अजेय हैं, अनादि, अनन्त, अजन्मा और अविनाशी हैं उन्हें कौन परास्त कर सकता है? फिर भी तुम मेरा उत्साह तो देखो। मैं उन्हें युद्ध के लिए ललकार रहा हूँ। मेरे लिए क्या यही कम गौरव की बात है? आज मैं पूरी शक्ति लगाकर अर्जुन से लड़ूँगा।'

शल्यने कहा—'अर्जुन बड़े वीर हैं। श्रीकृष्ण उनके बाहिरी प्राण हैं। श्रीकृष्ण उनको प्राणों से भी अधिक प्यार करते हैं। उनसे युद्ध करके तुम पार न पा सकोगे।'

कर्ण ने कहा--'यह तुम्हारा भ्रम है। मेरे मन में बड़ा उत्साह हो रहा है। मैं अवश्य ही अर्जुन को मारूँगा। मान लो उसने ही मुझे मार दिया, तो यही मेरे लिए क्या कम है। श्रीकृष्ण से रक्षित अर्जुन के हाथ से मारे जाने पर मेरी निंदा न होगी, मेरी प्रशंसा ही होगी। आज मैं प्राणों की बाजी लगा दूँगा। या तो विजय करके लौटूँगा या मेरे रथ को तुम खाली ही दुर्योधन के पास ले जाना। मेरी मृत्यु के बाद कौरव-दल में लड़ने वाला है ही कौन? युद्ध का आज सत्रहवाँ दिन है। बस, आज इसकी समाप्ति ही समझो। मैं मारा गया तो धर्मराज इस पृथ्वी के सम्राट् होंगे और अर्जुन मारा गया तो दुर्योधन पहले की भाँति इसका उपभोग करेगा। आज युद्ध का अन्तिम निर्णय हो जायगा।'

शल्य और कर्ण की ये बातें हो ही रही थीं कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन के रथ को सामने लाकर कर्ण के रथ के सम्मुख खड़ा कर दिया। दोनों वीरों को आमने-सामने देखकर त्रैलोक्य के प्राणी काँप उठे। दोनों ओर के वीर तमाशा देखने के लिये कर्ण और अर्जुन की ओर आ खड़े हुए। आकाश में देवताओं के असंख्य विमान शोभा दे रहे थे। यह एक अपूर्व घटना होने वाली थी। यह सगे दो भाइयों का अलौकिक युद्ध था। महाभारत में दोनों की शोभा का बड़ा ही सुन्दर अपूर्व जीता जागता चित्र वर्णन किया है। भगवान व्यासदेव ने दोनों के चरित्र-चित्रण और शोभा वर्णन में अपना पूरा पांडित्य प्रदर्शित किया है। आमने-सामने खड़े हुए दोनों वीर बड़े ही सुन्दर प्रतीत होते थे।

बालकों की परीक्षा वाली रंगभूमि में जो दृश्य उपस्थित हुआ था, वही दृश्य आज यहाँ कुरुक्षेत्र के रंगभूमि में उपस्थित हुआ।

पृथ्वी पर कर्ण और अर्जुन खड़े थे। आकाश में उन दोनों के पिता सूर्य और इन्द्र विराजमान थे। दोनों ही अपने-अपने पुत्रों की विजय के लिये मनोकामना कर रहे थे। कर्ण और अर्जुन दोनों ही समान बलशाली थे। सगे भाई ही थे। रंग, रूप, आकार, प्रकार और बल वीर्य में वे समान थे। दोनों के घोड़े सफ़ेद थे। दोनों के रथ सुवर्ण मंडित थे। दोनों एक दूसरे को मारने के लिये उद्यत थे। दोनों देव पुत्र थे। दोनों के कवच और रथ सुवर्ण मंडित थे। दोनों छत्र, चँवर, किरीट कुंडल और राज-चिन्हों से शोभित थे। एक के सारथी शल्य थे। दूसरे के शौरि। एक सूर्य-पुत्र थे, दूसरे इन्द्रपुत्र। दोनों की माता कुन्ती थीं। दोनों ही अपने-अपने पक्ष के प्राण थे। दोनों में अपार बल था। दोनों ने ही दिव्यास्त्रों की शिक्षा पाई थी। कर्ण ने अर्जुन को आँख भर के देखा और शल्य से श्रीकृष्ण ने दृष्टि मिलाई। एक बार श्रीकृष्ण की जिस पर तिरछी दृष्टि पड़ जाय फिर वह संसार के काम का नहीं रहता। संसार से पार हो जाता है।



कर्ण की वीरता

न नागकर्णोऽधरणो परस्य बलं समास्थाय जयं बुभूषेत् ।
न सन्दध्यां द्विःशरं चैव नाग यद्यर्जुनानां शतमेव हन्याम् ॥*

(कर्ण० प० ९० । ४७)

द्वैत में ही जगत है। परस्पर सम्मिलन में ही सुख है। संयोग ही आनन्द का उत्पात है। एक मन के, एक स्वभाव के, एक इच्छाओं वाले जब दो मिल जाते हैं; तभी सुख का स्रोत, आनन्द का सागर उमड़ने लगता है। अद्वैत में निर्गुणता है। रसास्वादन, सुखानुभव तो दो में ही है। तभी तो अनीह, आत्माराम भगवान भी एक से बहुत होते हैं। रमण करने की इच्छा से, क्रीडा करने की इच्छा से जगत की सृष्टि करते हैं। वे स्वयं आनन्दमय हैं, अतः उनकी क्रीडास्थली भी आनन्ददायिनी है। जो जगत को निरानन्द और दुखमय बताते हैं, वे इसे सत्य समझते हैं। वास्तव में तो यह प्रभु का विनोद है, उनकी लीला है। विनोद तो मन बहलाव के लिये होता है।

---

*जब अश्वसेन नाग ने कहा तुम मुझे बाण पर चढ़ाकर छोड़ो, मैं अर्जुन को अभी मार सकता हूँ तब कर्ण ने उससे कहा—'हे नाग ! कर्ण युद्ध में दूसरों की सहायता से शत्रु को जीतना नहीं चाहता। मैं अपने बल भरोसे पर लड़ूँगा। मैं एक बार छोड़े हुए बाण को दुबारा धनुष पर नहीं चढ़ाता, चाहे ऐसे सैकड़ों अर्जुन क्यों न मारने हों। मुझे तनिक भी भय नहीं। तुम यहाँ से चले जाओ !'

महावीर कर्ण और धनुर्धार अर्जुन दोनों एक दूसरे के संमुख आये। कर्ण ने कहा—'अर्जुन! मैं बहुत दिनों से तुमसे युद्ध करने के लिये इच्छुक था। आओ, आज तुम मुझसे युद्ध करके या तो स्वर्ग सिधारो या मुझे अपने बाणों से गिरा दो।'

अर्जुन ने कहा—'वीरवर आजाओ, आज हमारा तुम्हारा युद्ध हो।,

बस, फिर क्या था। दोनों वीरों ने मन ही मन भगवान को प्रणाम किया। दोनों के सारथियों ने दोनों को उत्साहित किया। दोनों युद्ध के लिये उद्यत हो गये।

कर्ण ने शल्य से पूछा—'कदाचित मैं रण में मारा गया तो तुम क्या करोगे?'

शल्य ने कहा—'तुम्हारे मरने पर मैं अकेला ही अर्जुन और श्रीकृष्ण को मार डालूँगा। तुम विश्वास रखो।'

कर्ण ने कहा—'धन्यवाद।'

अर्जुन ने भी यही प्रश्न वासुदेव से पूछा—'मेरे पराजित होने पर तुम क्या करोगे नटवर?'

श्यामसुन्दर बोले—'असंभव यदि संभव हो जाय, तो मैं अभी प्रलय कर दूंगा। चराचर को भस्म कर डालूँगा।'

'ऐसा नहीं होगा, मेरे मदनमोहन! मैं महावीर कर्ण को मार ही डालूँगा।' हँसकर अर्जुन ने कहा।

दोनों ओर से युद्ध आरंभ हुआ। कर्ण कब बाण निकालते थे, कब उसे धनुष पर चढ़ाते थे, कब छोड़ते थे और कब दूसरा ग्रहण करते थे, किसी को पता ही नहीं चलता था। जैसे आकाश से प्रलयकालीन गजसुंड के समान वर्षा होती है वैसे ही वे निरंतर बाणों की वर्षा करने लगे। अर्जुन अपने दिव्य बाणों से

उन्हें व्यर्थ करने की चेष्टा करते थे, किन्तु उसमें सफल नहीं होते थे।

भीमसेन ने कहा—'अर्जुन ! तुम्हारा पराक्रम कहाँ गया ? सूत-पुत्र हमारी सेना का संहार कर रहा है।'

अर्जुन कुछ भी न बोले। वे क्रुद्ध सिंह की तरह अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर समर करने लगे। साधारण अस्त्रों से काम न होते देख कर उन्होंने अमोघ ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया और निश्चय कर लिया कि अब कर्ण मारा गया।

यह क्या ? संसार चकित हो गया। आकाश स्थित देवगण विस्मय में मग्न हो गये। कर्ण ने अपने दिव्य बाणों से ब्रह्मास्त्र को भी शांत कर दिया। वह वीर बिना विश्राम लिये बाणों को बरसाता ही रहा।

श्रीकृष्ण ने कहा—'अर्जुन अपने बल का स्मरण करो। सूत-पुत्र तुमसे बढ़ रहा है। कभी व्यर्थ न होने वाले ब्रह्मास्त्र भी इसने व्यर्थ कर दिया है।

'अब क्या हो मधुसूदन !' कुछ घबड़ाते हुए अर्जुन ने अपने सारथी श्यामसुन्दर से कहा।

'फिर से ब्रह्मास्त्र का ही प्रयोग करो। तुम अपने ब्रह्मास्त्रों से इस अधम सूत-पुत्र को आज शरशैया पर सुला दो। आज इसे यमराज के यहाँ पहूँचा दो।'

भगवान वासुदेव यह कह ही रहे थे कि कर्ण ने तान कर १० बाण अर्जुन के सारथी के शरीर में मारे। वे १० बाण वासुदेव के कवच को काटते हुए इधर से उधर निकल गये। वासुदेव व्यथित होकर विचलित हो उठे। कर्ण जोरों से हँस पड़े। अर्जुन के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। अबके अर्जुन ने

क्रोध में भर कर बाणों की वर्षा करनी आरम्भ कर दी। उसने इतने बाण वर्षाये कि आकाश बाणों से ढक गया। देवतागण विमानों से युद्ध को न देख सके। सूर्यनारायण अस्त से प्रतीत होने लगे। सर्वत्र अंधकार छा गया। तीनों लोकों में हाहाकार मच गया। कर्ण अत्यन्त कुपित हुए। उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब मैं एक नाग बाण छोड़ कर अर्जुन का सिर काट ही लूँगा। उनके ऐसे निश्चय से सूर्य देव प्रसन्न हुए। देवराज इन्द्र डर गये। दिशायें गूँजने लगीं, पृथ्वी काँपने लगी। अबके कर्ण ने मंत्र पढ़ कर अपने तूणीर से एक दिव्य चोखा बाण निकाल कर धनुष पर चढ़ाया। वे क्रोध में अंधे हो रहे थे। दाँतों से ओठ चबाते हुए भ्रकुटी ताने हुए गर्दन मोड़ कर सामने देखकर बाण को छोड़ना ही चाहते थे कि शल्य ने देखा बाण उलटा चढ़ा है।

असल में बाण दिव्य नाग बाण तो था ही, उस समय वह सजीव बना हुआ था। जब खांडव वन को अर्जुन जला रहे थे तब नागराज अश्वसेन की माता अपने पुत्र को निगल कर आकाश से उड़ी जा रही थी। अर्जुन ने बाण मार कर उसका सिर काट दिया। वह तो मर गई, किन्तु पेट में से निकल कर अश्वसेन नाग भाग गया। उसी दिन से वह अपने शत्रु अर्जुन को मारने की ताक में घूमा करता था। आज अच्छा अवसर पाकर वह कर्ण की तूणीर में घुस गया। कर्ण ने जिस बाण को अभी धनुष पर चढ़ाया था, उसमें वही अश्वसेन लिपटा हुआ था। वह ऐसा विषधर और अजेय था कि उसका प्रहार किसी तरह व्यर्थ हो ही नहीं सकता था। किन्तु कर्ण ने भूल में जिधर उसकी पूँछ थी उधर ही चढ़ाया। कर्ण को पता भी नहीं था कि अश्वसेन नाग उसमें लिपटा है। नहीं तो वह उसे

कभी छोड़ता ही नहीं। शल्य ने उलटा बाण देख लिया। अतः वह बोला—'कर्ण! बाण उलटा है, फिर से इसे उतार कर सीधा चढ़ा कर छोड़ो।'

आत्माभिमानी कर्ण को यह कब सह्य था। उसने कहा—'शल्य! तुम चुप हो जाओ कर्ण ने जिस बाण को एक बार चढ़ा लिया फिर वह उसे दुबारा नहीं चढ़ाता। उलटा सीधा जैसा चढ़ गया ठीक ही है।'

यह कह कर उसने कानों तक डोरी खींच कर बड़े वेग से बाण को छोड़ा। वह बाण यदि ठीक लक्ष्य से लग जाता तो निश्चय ही अर्जुन के प्राण नहीं बच सकते थे। वह अवश्य ही अर्जुन को मार डालता, किंतु सर्वज्ञ वासुदेव ने अश्वसेन को बाण पर देख लिया। सम्पूर्ण संसार जिनके उदर में है, उन्होंने रथ को तनिक जोरों से दबाया। दबाते ही रथ के पहिये जमीन में धँस गये। घोड़े सधे हुए थे। भगवान के रास हिलाते ही वे घुटनों के बल बैठ गये। कर्ण का लक्ष्य कभी व्यर्थ नहीं होने वाला था। वह जिसे लक्ष्य करके बाण छोड़ता, बाण वहीं लगता। अब देवकीनन्दन ने अपनी बुद्धिमानी से रथ को नीचा कर दिया। इससे वह बाण अर्जुन के सिर में न लग कर उनके दिव्य इन्द्रदत्त मुकुट में लगा और वह मुकुट टुकड़े टुकड़े होकर जमीन पर गिर पड़ा। यह महान् आश्चर्य की बात थी, जो इन्द्र का अभेद्य मुकुट इस तरह टुकड़े टुकड़े होकर गिर जाय।

अश्वसेन नाग ने जब देखा लक्ष्य ठीक निशाने पर नहीं बैठा। श्रीकृष्ण ने चालाकी से रथ को जमीन में धँसा दिया तो वह बाण को छोड़कर क्रोध के साथ फिर कर्ण के समीप पहुँचा। अब के ज्योंही वह कर्ण के तूणीर में घुसना चाहता था, त्योंही

कर्ण ने उसे देख लिया। डाँट कर कर्ण ने पूछा - 'तुम कौन हो ?'

'मैं अश्वसेन नाग हूँ' उसने कहा—

'यहाँ क्यों आये ? क्या करना चाहते हो ?' कर्ण ने पूछा।

नाग ने कहा—'राजन! मेरी माँ को दुष्ट अर्जुन ने खांडव दाह के समय मार दिया था। उसी से बदला लेने के लिये मैं तुम्हारे बाण पर चढ़कर उसे मारने गया था किन्तु श्रीकृष्ण की चालाकी से मैं उसके मुकुट को ही तोड़ सका। अब के तुम मुझे फिर से बाण पर चढ़ाओ। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब के मैं अर्जुन का अवश्य ही सिर काट लूँगा। मेरा प्रहार अमोघ है। अबके संसार में अर्जुन को कोई बचा न सके गा। आप निश्चय समझें इसी बाण से अर्जुन मारा जायगा। देवराज इन्द्र, समस्त लोकपाल, प्रजापति ब्रह्मा भी रक्षा करना चाहें तो अर्जुन अबके बच नहीं सकता। बस , एक बार आप मुझे और छोड़ दें।

कर्ण ने गरज कर कहा—'नागराज! तुम ये क्या भूली-भूली बातें करते हो ? असावधानी से तुम मेरे अनजान में मेरे बाण पर बैठकर चले गये। जान बूझ कर मैं ऐसी नीचता कभी न करता। कर्ण किसी के साथ विश्वासघात नहीं करना चाहता। कर्ण को अपने भुजबल का भरोसा है। वह दूसरों के बल पर लड़ना नहीं चाहता। मैं तुम्हारी इस नीच सम्मति को कभी स्वीकार नहीं कर सकता। तुम्हें जहाँ जाना हो चले

जाओ खबरदार ! फिर कभी ऐसी ओछी बात मेरे सामने न कहना।' नागराज यह सुन कर लज्जित हुआ।

धन्य वीर कर्ण ! तुम्हारे वीरता को, तुम्हारी सत्यप्रियता को, तुम्हारे बल को, तुम्हारे आत्म-विश्वास को बार-बार धन्यवाद है। तुम्हारे चरणों में हमारा बार-बार प्रणाम है।



पृथ्वी का कर्ण के रथचक्र को ग्रस लेना

वयं च धर्मं प्रयताम नित्यं चतुं यथाशक्ति यथाश्रुतं च।
सचापि निघ्नाति न पाति भक्तान् मन्ये न नित्यं परिपाति धर्मः ॥*

(कर्ण० प० ९०।८६)

कालवली से कौन वीर वच सकता है ? एक दिन सभी को काल का कवल वनना है। एक दिन सभी इस धराधाम को त्याग कर चले जायँगे। शरीर धारियों का शरीर सदा नहीं रहता। केवल यश अपयश शेष रह जाते हैं। धर्मात्मा सदा धर्म पर अटल रह कर अक्षय कीर्ति लाभ करते हैं और स्वार्थी सदा क्षुद्रस्वार्थों में रत रहकर, विश्व में अपनी अपकीर्ति छोड़ जाते हैं। इस छोटे से जीवन के लिये किसी का अपकार क्यों किया जाय ? इस नश्वर शरीर से विनश्वर कीर्ति क्यों न कमाई जाय ? किन्तु स्वार्थी इसे समझ नहीं सकते, द्वेषी इसका महत्व नहीं जानते। तभी तो धर्माधर्म का विचार न करके वे सदा अपनी स्वार्थ सिद्धि में ही रत रहते हैं।

कर्ण ने जब अश्वसेन को साफ़ जवाब दे दिया। तब वह द्वेष के वशीभूत होकर स्वयं ही अश्व का रूप धारण करके

---

* जब पृथ्वी कर्ण के रथचक्र को निगल गई, तब दुखी होकर कर्ण ने कहा—'शास्त्रों के द्वारा जैसा धर्म का स्वरूप सुना है, उसके अनुसार यथाशक्ति धर्म का आचरण करता हूँ। वह भी मेरी इस समय रक्षा नहीं कर रहा है, उलटा मार ही रहा है। इससे यही प्रतीत होता है कि धर्म भी अपने भक्तों की हमेश रक्षा नहीं करता। वह भी काल के, दैव के अधीन हैं।'

अर्जुन को मारने चला। पापी पाप करते समय यही सोचता है कि उसे कोई देख नहीं रहा है, किन्तु घट-घट व्यापी प्रभु से किसी का कोई काम छिपा नहीं है। अन्तर्यामी प्रभु सब का हाल जानते हैं। आकाश में आते हुए उस नाग को देख कर भगवान वासुदेव ने अर्जुन से कहा—'पार्थ! सामने वह जो चमचमाते हुए टेढ़ा मेढ़ा अस्त्र सा आ रहा है। इसे ठीक निशाना लगाकर नष्ट भ्रष्ट तो कर दो।'

'क्या है यह मधुसूदन?' धनुष तानते हुए अर्जुन ने पूछा।

'जिसकी माँ को तुमने खाँडवदाह के समय मार दिया था, उसी का यह नीच पुत्र अश्वसेन नाग है। यह पूर्व का बदला लेने आ रहा है। इसे छोड़ना नहीं। इसका विष असह्य है। कोई इसके प्रहार को सहन नहीं कर सकता।' वासुदेव यह कह ही रहे थे कि अर्जुन ने कान तक डोरी खींचकर एक ऐसा बाण मारा कि उस नाग के टुकड़े-टुकड़े हो गये और वह मर कर पृथ्वी पर गिर गया। भगवान ने दौड़कर अर्जुन का आलिंगन किया और बोले—'मेरे प्यारे! तुमने यह अंतिम गढ़ विजय कर लिया। इस दुष्ट का मुझे बड़ा भय था। तुम्हारे सिवाय इसे कौन मार सकता था?' यह कह कर भगवान ने स्वयं उतर कर पृथ्वी में धँसे हुये अपने रथ के पहिये को उखाड़ा और वे आगे बढ़े।

कर्ण बड़ी फुर्ती से बाण छोड़ रहे थे। उनके उत्साह में कोई कमी नहीं थी। अर्जुन के बाणों को वे बड़े कौशल से बचा जाते और अर्जुन तथा श्रीकृष्ण को ऐसे बाण मारते कि वे घबड़ा जाते। एक बार क्षणभर के लिये कर्ण को मुर्छा सी आई और फिर वे संम्भल गये। उनका काल उनके समीप आगया था।

उन्हें प्रतीत हो गया कि अब मेरी मृत्यु मेरे निकट है। फिर भी उन्होंने न तो दीनता दिखाई न युद्ध ही बन्द किया। वे उसी वीरता के साथ बाण वर्षा करते रहे। अंत में उन्होंने ब्रह्मास्त्र का स्मरण किया। बहुत स्मरण करने पर भी उन्हें अब ब्रह्मास्त्र का स्मरण नहीं हुआ। वे समझ गये कि भगवान परशुराम का शाप फलीभूत होने वाला है। थोड़ी ही देर में ब्राह्मण के शाप के अनुसार पृथ्वी ने उनके रथ के चक्र को निगल लिया। कर्ण फिर भी विचलित नहीं हुए। वे उसी उत्साह के साथ युद्ध करते रहे! अर्जुन ने फिर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। कर्ण ने फिर उसे अपने दिव्य अस्त्रों से शांत कर दिया और श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के ऊपर बाण वर्षाने लगा।

कर्ण के बाणों से अर्जुन बुरी तरह व्यथित हुए। अब उन्हें विजय की आशा नहीं रही। कर्ण ने उनके सभी मर्मों को वेध दिया था। भगवान को भी बुरी तरह घायल किया था। अर्जुन के उत्साह में कमी देखकर भगवान उन्हें प्रोत्साहित करते हुए बोले—'अर्जुन! घबड़ाने की कोई बात नहीं। सूत-पुत्र अब मरने ही वाला है। पृथ्वी उसके रथ के पहिये को ग्रस रही है तुम हिम्मत न हारो और बराबर बाण छोड़ते रहो।

अर्जुन ने ऐसा ही किया। वे बिना विश्राम के बाणों की वर्षा करते रहे और कर्ण उन्हें अपने बाणों से व्यर्थ बनाते रहे। इतने में ही पृथ्वी ने उनके समस्त पहिये को ग्रस लिया। उनके बाण भी व्यर्थ हो गये। ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करना भी भूल गये। उनकी मति भी अब ठीक ठिकाने नहीं रही। तब वे धर्म की निन्दा करने लगे। उन्होंने कहा—'सुनते हैं धर्म संकट के समय काम आता है, किन्तु मेरे लिये तो यह प्रतिकूल नियम सिद्ध हुआ। मैंने शक्ति भर धर्म-कार्य किये हैं, अतिथि सेवा की है,

दान दिया है, दुखियों के दुख दूर किये हैं। फिर भी धर्म मुझे धोखा दे रहा है। ठीक समय पर दैव मेरे प्रतिकूल हो रहा है। पृथ्वी ने अकारण मेरा रथ चक्र ग्रस लिया है। पुरुपार्थ व्यर्थ है, भाग्य ही सब कुछ है। पुरुपार्थ भाग्य को अन्यथा नहीं कर सकता। आज मैं दैव द्वारा ठगा गया। भाग्य ने मुझे धोखा दिया। मालूम होता है, अर्जुन का मनोरथ सफल होगा।' यह कहते-कहते वह रथ से कूद पड़े और दोनों हाथों से पकड़ कर वे अपने पृथ्वी में धँसे हुए चक्र को निकालने लगे। किन्तु उसे तो पृथ्वी ने जान-बूझकर विप्र-शाप से प्रेरित होकर ग्रसा था। उस समय तो कर्ण का काल उसके सर पर मँडरा रहा था। वन पर्वत सहित यह पृथ्वी ४ अंगुलन ऊपर उठ गई किन्तु कहते हैं,कर्ण के रथ का पहिया पृथ्वी से बाहर न निकला। महावीर कर्ण ने समझ लिया यह मेरा अंतिम समय है। ठीक समय पर ब्रह्मास्त्र के भूलने से और पहिये के पृथ्वी में धँसे जाने से वे कुछ घबड़ा से गये। उन्होंने अर्जुन से कहा—'हे धर्मात्मा कुन्ती-नन्दन! तुम धर्म को जानते हो, युद्ध के नियमों का भी तुम्हें पता है। तुम मेरी एक बात सुनोगे?'

'कहो क्या कहते हो?' धनुष ताने ही ताने अर्जुन ने कहा।

तब कर्ण बोले—'देखो, मेरा रथ का पहिया दैवयोग से पृथ्वी में धँस गया है। इस समय तुम रथ पर बैठे हो, मैं पृथ्वी पर नीचे खड़ा हूँ। इसलिये तुम थोड़ी देर रुक जाओ। जब तक मैं अपने पहिये को निकाल लूँ, तब तक तुम बाण मत छोड़ना। इस समय बिरथी के ऊपर बाण छोड़ना धर्म के विरुद्ध है। मैं तुमसे डर कर या भयभीत होकर नहीं कह रहा हूँ। मेरा पहिया निकल आने दो, मैं भी रथ पर चढ़ जाऊँ, तब तुम युद्ध करना।

अब तुम रथ पर हो, मैं नीचे खड़ा हूँ। ऐसा युद्ध धर्म संगत नहीं। तुम धर्मको जानते हो। अतः! अधर्म युद्ध मत करना।'

अर्जुन तो कर्ण की युक्ति-युक्त बात सुन कर चुप हो गये, किन्तु छलियों के सरदार छैलछबीले घनश्याम कब चुप होने वाले थे। वे बड़े जोरोंसे हँस पड़े और व्यंग के स्वर में बोले— 'अहा हाहाहा! धन्यवाद। साधुवाद। कोटिशः धन्यवाद। आज आप को धर्म का स्मरण आगया। धर्मध्वजी महाराज नमस्कार। अच्छा, अब भी तुम्हें धर्म का नाम स्मरण है? बड़े भाग्य की बात है। सोचो तो सही धर्म हम ही करें या तुमने भी कभी किया है। हजार चूहे खाकर बिल्ली भगतिनि बनी। जो स्वयं अधर्म का आचरण करता है, उसे दूसरों को धर्म का उपदेश देना शोभा नहीं देता। आज तुम धर्म को याद करते हो। भीम को जहर देकर तुमने बड़ा धर्म किया था। निरपराध पांडवों को जलाना महान धर्म था। रजस्वला द्रौपदी को सभा में बुलाना, उसे नग्न करने की चेष्टा करना, उसे कुवाक्य कहना, अपमानित करना यह धर्म तुमने किस शास्त्र से सीखा? वनवास की अवधि पुरी करके धर्मराज का राज्य मांगना अधर्म था। तुमने उसे न देकर महान धर्म किया था। मेरे भानजे और अर्जुन के प्रिय पुत्र अभिमन्यु को तुमने धर्म से ही मारा था। उन समयों पर तुम धर्म को भूल गये थे। आज तुम धर्म को याद करते हो। धर्म सदा धर्मात्माओं की रक्षा करता है। अधर्मी सदा अधर्म के कारण मारे जाते हैं। जो जिसके साथ जैसा वर्ताव करता है, उसे उसका वैसाही दंड मिलता है। तुमने कभी धर्म किया हो, तो धर्म तुम्हारी रक्षा करे भी। तुमने तो सदा अधर्मी दुर्योधन का साथ दिया है। अपने किये का फल भोगो। जो क्रूर हो, आततायी

हो, सब प्राणियों का नाशक हो, प्रजा को पीड़ा देने वाला हो, उसे जिस तरह भी मारा जाय वही धर्म है।

अब भगवान की बातों का उत्तर कौन दे? नहीं तो ये सब बहानेबाजी थी। वास्तव में तो उस वीर को धर्म से जीतना असंभव ही था। किसी तरह उसे मरवाना था। मरवाना क्या था? उसकी कीर्तिको अमर करना था। नहीं तो भगवान जिसे परास्त करना चाहें, वह कैसे जीत सकता है? कर्णने बार-बार पहिये को पृथ्वी से निकालने का प्रयत्न किया। किन्तु वह निकला नहीं। इधर अर्जुन बिना विश्राम लिये बाण वर्षा रहा था। कर्ण उनका प्रतिवाद करते, उन्हें रोकते और अवसर पा कर बीच-बीच में अपने पहिये को भी निकालने का यत्न करते। किन्तु वह तो मृत्यु के लिए ही गड़ा था। सुनते हैं बालि, सुग्रीव ही अब के कर्ण और अर्जुन के रूप में प्रकट हुए थे। पहिले भगवान ने सुग्रीव को सहायता देकर बालि को मारा था। अब के उसी का बदला चुकाने के लिये अर्जुन का साथ दे कर कर्ण को मरवाया। इस जन्म में बड़ा छोटा हुआ, छोटा बड़ा हुआ। नटनागर की अद्भुत लीला को कौन जान सकता है? उसका पार कौन पा सकता है?



कर्ण का निधन

स्रवद्रक्तं गैरिकतोय विस्रवं गिरेर्यथा वज्रहतं महाशिरः ।
देहाच्च कर्णस्य निपातितस्य तेजः सूर्यं खंवितत्याविवेश ॥*

(कर्ण० प० ९१।५५)

दैव की इच्छा पूरी होती है। मनुष्य की इच्छा व्यर्थ होती है। यह समझता हुआ भी मनुष्य पुरुषार्थ करने से रुक नहीं सकता। वह कर्म करने के लिये, सफलता प्राप्त करने के लिये विवश है, लाचार है, मजबूर है। वह करेगा, अवश्य करेगा। बिना करे मानेगा भी नहीं। करना कराना भी दैवाधीन है। यदि सभी दैव के अधीन होकर हाथ पर हाथ रखे बैठे रहें तो यह संसार ही न चले। सृष्टि का सम्पूर्ण नाटक ही समाप्त हो जाय। किन्तु सभी चुपचाप बैठ ही नहीं सकते। समस्त प्राणी प्रजनन कार्य बन्द कर दें, तो प्रजा की उत्पत्ति रुक जाय; किन्तु ऐसा होना असंभव है। सभी स्वभाव से प्रेरित होकर

---

* अर्जुन के बाण से कर्ण का सिर कट कर गिर पड़ा। उस समय उसकी ऐसी शोभा हुई, जिस प्रकार कोई बड़ा पर्वत हो और जिसके शिखर से गेरु झरना की धारा बह रही हो। उसका शिखर जैसे इन्द्र के वज्र से कट कर गिर पड़ता है, उसी प्रकार कर्ण के घावों से रक्त बह रहा था और उसका सिर अलग पड़ा था। जिस समय कर्ण का सिर धड़ से अलग होकर गिरा, उस समय उनके शरीर से एक महान तेज निकल कर सूर्य के तेज में जाकर मिल गया।

प्रजनन कर्म में प्रवृत्त होंगे ही और यह संसार इसी तरह चलता रहेगा।

कर्ण से कौन सी बात छिपी थी। क्या वे यह नहीं जानते थे कि श्रीकृष्ण और अर्जुन नर-नारायण के अवतार हैं ? क्या उन्होंने यह बात अनेक बार नहीं कही थी कि मेरी मृत्यु अर्जुन के द्वारा होगी ? सूर्य ने तो उन्हें पहिले ही सचेत कर दिया था कि दिव्य कवच कुँडल के दे देने पर शत्रु तुझे मार डालेंगे। उन्होंने क्यों नहीं स्वीकार किया ? ब्राह्मण ने तो उनके मुँह पर ही स्पष्ट कह दिया था कि युद्ध में पृथ्वी तेरे रथ के चक्र को ग्रस लेगी और उस समय असावधानी में शत्रु तेरा सिर काट लेगा। उन्होंने पांडवों से सन्धि क्यों नहीं कर ली ? परशुराम जी ने तो क्रोध में भर कर ही यह कहा था कि मृत्यु के समय तुझे ब्रह्मास्त्र भूल जायगा। फिर भी वे क्यों नहीं सम्हले ? युद्ध के समय के अशकुनों से स्पष्ट प्रतीत हो गया था कि युद्ध में कौरवों की विजय न होगी। फिर भी उन्होंने दुर्योधन को सन्धि करने की सम्मति नहीं दी और न वे इन सब कारणों को जानते हुए युद्ध से विरत हुए। उन्होंने सब जानते हुए भी वड़ी वीरता के साथ युद्ध किया और अन्त तक हतोत्साह न हुए। इन सब कारणों को देखते हुए हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि हम सब को प्रभु अपनी इच्छा के अनुसार नचा रहे हैं। इच्छा होने पर भी हम भगवान की इच्छा के विरुद्ध एक तिल भर भी इधर उधर नहीं जा सकते। दुर्योधन की भी इच्छा युद्ध करने की नहीं थी, किन्तु वह राज्य देना नहीं चाहता था। पांडव सभी युद्ध के विरोधी थे। भीष्म, द्रोण, विदुर, कृपाचार्य सभी ने युद्ध की निन्दा की। शक्ति भर हटाने का प्रयत्न किया! पृथ्वी के राजा भी इस भीषण युद्ध के पक्ष

में नहीं थे। वेदव्यास जी ने, परशुराम जी ने, नारद जी ने तथा समस्त ऋषियों ने इसे टालना चाहा। चराचर में ऐसा कौन प्राणी था, जो ऐसे सर्वनाशक महायुद्ध के पक्ष में हो ? सभी इसके विपक्ष में थे। बस, एक ही पक्ष में थे, एक ही इस युद्धको चाहते थे। वे थे देवकी नन्दन भगवान वासुदेव। उनके बड़े भाई संकर्षण उनके विरुद्ध हो गये। गांधारी ने शाप दिया। किन्तु उन्होंने किसी की सुनी ही नहीं। सब मुँह ताकते के ताकते ही रह गये। युद्ध हुआ और उसमें अरबों खरबों प्राणियों का संहार हुआ। स्वयं निःशस्त्र रहे और सब को मरवा दिया। जादू तो वही है, जो सिर पर चढ़कर बोले।

जब कर्ण ने देखा कि अर्जुन मानता ही नहीं तब उन्होंने पृथ्वी पर खड़े ही खड़े अर्जुन और श्रीकृष्ण पर बाणों की वर्षा आरम्भ की। वे चाहते थे किसी तरह एक बार भी मेरा रथ निकल आता तो मैं अर्जुन को मजा चखा देता। किन्तु वह पहिया निकलने के लिये थोड़े ही पृथ्वी में धँसा था। वह तो कर्ण के रक्तका प्यासा था। पृथ्वी उस गड्ढे में कर्ण का रक्त पीना चाहती थी। मनस्वी कर्ण ने हिम्मत नहीं हारी। वे अर्जुन के बाणों को बराबर विफल बनाते रहे। जब अर्जुन किसी तरह भी न रुका। तब तो उन्हें बड़ा क्रोध आया। एक अत्यन्त तीव्र बाण ताक कर उन्होंने अर्जुन की छाती में ऐसा मारा कि बाण के प्रहार से अर्जुन बेहोश होकर रथ पर गिर पड़े। कर्ण ने देखा अर्जुन बेहोश पड़ा है। इसी बीच में उन्होंने फिर अपने रथ के पहिये को पृथ्वी से निकालने का प्रयत्न किया। बड़ी देर तक वे प्रयत्न करते रहे। दोनों हाथों से पकड़ कर पूरी शक्ति लगाकर उन्होंने पहिये को खींचा; किन्तु वह टस से मस नहीं हुआ। इतने में ही अर्जुन को चेत हो

गया। श्रीकृष्ण ने जल्दी मे कहा 'अर्जुन! अर्जुन! देखते क्या हो? शत्रु अब असावधान है। कर्ण इस समय अपनी पूरी शक्ति पहिये को निकालने में लगाये हुए है। इसी समय तुम एक अमोघ बाण छोड़ कर इसके सिर को धड़ से अलग कर दो। अब विलम्ब करने का समय नहीं है।'

अर्जुन ने कहा—'असावधान पर अस्त्र प्रहार अधर्म...

बीच ही में बात काटते हुए वासदेव ने कहा—'धर्म अधर्म तुम क्या जानो? धर्म तो मैं जानता हूँ, इस समय यही धर्म है। तुम मारो तो सही, जल्दी से। देखो, देर मत करना। समय चूकने पर यह अवसर फिर हाथ न लगेगा। मानों मेरी सीख और मार दो शत्रु के मस्तक पर अमोघ तीर। इसके धड़ को सिर से अलग कर दो।

भगवान वासुदेव की आज्ञा पाकर अर्जुन ने एक तीक्ष्ण बाण धनुष पर चढ़ाया। उसने अपने तप की, सत्य की, दान की, धर्म की दुहाई दी। समस्त देवताओं की मनौती मनाई। वासुदेव को प्रणाम किया और बड़े जोर से तक कर बाण छोड़ दिया। दिशाओं में हाहाकार मच गया। दिन में ही आकाश से तारे टूटने लगे। नदियों का जल रुक गया। पृथ्वी काँपने लगी। पर्वत हिलने लगे। समस्त संसार के प्राणी हाय हाय करने लगे। सूर्यदेव की प्रभा फीकी पड़ गई। बाण सीधा जाकर असावधान कर्ण के गले में लगा। उसने उसके सिर को धड़ से अलग कर दिया। पृथ्वी के सूर्य-कर्ण को अस्त देख कर धीरे-धीरे कर्ण के पिता भी अस्ताचल में प्रस्थान कर गये।



माता द्वारा धर्मराज को कर्ण का परिचय और उनका स्त्री जाति को शाप

शशाप च महातेजाः सर्वं लोकेषु योषितः ।
न गुह्यं धारयिष्यन्तीत्येवं दुःख समन्वितः ॥*

(शान्ति० प० ६।११)

मनुष्य भ्रम के वशीभूत होकर ही सब अनर्थ करता है। रज्जु को सर्प समझकर उससे डरता है। छाया को भूत समझकर उससे बचने को भागता है। सीपी में चाँदी समझकर उसे लेने दौड़ता है। कहाँ तक कहें समस्त अनर्थ भ्रम से ही होते हैं। जब तक मनुष्य भ्रमवश इस संसार को सत्य समझता है,तभी तक इसमें सुख की इच्छा रखता है। जब उसे इसके मिथ्यात्व का बोध हो जाता है, तब वह सर्वत्र एक शाश्वत सत्ता का अनुभव करके शान्ति लाभ करता है। जिस समय मनुष्य समस्त प्राणियों में अपने को देखता है और अपने को सब प्राणियों में, तो उसका शोक, मोह, भ्रम, अज्ञान सब दूर हो जाता है। परमार्थ विषय में ही यह बात नहीं लोक में भी देखा गया है। जब तक हम अज्ञानवश किसी को अपना शत्रु समझते हैं,

---

*उस समय धर्मराज ने स्त्री जाति को शाप देते हुए कहा— 'मैंने अपनी माता के छिपाने से ही बड़े भाई के मरवाने का महा-पातक किया है। अतः, आज से मैं शाप देता हूँ, स्त्रियाँ अपने मन में कोई बात छिपा न सकेंगी।'

तब तक हमें उसमें सभी अवगुण ही अवगुण दिखाई देते हैं। जिस समय हमारा शत्रु भाव हट जाता है, तब उसके दोष भी गुण ही गुण प्रतीत होते हैं। वस्तुओं में गुण दोष नहीं होते। दोष-दृष्टि ही दुख का कारण है और गुण-दृष्टि ही सुख की जननी है।

कर्ण-मृत्यु के पश्चात् ही एक प्रकार से युद्ध समाप्त सा हो गया। एक दिन नाम मात्र के लिये लड़ाई और हुई किन्तु उसमें उतनी उग्रता नहीं थी। दुर्योधन ने अठारहवें दिन अश्वत्थामा की सम्मति से शल्य को सेनापति बनाया। भगवान के कहने पर धर्मराज युधिष्ठिर ने अपने मामा शल्य को मार डाला। शल्य के मरने पर भी थोड़ी देर घोर युद्ध हुआ। धृष्टद्युम्न से पराजित होकर दुर्योधन घोड़े पर चढ़कर युद्ध-भूमि से भागकर एक सरोवर में जा छिपा। पांडवों ने बड़ी कठिनता से उसका पता लगाया और वह भीमसेन के हाथों गदायुद्ध में मारा गया। इसके पश्चात् महाभारत में भगवान व्यास ने करुणा का स्रोत बहाया है। उसको पढ़ते-पढ़ते हृदय फटने लगता है। आँखें आँसू बरसाते-बरसाते थक जाती हैं। उस नर संहार के पश्चात् अश्वत्थामा ने ऐसा क्रूर कर्म किया कि उसे स्मरण करके रोंगटे खड़े होते हैं। दुर्योधन का प्रिय करने की इच्छा से तथा होनहार के अधीन होकर अश्वत्थामा ने रात्रि में सोती हुई समस्त पांडव सेना को पशुओं की तरह मार डाला। केवल बच रहे पाँच पांडव और छठे नारायण। इधर कौरवों की तरफ तीन वीर बचे, कृपाचार्य, कृतवर्मा और गुरुपुत्र अश्वत्थामा।

कुरुकुल का विनाश हो गया। समस्त धृतराष्ट्र के पुत्रों की पत्नियाँ विधवा हो गईं। सभा में जिस तरह द्रौपदी के

केश खोले गये थे, आज उस सती के शाप से समस्त कुरुकुल की स्त्रियाँ केश खोले विधवा वेष में हा हा करके चिल्लाने लगीं। स्त्री-पर्व में रुदन ही रुदन है। शोक ही शोक है। विलाप की हद है। हा! मनुष्य कितना क्रूर प्राणी है। रोने धोने से अब क्या होता है? होना था, सो हो गया। मरे हुए लौटकर नहीं आ सकते। सब को शान्ति दे दिलाकर धर्मराज गङ्गा-तट पर गये। मरे हुए समस्त राजाओं का यथा विधि दाह-संस्कार कराया और सभी को अंतिम तिलांजलि दी। धर्मराज ने रोते-रोते अपने हाथों से अपने बन्धु-बान्धव, सगे सम्बन्धियों का तर्पण किया। गंगा जल में अश्रु-जल मिलाकर बिलखते हुए, शोक करते हुए, धर्मराज अपने भाइयों का नाम ले ले कर सब को जलदान देने लगे। तभी धीरे से आकर कुन्ती ने उनके कान में कहा—'बेटा! कर्ण को भी जल दो। उन महावीर का भी तुम अपने सगे सम्बन्धी की ही तरह तर्पण करो।'

रोते-रोते धर्मराज ने कहा—'मैं अपने सगे सम्बन्धियों को ही जल दूँगा। कर्ण का तर्पण और श्राद्ध किसी सूत जाति से, या ब्राह्मण से कराऊँगा।'

'बेटा! कर्ण तुम्हारे सम्बन्धी थे।' माता ने धीरे से कहा।

कर्ण मेरे सगे सम्बन्धी थे। धर्मराज को अपने कानों पर भ्रम हुआ। उन्होंने आश्चर्य चकित होकर माता से कहा—'क्या कहा 'कर्ण हमारे सम्बन्धी!' सूत पुत्र कर्ण से हमारा यही सम्बन्ध था कि वह हमारे शत्रु का प्रधान पृष्ठ पोषक था, किंतु उसका कुल गोत्र और वर्ण तो हमसे पृथक था।'

रोते-रोते माता ने कहा—'बेटा, कर्ण सूत-पुत्र नहीं था। वह तुम्हारा सगा भाई और मेरा पुत्र था।'

'कर्ण मेरा सगा भाई था' यह सुनते ही धर्मराज पछाड़ खाकर गंगा जी में गिर कर बेहोश हो गये। उनके मुख से बार बार निकलता था 'हा कर्ण! हा भैया कर्ण! तुम कहाँ चले गये?'

भाइयों ने धर्मराज को जल से बाहर किया। उनकी आँखों से आँसू बह रहे थे। कर्ण का स्मरण करके वे बुरी तरह बिलख रहे थे। उनके चारों भाइयों ने उन्हें सावधान किया। तब अत्यन्त ही दुःख के साथ धर्मराज ने कहा—'माँ! कर्ण हमारे भाई कैसे थे? वे तुम्हारे गर्भ से कब पैदा हुए? इस बात को सच-सच मुझे आज बताओ। अपने सगे भाई की हत्या करने वाला मैं पापी अब जीने योग्य नहीं। मैं अभी प्राण त्याग कर, स्वर्ग में अपने भाई कर्ण से जाकर मिलूँगा और उनके चरणों में पड़कर अपने अपराधों की क्षमा माँगूँगा। मुझे आज कर्ण का सच-सच हाल बता दो।'

कुन्ती ने कुछ लज्जित भाव से धीरे-धीरे कहना आरम्भ किया—'बेटा! जब मैं कुमारी थी और पिता के घर में रहती थी, तब दुर्वासा ऋषि ने मुझे देवताओं को बुलाने का मन्त्र दिया। उसकी परीक्षा के लिये मैंने सूर्य भगवान का आह्वान किया। उन्हीं सूर्यदेव से कन्यावस्था में ही मेरे गर्भ से कर्ण उत्पन्न हुए। उन्हें अधिरथ सूत ने अपना पुत्र माना और उनकी स्त्री राधा ने उनका पालन-पोषण किया। इसीलिये वे सूतपुत्र राधेय कहाये।'

धर्मराज के दुःख का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने दाँत पीस कर क्रोध के स्वर में कहा—'जननी! तुमने मेरे साथ और

कर्ण के साथ विश्वासघात किया। मुझे पहिले से क्यों नहीं बताया? हाय! मुझे पहिले ही पता होता, तो मैं युद्ध ही क्यों करता? यह महाभारत ही क्यों होता? हा! वे शूरवीर मेरे भाई थे?' धर्मराज की आँखों से आँसुओं की वर्षा हो रही थी!

माता ने डरते-डरते कहा—'बेटा, वह विषय बड़ा गोपनीय था। लज्जा के कारण मैंने तुमसे नहीं कहा।'

'तब तुम महामना कर्ण से तो कहतीं' धर्मराज ने कहा।

'बेटा! मैंने उससे कहा था, तू मेरा पुत्र है, पांडव तेरे भाई हैं। इनसे युद्ध मत कर, किन्तु उसने मेरी बात मानी नहीं। वह अपनी प्रतिज्ञा पर अड़ा रहा।' माता बोलीं।

बड़ी उत्सुकता के साथ धर्मराज ने पूछा—'अच्छा महात्मा कर्ण को पता था कि मैं उनका छोटा भाई हूँ। तुम्हारी बात सुनकर उन्होंने क्या उत्तर दिया?'

माता ने कहा—'मैंने उसे समझाया था। तू पांडवों से सन्धि कर ले सब भाई मिलकर प्रेम से रहो, किन्तु उसने यही कहा—'मैं दुर्योधन को अब नहीं छोड़ सकता। इससे मेरी अपकीर्ति होगी, विश्वासघात का पाप लगेगा शरणागत को त्यागने का कलंक लगेगा और मैं स्वार्थी डरपोक, क्षुद्र और मित्रद्रोही समझा जाऊँगा।'

'ठीक ही कहा था। उनका कहना सच था। और क्या कहा था माँ! मेरे भाई कर्ण ने?' धर्मराज ने पूछा।

और यह भी कहा था कि 'तुम आई हो, तो तुम्हें निराश न लौटने दूँगा। अर्जुन को छोड़कर तुम्हारे चारों पुत्रों को वश में आने पर भी न मारूँगा।'

धर्मराज की आँखें चमकने लगीं। वे रो पड़े और रोते-रोते बोले—'मैंने कांच के भ्रम में हीरे को गँवा दिया। हा ! मेरे भाई कितने धर्मात्मा थे। कितने दानी थे, संसार में शूरवीर तो उनके समान कोई था ही नहीं। हमने उन्हें अधर्म से जीता है। वे अजेय थे। अपने वचन के कैसे सच्चे थे ! हम चारों भाई उनके वश में आ गये थे। वे चाहते तो हमें मार सकते थ, किन्तु उन्होंने माता के सम्बन्ध से हम पर दया कर दी। हमारे प्राण हरण नहीं किये। ऐसे भाई को पाकर मैं धन्य हुआ, कृतकृत्य हुआ। अब मैं राज्य न करूँगा। अनशन करके अपने प्राणों को त्याग दूँगा।' यह कहकर धर्मराज आसन मार कर अन्न जल त्याग कर बैठ गये।

भाइयों ने समझाया। द्रौपदी ने जली कटी सुनाई। श्रीकृष्ण ने भाँति-भाँति के उपदेश दिये। धर्मराज पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। समस्त ऋषि आकर इकट्ठे हो गये। चारों ओर व्याकुलता छा गई। विजय का परिणाम यही हुआ। धर्मराज मौन थे। वे किसी से बोलते ही नहीं थे।

भगवान वेदव्यास, नारद, पर्वत, प्रथा अन्यान्य हजारों लाखो ऋषियों की भीड़ लग गई। सब के सामने रोते-रोते करुण स्वर से धर्मराज फिर बोले—'मैं बड़ा पापी हूँ। बड़ा नीच हूँ। मैंने राज्य लोभ से अपने भाइयों को मरवा डाला। असंख्यों हाथी घोड़े और सैनिकों का संहार कराया। मैं कुल-द्रोही, पापी, नीच स्वार्थी और हत्यारा हूँ। मुझे आज अपने ऊपर बड़ी ग्लानि हो रही है। सब से अधिक दुःख तो मुझे इस बात से हो रहा है कि संसार में अद्वितीय वीर, धर्मात्मा सत्य-प्रतिज्ञ, दानी और महान चरित्रशाली अपने सगे भाई कर्ण को जब वे असावधान थे, अपने रथ का चक्र निकालने में संलग्न

थे, तब उन्हें अधर्म-पूर्वक, धोखे से अर्जुन द्वारा मैंने मरवा डाला है। मुझे भीष्मपितामह की मृत्यु का उतना दुःख नहीं है। न द्रोणाचार्य, अभिमन्यु, शल्य तथा द्रौपदी के पुत्रों का ही उतना दुःख है, जितना कि मुझे अपने भाई कर्ण की मृत्यु का दुख है। हा! उस समय मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी।"

नारद मुनि ने तरह-तरह के उपदेशों से धर्मराज को शान्त किय। किन्तु धर्मराज का दुःख दूर न हुआ। वे रोते-रोते कहने लगे—"कर्ण सचमुच महात्मा थे। मैं उनके मुख की ओर नहीं देखता थे। मुझे उनके चरण बहुत प्यारे थे। उनके चरणों को जब मैं देखता था, तब मुझे माता कुन्ती की याद आ जाती। उनके चरण एकदम देवी कुन्ती के से थे इससे मुझे बार-बार संदेह होता था किन्तु मैं इस साम्य का कुछ अर्थ न समझ सका। मुझे अपने भाई कर्ण पर कभी क्रोध नहीं होता था। द्यूत-सभा में उन्हों ने द्रौपदी के सम्बन्ध में कुछ अनुचित शब्द दुर्योधन को खुश करने के लिये कह दिये थे। उस समय मुझे थोड़ी देर के लिये कुछ क्रोध सा हुआ। ज्योंही मैंने उनके चरणों की ओर देखा मेरा क्रोध शान्त हो गया। हाय! मैं माता द्वारा ठगा गया। मैं नीच उनके चरणों को कुन्ती के चरणों के सदृश देखता हुआ भी उन्हें नहीं पहिचान सका। मेरे जीवन को धिक्कार है।"

माता कुन्ती ने उदास मन से आँसुओं को रोकते हुये कहा—"बेटा! कर्ण के लिये अब शोक मत करो। दुष्टों की संगति से वह तुमसे सदा द्वेष करता था। वह अपने ही पाप से मारा गया।"

धर्मराज यह सुनकर विषधर क्रोधित सर्प की तरह लम्बी-लम्बी फुफकार छोड़ने लगे। उन्होंने अत्यन्त क्रोध के स्वर में

कहा—'माँ, तुमने मुझे और मेरे भाई कर्ण दोनों को धोखे में रखा। तुमने अपने पाप को छिपाने के लिये हम दोनों पर अन्याय किया। मेरे भाई को क्षत्रितत्व से, राज्य से, यश से और भाइयों से अलग कर दिया। और मुझे तुमने कुलद्रोही, भ्रातृ-हन्ता और गुरुघाती बना दिया। इसलिये आज से मैं समस्त स्त्री जाति को शाप देता हूँ कि 'आज से कोई स्त्री अपने किसी भाव को गुप्त न रख सकेगी।' इतना कहकर धर्मराज मूर्छित होकर फिर गिर पड़े।

ऋषियों ने धर्मराज के पूछने पर कर्ण का समस्त वृत्तान्त सुनाया, तरह-तरह से उन्हें समझाया। कर्ण का गुण गान किया। किन्तु धर्मराज को तो अब रह-रह कर कर्ण के सभी गुण याद आने लगे। अब वे सूत-पुत्र न होकर उनके पूज्य, बड़े भाई और कुन्ती-नंदन हो गये थे। दृष्टि में ही सृष्टि है। दृष्टि बदलने से ही सब कुछ बदल जाता है। अब कर्ण नहीं रहे, किन्तु उनके अतुलनीय गुण सदा बने रहेंगे और उनकी पुण्य स्मृति तब तक रहेगी, जब तक पृथ्वी पर उनके पिता सूर्यदेव विद्यमान रहेंगे।



माता को मृत पुत्र के दर्शन

यदि पापमपापं वा यदेतद्विवृतं मया।
तं द्रष्टुमिच्छामि भगवन् व्यपनेतुं त्वमर्हसि ॥*

युद्ध का परिणाम दुःख है। युद्ध में जो हार गया, वह मर गया। जो जीत गया, वह हार गया। यह संसार ही युद्धभूमि है। पग-पग पर मनुष्य को अपनी वृत्तियों के साथ युद्ध करना पड़ता है। हमारी सद् और असद् वृत्तियों में सदा द्वंद युद्ध होता रहता है। कभी मन की विजय हो जाती है, कभी बुद्धि की। मन की विजय से सांसारिक सुख मिल सकता है और बुद्धि की विजय से स्वर्ग सुख। किन्तु जो बुद्धि से भी परे है, जिसे साधारण बुद्धि नहीं पा सकती, वहाँ पहुँचने के लिये मन और बुद्धि दोनों से ऊपर उठना होगा। संसार में सुख कहाँ? भोगों में शान्ति कहाँ? संसार में सुख होता तो बड़े-बड़े योगिराज जिनके वश में मृत्यु है, स्वेच्छा से संसार को क्यों छोड़ते? यदि भोगों में ही शांति होती तो बड़े-बड़े चक्रवर्ती महाराजा अपने अतुल ऐश्वर्य, महान-राज्य और असंख्य इन्द्रिय सुखों के साधनों को त्याग कर वीतरागी होकर अरण्यों में जाकर भूख प्यास को सहन कर के शरीर को क्यों सुखाते? संसारी भोगों

---

* कुन्ती देवी ने भगवान वासुदेव से कहा—'आप मेरे श्वसुर हैं। कर्ण को जन्म दे कर मैंने पाप या पुण्य जो कुछ किया हो उसे मैंने आपके सामने प्रकट कर दिया। मैं अपने उस प्रथमज पुत्र को देखना चाहती हुँ। आप मेरी इस इच्छा को पूर्ण कर दीजिये'।

की प्राप्ति अप्राप्ति क्षण भर का दुख सुख है। असल में तो जिन्हें सच्ची तुष्टि हो गई है, जो विषय सुखों से ऊपर उठ गये हैं, उन्हें ही सच्ची शांति है। जिन्होंने तुच्छ इन्द्रिय सुखों को तिलांजलि दे दी है, वे ही सच्चे सुखी हो सकते हैं।

समस्त ऋषियों के,भाइयों के, श्रीकृष्ण के,गांधारी,धृतराष्ट्र भीष्मपितामह तथा पुरजन वासी लोगों के समझाने बुझाने से धर्मराज का मन कुछ शांत हुआ। उनकी आत्मग्लानि कुछ कम हुई। वे भाइयों के साथ राजकाज करने लगे। धृतराष्ट्र को वे पिता की तरह मानते थे और गांधारी को सगी माता की तरह। वे दोनों भी इन्हें अपना सगा पुत्र समझते थे। धर्मराज के सद्-व्यवहार के कारण वे अपने पुत्रों के शोक को भूल गये थे, फिर भी अपने पुत्रों के पाप का स्मरण करके वे सदा चिंतित रहते। अंत में धर्मराज की अनुमति लेकर और समस्त पुरवासियों से विदा होकर धृतराष्ट्र विदुर को साथ लेकर वन में तपस्या करने को चले। पतिव्रता गांधारी उनके पीछे-पीछे चली। गांधारी का हाथ पकड़ महारानी कुन्ती भी चलीं। पांडव रोते हुए उनके पीछे-पीछे चले। धृतराष्ट्र ने पांडवों को छाती से लगाया। वे उनकी आज्ञा से लौट पड़े, किन्तु कुन्ती नहीं लौटीं। वे गांधारी का हाथ पकड़े चली ही गईं।

धर्मराज ने दौड़कर मां के पैर पकड़े और कहा—'माँ अब दूर आगये, लौट चलो।'

गांधारी ने भी कहा। परन्तु कुन्ती ने कहा—'अब मैं न लौटूँगी।'

रोते हुए धर्मराज ने कहा—'क्यों माता जी ? क्यों न लौटोगी ?'

'मैं भी वन में जाकर अपने जेठ-जिठानी की सेवा करूँगी और तपस्या से शरीर को सुखा दूँगी।' कुन्ती ने कहा।

'माँ। ऐसा मत कहो। हमें अनाथ मत बनाओ। तुम्हारे लिये तो हमने यह सब किया है। विवाह के बाद तुम हमारे पिता के साथ जंगलों में रहीं। वहीं हमारा जन्म हुआ। ऋषियों ने हमारे संस्कार किये। जब पिता के पश्चात् सुख भोग का समय आया; हम कुछ सयाने हुये तब दुष्ट दुर्योधन के कारण हमें घर-घर भीख माँग कर इस पापी पेट को भरना पड़ा। द्रौपदी मिलने पर जब राज्य की प्राप्ति हुई और फिर सुख का समय आया तब हम द्यूत क्रीड़ा में हार कर तुम्हें चाचा विदुर के यहाँ छोड़कर १३ वर्ष वनों में भटकते रहे। हम राज्य के लिये युद्ध करना नहीं चाहते थे। तुमने ही उत्साहित करके हमें लड़वाया। अब जब हम पृथ्वी के एक छत्र राजा बन गये, सुख का समय आया तब तुम वन को जाने को तैयार हो। मेरी जननी ! ऐसी बात मत कहो और लौट कर घर चलो।'

'बेटा ! तुम एक कहो, चाहे लाख कहो; मैं अब हस्तिनापुर न रहूँगी। मुझे भोगों से क्या प्रयोजन ! तुम सुख से राज्य करो। मेरी अवस्था अब तप करने को है। मैंने अपने सुख के लिये तुम्हें नहीं लड़ाया था, क्षत्रिय धर्म सिखाया था। लो अब मैं जाती हूँ।'

पांडव रोते और चिल्लाते ही रहे। वे बच्चों की तरह बिलखते ही रहे किन्तु पांडु की पत्नी, कुन्तिभोज की पुत्री, कर्ण

की माता कुन्ती चली ही गईं और वन में जाकर गांधारी और धृतराष्ट्र की सेवा तथा तपस्या करने लगीं।

माता के वियोग से दुखी पांडवों को कुछ अच्छा नहीं लगता था। थोड़े दिनों के पश्चात् वे भी अपने ताऊ, ताई और माता के दर्शनों के लिये वन में उनके आश्रम पर गये। सब परस्पर में प्रेम पूर्वक मिल-भेंट कर प्रसन्न हुये। धर्मराज एक महीने वहीं रह गये।

सर्वज्ञ भगवान वेदव्यास जी वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने हर तरह से पांडवों को धैर्य बँधाया। धृतराष्ट्र को धर्म का तत्व बताया। संसार का नियम समझाया। बातों ही बातों में उन्होंने धृतराष्ट्र से कहा—'यदि तुम अपने पुत्रों का और मरे हुये राजाओं का दर्शन करना चाहते हो, तो मैं अपने योग बल से उन सब को तुम्हें दिखा सकता हूँ।'

सब को बड़ी प्रसन्नता हुई और विशेषकर पांडव तो बड़े ही प्रमुदित हुये। तब धीरे-धीरे लजाती हुई कुन्ती ने हाथ जोड़ कर भगवान व्यास से कहा—'प्रभो! आप मेरे गुरु, ईश्वर और श्वसुर हैं। आप से छिपाने योग्य कोई बात नहीं है। मैं आपसे एक निवेदन करना चाहती हूँ।'

'कहो बेटी! क्या कहना है?' व्यास जी ने कहा।

'मेरी एक इच्छा है' कुन्ती ने नीचा सिर कर के कहा।

'मैं उसे पूर्ण करूँगा। तुम निःसंकोच होकर प्रकट करो। मेरे लिये योग के द्वारा कुछ भी असाध्य नहीं है।' भगवान व्यास बोले।

कुन्ती ने कहना आरम्भ किया—'प्रभो! जब मैं कुमारी थी, तो मेरे यहाँ भगवान दुर्वासा अतिथि हुये। साल भर मैंने उनकी यथाशक्ति मन लगा कर सेवा की। चलते समय वे मुझे

एक मन्त्र दे गये थे, जिसके प्रभाव से मैं सब देवताओं को बुला सकती थी। कुतूहल वश मैंने भगवान सूर्य को मंत्र की परीक्षा के निमित्त आह्वान किया। सूर्य देव पधारे और मेरे बहुत मना करने पर भी उन्होंने मेरे गर्भाधान किया। यह चाहे धर्म हो या अधर्म, मैंने अपना सब समाचार सच-सच निवेदन कर दिया है। उनके द्वारा मेरे एक पुत्र हुआ, जो संसार में कर्ण के नाम से प्रसिद्ध हुआ।'

भगवान व्यासदेव ने कहा—'मैं अपने योग बल से सब जानता हूँ। वह तुम्हारा काम अधर्म नहीं है। देवताओं के संसर्ग से मानव-स्त्रियाँ दूषित नहीं होतीं।'

'कर्ण बड़ा शूरवीर और वली था। मुझे वह प्राणों से भी अधिक प्यारा था। वह संसार में अद्वितीय दानवीर भी था। मैंने उसके साथ अन्याय किया।' कहते-कहते कुन्ती रोने लगी।

'भाग्य को कौन मेंट सकता है। कर्ण कर्ण ही थे। ब्रह्माजी ने उन्हें क्षत्रियों को स्वर्ग भेजने के ही लिये पैदा किया था। वे देवतुल्य थे। अब तुम क्या चाहती हो?' व्यास जी ने पूछा।

रोते रोते कुन्ती ने कहा—'भगवन्! मैं अब उस अपने प्यारे पुत्र कर्ण को देखना चाहती हूँ। उसे छाती से चिपकाना चाहती हूँ। मेरी इस इच्छा को पूर्ण कीजिये।'

व्यास जी ने कहा—'ऐसा ही होगा। तुम आज रात्रि में अपने प्यारे पुत्र कर्ण को दिव्य शरीर से प्रत्यक्ष देखोगी।'

सन्ध्या की प्रतीक्षा पांडवों को असह्य हुई। वनवास के १२ वर्षों से भी बढ़ कर लम्बा उन्हें उस दिन का सायङ्काल जान पड़ा। भगवान भुवन-भास्कर अस्ताचल को प्रस्थान कर चुके। चिड़ियाँ अपने-अपने घोसलों में चुपचाप जा बैठीं। प्रकृति में

स्तब्धता छा गई। सर्वत्र शांति का साम्राज्य था। धृतराष्ट्र, गांधारी, कुन्ती और पाँचों पांडव सन्ध्या-वन्दन करके जाह्नवी के तट पर चुपचाप बैठ गये। धीरे-धीरे सर्वत्र अंधकार छा गया। उसी समय जल से हुँ हुँ और भयङ्कर रथ घोड़ों का शब्द सुनाई दिया। एक-एक करके सभी वीर दिव्य शरीर धारण करके जल से निकलने लगे। भीष्म, द्रोण, कर्ण, दुर्योधन, दुःशासन, अभिमन्यु, धृतराष्ट्र के सौ पुत्र तथा समस्त मुख्य-मुख्य राजा जल से निकल कर वहाँ आ बैठे। सब के वर्ण, रूप, रंग, आकृति, प्रकृति, पहिले जैसी थी। सब परस्पर एक दूसरे को गले लगाने लगे। अब सबका राग, द्वेष, वैर भाव मिट गया था। सभी एक दूसरे से बड़े स्नेह से मिले। धर्मराज ने बड़ों के पैर छुए। छोटों ने उन्हें प्रणाम किया। उस समय वे भूल गये थे कि हम स्वर्ग में बैठे हैं या पृथ्वी पर।

दौड़कर माता कुन्ती ने अपने प्यारे बच्चे को, अपने हृदय के टुकड़े को, अपने चिरकाल से बिछुड़े लाल को हृदय से लगाया। माता का हृदय भर आया, उसके स्तनों से दूध की धारा बहने लगी। वे मारे प्रेम के फूट-फूट कर रोने लगीं। उनका गला रुँध गया था। स्नेह के कारण उनके मुख से एक भी शब्द नहीं निकल सकता था।

धर्मराज ने जब कर्ण को अपनी माता की गोदी में देखा तो दौड़कर उन्होंने कर्ण के पैर छुए। उनके भाइयों ने भी उनका अनुसरण किया। बड़े स्नेह से, अपार प्यार से कर्ण ने धर्मराज को हृदय से लगाया। अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव का माथा सूँघा। उन्हें बार-बार प्यार किया, पुचकारा और कुशल प्रश्न किया।

धर्मराज ने रोते-रोते कहा—'आप मेरे गुरु हैं, पिता तुल्य हैं, मेरे ज्येष्ठ भाई हैं। हाय! अज्ञान से मैंने आपको कितने कटु शब्द कहे। मेरा हृदय अब उन सब बातों को स्मरण करके फटा आता है। मेरी निर्दया माता ने मेरे साथ विश्वास-घात किया।' यह कहते-कहते धर्मराज बच्चों की तरह फूट-फूट कर रोने लगे।

कर्ण ने उनके मस्तक पर हाथ फेरा। बड़े स्नेह से वे बोले—'धर्मराज तुम तो धर्म की गति को जानते हो। माता को दोष मत दो। यह तो भाग्य का चक्कर है। भाग्य को कौन अन्यथा कर सकता है? भावी होकर ही रहती है। भगवान को ऐसा ही मंजूर था। जो होना होता है, होकर ही रहता है। अब तुम शोक का त्याग करो। धर्म पूर्वक राज्य करो। अच्छा, अब हम लोग जाते हैं। अब थोड़े दिन पश्चात् स्वर्ग में मिलेंगे।'

बातें करते-करते रात्रि का अंत होने को आया। उस समय सभी वीर गंगा जी के जल में पहले की तरह विलीन हो गये। व्यास जी की आज्ञा से जिस स्त्री ने सती होना चाहा, उसने गंगा जी में शरीर त्याग दिया और अपने पति लोक को प्राप्त किया।

धर्मराज अपने भाई कर्ण की बात को बार-बार सोचते—'जो होने वाला होता है, होकर ही रहता है। भाग्य को कौन मेंट सकता है?'



स्वर्ग में कर्ण

अपरस्मिन्नथोद्देशे कर्णं शस्त्रभृतांवरम् ।
द्वादशादित्य सहितं ददर्शकुरुनन्दनः ॥*

(स्वर्ग० प० ४।६)

धर्म, अधर्म इन्हीं से संसार चल रहा है। धर्म भी भगवान का अंग है, अधर्म भी। एक के विना दूसरा रह ही नहीं सकता। दोनों में ही व्याप्त होकर भगवान क्रीडा कर रहे हैं। रामायण के लिये जितनी ही आवश्यकता राम की है, उतनी ही आवश्यकता रावण की है। कंस, अघासुर, बकासुर, शिशुपाल न होते तो हम श्रीकृष्ण-चरित्र की महत्ता क्या समझते? कंस और कृष्ण, राम और रावण, हिरण्यकशिपु और नृसिंह इन सभी रूपों में उनका ही तेज है। अपने आप ही अपने से लड़ रहे हैं और स्वयं ही उस आनन्द का अनुभव कर रहे हैं। महाभारत के लिये जितने आवश्यक युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव हैं, उतने ही नहीं उनसे बढ़कर आवश्यकता दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण और शकुनि की है। दैत्य न होते तो देवताओं के पराक्रम को कौन जानता?

पृथ्वी में कुछ सामान्य जीव होते हैं, कुछ विशिष्ट। सामान्य जीव तो ८४ के चक्कर में स्वभाव वश भ्रमते ही रहते हैं। उनका तो इतिहास ही क्या? घूमना ही उनका इतिहास है। विशिष्ट

* स्वर्ग में धर्मराज युधिष्ठिर ने एक ओर देखा कि १२ आदित्यों के समीप शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ महात्मा कर्ण विराजमान हैं।

पुरुषों में कुछ दैवी सम्पत्ति के होते हैं, कुछ आसुरी के। जो दैवी सम्पत्ति के होते हैं, वे देवताओं के अंश से होते हैं। जो आसुरी सम्पत्ति के होते हैं, वे असुर राक्षस आदि के अंशों से होते हैं। आसुरी सम्पत्तिवाले विशिष्ट पुरुष भी शक्ति-युक्त और प्रभावशाली होते हैं। वे अपने प्रभाव से अधर्म का प्रचार करते हैं। साधारण लोग उनकी आज्ञा टाल नहीं सकते। वे उनके सामने सिर झुका देते हैं। दैवी सम्पत्तिवाले विशिष्ट पुरुष अपने धर्माचरण से धर्म का उपदेश करते हैं। अधर्म करने वालों का सामना करते हैं और अपने चरित्र से तथा कार्यों से लोगों को प्रभावित करते हैं। सब लोग उनकी पूजा प्रतिष्ठा करते हैं। दोनों में भगवान की विशिष्ट शक्ति होती है। अपना अपना कार्य समाप्त करके जो जिस देवता के अंश से होते हैं, वे उसी देवता में जाकर मिल जाते हैं। इसी तरह जो जिस असुर, राक्षस या दैत्य के अंश से उत्पन्न होते हैं, वे उन में मिल जाते हैं। यह अटल नियम है कि कार्य सदा अपने कारण में ही मिलता है। घड़ा मिट्टी से बनता है। कार्य हो जाने पर वह मिट्टी में ही मिल जायगा। चीनी के खिलौने फूट कर चीनी ही हो जायँगे। नाम और रूप बदलने पर भी उनका स्वभाव नहीं जाता। इसी तरह पृथ्वी पर जो मनुष्य-रूप में देवता और असुर आते हैं, वे मनुष्य होने पर भी स्वभाव से देवता या असुरों के ही समान स्वभाव वाले होते हैं। इतिहास ऐसे ही मनुष्यों का होता है। उनके ही चरित्रों के पठन से पुण्य होता है। ऐसा न होता तो बड़े-बड़े ब्रह्मज्ञानी पुरुष गीता, रामायण, महाभारत और भागवत का नित्य पाठ क्यों करते; यदि दैवी सम्पत्ति वालों के ही नाम-संकीर्तन से पुण्य होता तो वेद तुल्य नित्य पाठ करने वाली इन पुस्तकों

में से दुर्योधन, कंस, रावण आदि के नामों को निकाल देते। ये सभी भगवान की विशिष्ट विभूति है। हाँ, विजय सदा धर्म की ही होती है। धर्म भगवान का उत्तम और प्रधान अंग है।

महाभारत के समस्त पात्र अपने-अपने कार्य के लिये आदर्श हैं। जैसे नाटक में जो भंगी का, बधिक का, भिखारी का अभिनय करता है, वह भी दर्शकों को प्रसन्न करता है और जो राजा का, साधु का, धर्मात्मा का अभिनय करता है, वह भी सब को प्रसन्नता प्राप्तकराता है। यदि किसी का बधिक का अभिनय हो और वह विदित जीव-हिंसा को रंगभूमि पर ठीक-ठीक न दिखा सके, तो वह कुशल पात्र नहीं कहा जायगा। इस सम्बन्ध में एक कहानी बहुत प्रसिद्ध है। एक राजा ने एक बहुरुपिया से कहा—'तुम कोई ऐसा रूप बनाओ जिससे हम अत्यंत ही चकित हों। तुम्हें हम ५००) पारितोपिक देंगे।' बहुत अच्छा कह कर वह चला गया।

थोड़े दिनों में वह बड़ी लम्बी-लम्बी जटा बढ़ाकर शरीर पर भस्म रमा कर नगर के बाहिर घोर तपस्या करने लगा। किसी से बोलता नहीं, चुपचाप बैठा रहता और कभी-कभी पत्ते खा लेता। चारों ओर ख्याति होगई एक बड़े महात्मा आये है। लोग तरह-तरह की भेटें लाकर रखते। वह किसी की ओर देखता ही नहीं था। जो आता उसे पड़ा रहने देता। कोई रुपया, पैसा, सोना, चाँदी चढ़ा देता तो दूर फेंक देता। उसकी बड़ी ख्याति और प्रशंसा सुनकर राजा उसके दर्शन को आया। एक थाल में मोती, सुवर्ण की अशर्फियाँ, बड़े-बड़े क़ीमती दुशाले लेकर वह साधु के पास पहुँचा। सब चीज़ें साधु के चरणों में रखीं। साधु ने मोती का थाल फेंक दिया,

अशर्फ़ियाँ बखेर दीं और दुशालों को वहीं छोड़ कर उठ गया। राजा उसके ऐसे महान् त्याग को देखकर बड़े प्रसन्न हुए और बार-बार चरणों में पड़कर विदा हुए। राजा थोड़ी ही दूर गये होंगे कि वह बहुरूपिया जटाओं का फेंक कर, मुख को पोंछकर राजा के सम्मुख प्रणाम करके नम्रता के साथ गिड़गिड़ाता हुआ बोला—'सरकार ! मेरे ५००) रुपये पारितोषिक के मिलने चाहिये।'

राजा के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। वे भौंचक्के रह गये। जिस साधु के चरणों में पड़कर वे अभी लौट रहे थे, वह तो उनका पुराना बहुरूपिया था। वे आश्चर्य चकित होकर बोले—'क्यों भाई, तुम्हें हमने लाखों रुपये के मोती जवाहिरात स्वर्णमुद्रा भेंट में दिये, उन्हें तो तुमने फेंक दिया, अब ५००) रुपये के लिये इस तरह क्यों गिड़-गिड़ा रहे हो।'

उसने कहा—'सरकार ! उस समय मैं त्यागी महात्मा का अभिनय कर रहा था। उस समय रुपये ग्रहण करना मेरे रूप के अनुकूल नहीं था। उस समय, संसार का राज्य भी आप देते और मैं ले लेता तो अपने स्वरूप से च्युत हो जाता। त्यागी के वेष को कलंकित कर देता। अपने स्वांग में अनुत्तीर्ण हो जाता। उस समय स्वरूप के अनुकूल मैंने अभिनय किया था। अब मैं आपके नट के वेष में हूँ। आप के सामने हाथ फैला रहा हूँ। आप मुझे एक पाई भी देंगे, उसे मैं सिर माथे चढ़ाऊँगा।'

कहने का अभिप्राय इतना ही है कि हम सब भगवान की रंगस्थली के अभिनय कर्ता हैं। भगवान ने जिसके सुपुर्द जो काम कर दिया है, उसे ईमानदारी से पूरा करना ही उसके अनुरूप

है। इस नियम से दुर्योधन ने जो भी किया अपने अनुरूप ठीक ही किया। उसने स्पष्ट कह दिया 'मैंने जो कुछ किया भगवत् प्रेरणा से किया। मैंने धर्म का ढोंग नहीं रचा। जीते जी समस्त पृथ्वी का राज्य किया, मर कर मैं स्वर्ग में सुख भोगूँगा।' यह जीव जब समझ ले कि 'मैं भगवान का यन्त्र हूँ, वासुदेव भगवान मुझे जैसा चाहें घुमावें।' तब तो उसे चिन्ता करने की कोई बात ही नहीं। सत्य बात यही है—

उमा दारु जोषित की नाईं।
सबहि नचावत राम गुसाईं॥

धर्मराज ने अपने शत्रुओं को जीत कर ३ अश्वमेध-यज्ञ किये। महाभारत के पश्चात् ३६ वर्ष तक और राज्य किया। अंत में उन्हें विराग हुआ। भगवान वासुदेव भी विप्रशाप का बहाना कराके, अपने यदुवंशियों को आपस में लड़ा कर, सब को नष्ट करके स्वयं ही अपने स्वरूप में मिल गये। उनके भाई संकर्षण ने भी उनका अनुसरण किया। उनकी स्त्रियों को अर्जुन हस्तिनापुर ला रहे थे। रास्ते में भीलों ने केवल लाठियों के द्वारा उनसे स्त्रियों को छीन लिया। अर्जुन का वही गांडीव धनुष था, जिससे भीष्म और कर्ण जैसे संसार विजयी वीरों को परास्त किया, अब वह व्यर्थ हो गया। दिव्य-अस्त्रों का उन्हें स्मरण न रहा। सच है—

'पुरुष बली नहिं होत है, काल होत बलवान।
भीलनि लूटी गोपिका, वही अर्जुन वही बान॥

अर्जुन समझ गये। यह सब विभूति भगवान की थी। मेरा तेज, बल, यश, जय, श्री, कीर्ति सब श्रीकृष्ण की कृपा से ही थी। उनके इस लोक से चले जाने पर, वे सब भी

उनके साथ ही चली गईं। धर्मराज ने अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित को राज्य-सिंहासन पर बिठाया और वे सभी भोगों को त्याग कर पागलों की तरह नंगे ही उत्तर दिशा की ओर चल दिये। उनके भाइयों ने और द्रौपदी ने उनका अनुसरण किया। द्रौपदी सहित उनके चारों भाई अपने शरीरों को हिमालय में छोड़कर स्वर्ग गये और धर्मराज इसी शरीर से स्वर्ग पहुँचे।

वहाँ जाते ही उन्होंने अपने भाइयों को और कर्ण को पूछा। देवताओं ने, और धर्म ने उनकी परीक्षा ली और पीछे उन्हें कर्ण से मिला दिया। महामना कर्ण अपने पिता सूर्य के समीप बैठे हुए द्वितीय सूर्य के समान प्रतीत होते थे। धर्मराज से मिल भेंट कर वे अपने सत्-स्वरूप में मिल गये। उनका तेज सूर्य मण्डल में प्रविष्ट हो गया। वे सूर्य के साथ तन्मयता को प्राप्त हो गये। समस्त पृथ्वी के क्षत्रियों को स्वर्गलाभ कराके वे महाभाग्य सूर्य के साथ एकीभूत हो गये। जब तक वे आकाश में रहे, पृथ्वी को आलोक देते रहे और प्राणियों को ताप पहुँचाते थे। जितने दिन वे पृथ्वी पर रहे उतने दिन पृथ्वी पर भी उन्होंने सूर्य का ही काम किया। उनके विपक्षी सदा उनके भय से तपते ही रहे। वे पृथ्वी के भूषण थे। मनुष्यों में रत्न थे। आज भी जब दान का प्रसंग चलता है, तो लोग कहते हैं ये तो कर्ण के समान दानी हैं। लोगों का विश्वास है कि अरुणोदय के समय कर्ण का पहरा रहता है। उस समय वे सुवर्ण की वृष्टि करते हैं। जो अरुणोदय में महादानी कर्ण का स्मरण करता है, सूर्यदेव को प्रणाम करता है उसे दारिद्र दुःख कभी नहीं सताता। वह सदा

सुखी रहता है। सूर्य स्वरूप प्रतापी कर्ण के पुनीत चरणों में प्रणाम करते हुए हम इस स्वल्प निबन्ध को समाप्त करते हैं और भगवान सविता के चरणों में प्रार्थना करते हैं कि वे हमें भी आलोक प्रदान करें, जिससे अपने गंतव्य स्थान तक पहुँच सकें।

'आविवेश रविं कर्णो निहतः पुरुषर्षभ।'

श्रीकृष्णार्पणमस्तु

इति महात्मा कर्ण चरित्र समाप्तः



परिशिष्ट

न जातु कामान्न भयान्न लोभात्
धर्मं त्यजेत् जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुख दुःखेत्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥*

सम्पूर्ण महाभारत को पढ़ जाने के पश्चात् हमें चार बातें स्मरण रह जाती हैं। पहिली बात तो यह है कि मनुष्य को किसी भी सांसारिक प्रलोभन में पड़कर धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये। दूसरी बात यह है कि यह संसार अनित्य है। इसमें न कोई किसी का भाई है, न बन्धु। एक मात्र भगवान ही सब के सुहृद हैं। तीसरी बात यह है कि मनुष्य को भूत भविष्य की बातों को स्मरण करके शोक और भय नहीं करना चाहिये। चौथी बात यह है कि अभ्युदय का कारण धर्म ही है। धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति हो सकती है। सम्पूर्ण महाभारत का निचोड़ इतना ही है। मनुष्य पाप कर्मों में प्रवृत्त क्यों होता है? काम से लोभ से,भय से और मरण के डर से। ये बातें न हों तो मनुष्य पाप करे ही नहीं। अपनी इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिये

---

* मनुष्यों को काम से, भय से, लोभ से अथवा जीवित रहने के लिये भी कभी धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि सांसारिक सुख दुःख ता अनित्य है; आज आये कल नष्ट हो गये। एक मात्र धर्म ही नित्य है, उसका नाश नहीं होता। जीव कभी मरता नहीं। वह तो नित्य है। केवल यह शरीर बदलता रहता है। सो यह तो अनित्य है ही। इसके लिये क्या सोच !

मनुष्य कितने-कितने पाप करता है। कैसे-कैसे षडयन्त्र रचता है। भाँति-भाँति से लोगों को धोखा देता है। असत्यवादी हो कर भी अपने को सबके सामने सत्यवादी प्रकट करता है। विद्वान् न होने पर भी अनेक प्रकार के कौशलों से लोगों के हृदयों पर अपनी विद्वत्ता की छाप जमाता है। ढोंग मनुष्य तभी रचता है, जब उसे धर्म में सत्य विश्वास नहीं होता। जो वह समझ लेगा कि सत्य बात एक दिन प्रकट हो ही जायगी, विजय धर्म की ही होगी; तो फिर जैसा वह सचमुच में है, वैसा ही अपने को लोगों पर प्रकट करेगा। दंभ से अपने को कुछ से कुछ न बतावेगा। हम सदा ही अपनी इच्छित वस्तु के लिये धर्म को त्याग देते हैं, यही हमारी कमजोरी है। धर्म से, अधर्म से कोई वस्तु हमें प्राप्त हो जाय और वह सदा हमारे पास बनी रहे, यह दूसरों के काम में न आवे, इस वृत्ति का नाम लोभ है। लोभी मनुष्य की समस्त सद्वृत्तियां नष्ट हो जाती हैं। लोभ के कारण वह पिता, माता, स्त्री, पुत्र सगे सम्बन्धियों के सुख की भी परवाह नहीं करता। लोभ सब पापों की जड़ है। लोभ से ही असत्य, द्वेष, क्रोध, दम्भ, छल और अनेक दुर्गुण उत्पन्न होते हैं। कामी को चाहे भले ही स्वर्ग मिल जाय, किन्तु लोभी की सद्गति नहीं। जो इन अनित्य पदार्थों को ही सर्वस्व समझता है, जो चाँदी सोना और ताँबे की ठीकरियों को प्राणों से अधिक प्यार करता है, इन निर्जीव एक प्रकार की मिट्टी विशेष के लिये सब पाप करता है, उससे बढ़ कर नीच कौन होगा? लोभी पुरुष को सदा शंका बनी रहती है, कोई हमसे कुछ माँग न बैठे। उसे चोर से, राजा से, अपने स्वजनों से यहाँ तक कि अपने आप से भी सदा भय बना रहता है। लोभी

पुरुष क्षुद्र होता है। वह कभी निर्भय नहीं रहता। अतः अपने पास की वस्तु की रक्षा के लिये भी मनुष्य पाप कर्मों में प्रवृत्त होता है।

भय से भी मनुष्य बड़े-बड़े पाप करता है। संसार में सर्वत्र भय है। भोग में रोगों का भय है, कुलीनता में जाति-च्युति का भय है, धन से राजा, चोर और स्वजनों का भय है, मौन में दैन्य का भय, बल में शत्रु का भय है, सौन्दर्य में वृद्धावस्था का भय है। संसार में जिधर देखो उधर भय ही भय है। मनुष्य सदा भविष्य के भय से भयभीत बना रहता है। कल क्या होगा? वह मुझे मार न डाले। वह मुझे दुख देगा। इसलिये महाभारतकार ने कहा है—

हर्ष स्थान सहस्राणि भयस्थानि शतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥

संसार में विस्मय और शोक के अनेकों स्थान हैं। अकस्मात् कोई चीज सामने आजाती है, तो हम विस्मित हो जाते हैं। यह कहाँ से आगई? क्यों आगई? सहसा कोई चीज चली जाती है, तो हम शोकाकुल हो जाते हैं। यह हर्ष और विस्मय मूर्खों को ही दुख देता है। जो पंडित हैं, जो जानते हैं कि जो वस्तु प्राप्त होने वाली होगी, वह अवश्य ही प्राप्त होगी; जो जाने वाली होगी, अवश्य ही जायगी। जो चीज मेरी है, जिसका उपयोग मेरे लिये बदा है, वह दूसरे के उपयोग में आ ही नहीं सकती। वे लोग प्राप्त वस्तु से विस्मित नहीं होते, अप्राप्त या गई हुई वस्तु के लिये शोक नहीं करते।*

---

* प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः दैवोऽपितं वारयितु न शक्यः।
यदस्मदीयं नहि तत्परेषाम् यस्मान्न शोचामि न विस्मयामि।

मनुष्य पाप कर्मों में प्रवृत्त हो... [illegible] सदा बना रहूँ। मैं मरूँ नहीं। मरने के डर से मनुष्य भाँति-भाँति के पाप करता है। उसे स्मरण नहीं रहता कि संसार में अमर कोई नहीं। जो जन्मा है, वह मरेगा। बड़े-बड़े प्रतापी राजा हुए और अंत में मृत्यु ने—काल ने उन्हें ग्रस लिया। जो देवता अमर कहे जाते हैं, वे भी पुण्य-क्षीण होने पर स्वर्ग से ढकेल दिये जाते हैं। जन्मधारी की मृत्यु अवश्यम्भावी है। जिसे कोई टाल नहीं सकता, जो होकर ही रहेगी। इसके लिये चिन्ता करने से ही क्या होगा। शोक करने से भी वह न बचेगी। अधर्म से जीवित रहो या धर्म-पूर्वक, काल आने पर दोनों का ही शरीर नष्ट होगा। जीव तो कभी नष्ट होता ही नहीं है। शरीर जीर्ण शीर्ण होता है। जीव तो एक शरीर त्याग कर दूसरे शरीर में चला जाता है। जब यह शरीर अनित्य है और अधर्म करने पर भी यह बच नहीं सकता, तो इस अनित्य पदार्थ से नित्य धर्म का अनुष्ठान, साधन क्यों न कर लें? संसार में कौन किसका पिता, कौन किसकी माता? यह सम्बन्ध तो शरीरों को लेकर है। न जाने इस जीव के कितने पिता, कितनी माता, कितने पुत्र, स्त्री और स्वजन हो चुके हैं और होंगे। उन सब के लिये सोच करने लगें, तब तो इस दुख-सागर से त्राण ही नहीं।

माता पितृ सहस्राणि पुत्र दारा शतानि च।
संसारेष्वनु भूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे॥

स्वजनों का सम्बन्ध तो नौका का सम्बन्ध है। जब तक नौका में बैठे हैं, सम्बन्ध है। नौका उस पार लगी; कोई इधर चला गया, कोई उधर चला गया। जिन्होंने धर्माचरण करके जीवन बिताया है, उनकी कीर्ति बनी रहती है और अधर्माचरण

वालों को कोई पूछता ही नहीं। धर्मात्मा मरकर भी जीवित बने रहते हैं 'कीर्तिर्यस्य सजीवति' इसलिये भगवान वासुदेव ने कहा—

'ऊर्ध्व बाहुर्विरौम्येष न कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते।'

अरे! मैं हाथ उठा-उठा कर चिल्ला रहा हूँ, फिर भी मेरी कोई सुनता ही नहीं। देखो, भाइयों! धर्म से धर्म भी मिल सकता है, कामोपभोग भी मिल सकता है। फिर तुम उस धर्म का आचरण क्यों नहीं करते?

उपर्युक्त श्लोकों को भारत रूपी सागर का अमृत अथवा भारत रूपी दुग्ध की मलाई या भारत रूपी दही का मक्खन समझना चाहिये। इन चार श्लोकों को भारत-सावित्री कहा गया है। इनके पाठ का फल बताया गया है कि जो पुरुष प्रातः उठ कर इन चार श्लोकों का पाठ करता है, उन्हें महाभारत के पढ़ने का फल मिल जाता है—

इमां भारत-सावित्रीं प्रातरुत्थाय यः पठेत्।
सभारत फलं प्राप्य परं ब्रह्माधि गच्छति॥

महाभारत में हम सभी पात्रों को आदर्श पाते हैं। जिसने धर्माचरण किया, उसने आदर्श धर्म का आचरण किया और जिन्होंने अधर्म किया वे भी शूरवीर की तरह अधर्म करते रहे। अधर्म को चाहे धर्मात्मा करे या अधर्मी, उसका फल दुःख होगा। धर्म का फल सभी को सुख होगा। दुर्योधन ने पांडवों के साथ अधर्म किया, अतः हमेशा चिंता और दुख में रह कर उनकी विभूति से जलता रहा। प्रजा के साथ उसने धर्म का बर्ताव किया, उसका फल यह हुआ कि संसार के सभी बड़े राजाओं ने

उसके कहने से अपना सर्वस्व निछावर कर दिया। प्रजा ने उसका अंत तक साथ न छोड़ा और धर्मपूर्वक क्षत्रिय-धर्म पालने के कारण मर कर उसे स्वर्ग की प्राप्ति हुई।

धर्मराज युधिष्ठिर ने धर्माचरण किया। इसका फल यह है कि आज वे प्रातः स्मरणीय बन गये। उनके स्मरण मात्र से ही धर्म की वृद्धि बताई जाती है। प्रातः उठते ही हम कहते हैं 'धर्मोविवर्धत युधिष्ठिर कीर्तनेन'। इतने धर्मात्मा साक्षात् धर्मावतार होने पर भी उन्होंने झूठ बोला। अश्वत्थामा की मृत्यु का असत्य समाचार कह कर अधर्माचरण किया, तो उसके कारण उनका रथ आकाश में न चलकर पृथ्वी पर चलने लगा और अंत में भी इसी अधर्म के कारण उन्हें नरक भी देखना पड़ा।

महात्मा कर्ण के जीवन में हम धर्माचरण को सर्वतोमुखी पाते हैं। वे ईश्वर भक्त में, त्याग में, दान में, कृतज्ञता में अपने समान ही थे। उन्होंने अधर्म पूर्वक परशुराम जी से विद्या प्राप्त की, वह उनके काम न आई। द्रौपदी को भरी सभा में न कहने योग्य वचन कहे; उनका स्मरण दिला कर भगवान ने उन्हें समर-भूमि में लज्जित किया। इन एक दो बातों को छोड़ कर उनके सम्बन्ध में तो यही कहा जा सकता है कि वे एक आदर्श महात्मा थे। दानवीर तो संसार में तब से आज तक ऐसा हुआ ही नहीं। महाभारत में तो उनका उल्लेख प्रसंगवश आया है। अन्य पुराणों में इनकी दानवीरता के सम्बन्ध की बहुत सी बातें आती हैं। उनमें से जो दो तीन बहुत ही प्रसिद्ध हैं, उनका यहाँ अत्यंत संक्षेप में हम उल्लेख करते हैं।

(१)

एक बार अर्जुन ने पूछा—'भगवन्! आप कर्ण की ही इतनी प्रशंसा क्यों किया करते हैं? संसार में और भी तो बहुत से दानी हैं?'

भगवान ने कहा—'हे पार्थ! कितने भी दानी क्यों न हों, कर्ण को कोई पा नहीं सकता। उसके यहाँ से कभी कोई याचक विमुख होकर नहीं लौटता।'

'प्रभो! मैं उसकी दानवीरता देखना चाहता हूँ।' अर्जुन ने कहा।

'बहुत अच्छा दिखावेंगे' भगवान ने उत्तर दिया।

अर्जुन के फिर दुबारा स्मरण दिलाने पर भगवान ने अर्जुन को कर्ण की 'दानवीरता'की विशेषता दिखाने का निश्चय किया। दोनों ने ब्राह्मणों का वेष बनाया और सब से पहिले धर्मराज के यहाँ पहुँचे।

'दो ब्राह्मण आये हैं, धर्मराज को सूचना दे दो' ब्राह्मण वेषधारी प्रभु ने द्वारपाल से कहा।

द्वारपाल दौड़ गया। धर्मराज से जाकर उसने निवेदन किया—'महाराज की जय जयकार हो। दो ब्राह्मण ड्योढ़ियों पर बैठे हैं। कुछ याचना करने आये हैं, ऐसा प्रतीत होता है। उनके लिये क्या आज्ञा होती है?'

'उन्हें सत्कारपूर्वक लेआओ।' धर्मराज की आज्ञा हुई।

'जो आज्ञा' कहकर द्वारपाल चला गया।

थोड़ी देर में दो ब्राह्मणों ने प्रवेश किया। धर्मराज ने उनका यथोचित सत्कार किया,विधिवत पूजा की,चरण धोकर चरणामृत लिया और सुन्दर आसन पर बिठाया। जब ब्राह्मण स्वस्थ हो गये, यात्रा का श्रम मिट गया तब धर्मराज ने हाथ जोड़ कर

पूछा—आप लोगों ने मुझे अपने दर्शनों से कृतार्थ किया। यदि आप के पधारने का कोई विशेष कारण हो, तो कृपया आप आज्ञा करें।'

विप्र-वेष धारी भगवान ने कहा 'राजन् हम आपसे कुछ याचना करने आये हैं!'

'आज्ञा हो प्रभो!' अंजलि बाँधे हुए धर्मराज ने कहा।

भगवान बोले—'राजन! हमें कई मन चंदन की अभी आवश्यकता है, आप हमें दें।'

'बहुत अच्छा प्रभो! मैं अभी प्रबन्ध करता हूँ। यह कह कर धर्मराज ने चारों ओर बाजार में सेवक दौड़ाये। भगवान की इच्छा ही तो थी। बाजार में चंदन मिला ही नहीं।

'महाराज, हमें देर हो रही है' इधर उधर देखते हुए भगवान बोले।

उदास मन धर्मराज ने कहा—'विप्रवर! मुझे दुःख है। आज नगर भर की दुकानें तलाश कराली, कहीं चंदन मिलता ही नहीं। अब जैसी आप आज्ञा करें। कोई और वस्तु माँगिये। द्रव्य जितना कहें मैं दे दूँगा।

'हमें द्रव्य नहीं चाहिये। चंदन की ही आवश्यकता थी। नहीं है तो हम जाते हैं।' यह कह कर दोनों ब्राह्मण खिन्न मन से चल दिये। धर्मराज को भी बड़ा दुःख हुआ।

× × ×

आज सात दिनों से बराबर वर्षा हो रही है। चारों ओर पानी ही पानी दिखाई देता है। दो ब्राह्मण जाड़े में आधी रात्रि के समय भीगते हुए कर्ण के यहाँ पहुंचे।

'दानवीर कर्ण का यही भवन है क्या?' भगवान ने आकाश में यह शब्द कहा।

भीतर से दौड़ते हुए वसुषेण कर्ण निकले—'प्रभु ! मैं धन्य हुआ। पधारिये, सेवक की झोंपड़ी यही है ?'

'हम बैठेंगे नहीं।' भगवान बोले।

'फिर प्रभो मैं पूजा कैसे करूंगा' कर्ण ने कहा।

'जब तक हमें अपनी अभीष्ट वस्तु न मिलेगी, तब तक हम पूजा ग्रहण नहीं कर सकते।' एक काले से ब्राह्मण ने रूखे स्वर में कहा।

विनीत भाव से कर्ण बोले—'प्रियवर ! आपका स्वागत है। मैं ब्राह्मणों का दासानुदास हूँ। मेरा शरीर ही ब्राह्मणों के लिये अर्पित है। मेरा जीवन ही ब्राह्मणों के लिये है।'

'हमें शरीर नहीं चाहिये। हम बधिक नहीं कि किसी के प्राण लेते हों' कुछ क्रुद्ध स्वर में वे ही उत्पाती ब्राह्मण बोले।

'आज्ञा कीजिये, क्या चाहिये ?' अंजलि बाँधे हुए कर्ण ने कहा।

जल्दी से ब्राह्मण बोले—'हमें अभी कई मन सूखा ईंधन चाहिये, जलाने के लिये। बिल्कुल सूखा हो—उसमें पानी का छींटा भी न पड़ा हो। देर होगी तो हम चले जायँगे।'

सात दिन से लगातार वर्षा हो ही रही थी। सूखा ईंधन तो बहुत था। किन्तु वह महल से दूर था। अब भी वर्षा हो रही है। यहाँ तक लाने से भीग जायगा। क्षण भर सोच कर कर्ण बोले—'आप थोड़ी देर बैठें, मैं ईंधन का अभी प्रबंध किये देता हूँ; पानी की उसमें एक छींट भी न पड़ेगी' यह कह कर जल्दी से कर्ण ने अपना धनुष उतारा। उस पर डोरी चढ़ाई। उनका शयन-भवन अत्यन्त सुन्दर था। वह दुमंजला था। नीचे उसकी छत में चन्दन की लकड़ियाँ लगी थीं। उनकी किवाड़ें

चन्दन की थीं। पलंग के पाये चन्दन के थे। क्षण भर में बाण मार कर उन्होंने छत की कड़ियाँ गिरा दीं। चन्दन के खंभे तोड़ डाले, किवाड़ें उखाड़ दीं, पलंग तोड़ दिया। सेवकों को आज्ञा हुई, क्षण भर में इन्हें चीड़ फाड़ दो। बात की बात में पचासों मन चन्दन की लकड़ियाँ तैयार हो गईं। कर्ण ने कहा—'प्रभो! ईंधन तैयार है?'

'इतनी जल्दी ईंधन कैसे आ गया? बाहिर से आने से तो गीला हो गया होगा' झगड़ालू ब्राह्मण ने पूछा।

'नहीं प्रभो! ईंधन बाहिर से नहीं आया। भवन में ही था।' कर्ण ने विनीत भाव से उत्तर दिया।

ब्राह्मण आश्चर्य प्रकट करते हुए बोले—'घर में! घर में इतना ईंधन कहाँ से आ गया?'

'मेरी छत की कड़ियाँ, किवाड़, पलंग सब लकड़ी ही के तो थे।' नीची दृष्टि करके कर्ण ने कहा।

आश्चर्य चकित होकर ब्राह्मण ने कहा—'यह तुमने कैसी मूर्खता का काम किया? इतनी बहुमूल्य चीजें तोड़-फोड़ डालीं? इतनी बड़ी हानि क्यों की? ऐसा कष्ट क्यों उठाया?'

कर्ण ने आँखों में आँसू भर कर कहा—'हे मेरे स्वामी! कष्ट तो तब होता, जब मेरे द्वार से ब्राह्मण निराश होकर लौट जाते। उनकी अभिलाषित वस्तु प्राप्त न होती। सब से बड़ी हानि तो यह होती कि मैं ब्राह्मणों की मनोकामना पूर्ण न कर पाता; अब तो मुझे महान् सुख है। मुझे तो परम लाभ हुआ। ये निर्जीव लकड़ियाँ किसी उपयोग में तो आ गईं। इनका इससे बड़ा उपयोग क्या हो सकता है कि मेरे

पूजनीय अतिथि गुरु की इनके द्वारा सेवा हो और उन्हें सुख प्राप्त हो सके। मकान तो कल फिर बन जायगा, किन्तु अतिथि विमुख होकर लौट जाते, यह तो मुझे जीवन भर खलता रहता।'

ब्राह्मण प्रसन्न हुए। उन्होंने कर्ण को आशीर्वाद दिया—"तुम सदा, सर्वदा, सर्वत्र सब की इच्छा पूर्ण करने में समर्थ हो। तुम्हारी रुचि सदा धर्म में रहे। तुम्हारे यहाँ से कोई याचक विमुख न लौटने पावे। संसार में तुम्हारा यश सदा बना रहे।'

देखते ही देखते दोनों ब्राह्मण अन्तर्धान हो गये। कर्ण बड़े विस्मित हुए।

भगवान ने अर्जुन से पूछा—'देखी, तुमने कर्ण की दानवीरता? क्या ऐसी उदारता संसार में संभव है। धर्मराज के महलों में कितनी चन्दन की चीजें थीं। उन्हें चन्दन माँगने पर भी चन्दन की चीजों की याद न आई। कर्ण को ईंधन माँगने पर चन्दन की लकड़ियाँ ईंधन ही दिखाई दीं। इसे ही सच्चा त्याग और दानवीरता कहते हैं। यह अभ्यास से आने वाली चीज नहीं है। देने की शक्ति, मीठा बोलना, धीरता और उचितज्ञता ये चारों स्वाभाविक गुण हैं :—

दातृत्वं प्रियवक्तृत्वं धीरत्वमुचितज्ञता।
अभ्यासात् नैव लभ्यन्ते चत्वारो सहजागुणः॥

(२)

भीष्म पितामह जब शरशैया पर पड़े थे, तब उन्होंने पीने के लिये जल माँगा। उस समय दुर्योधन आदि तरह-तरह के सुगंधित जल लेकर दौड़े। भीष्म ने सब को डाँट कर कहा—

'मुझे अब ऐसा जल नहीं चाहिये। मेरी प्यास तो अर्जुन ही शान्त करेगा! इतना सुनते ही अर्जुन ने धनुष पर एक बाण चढ़ाकर जोर से पृथ्वी में मारा। पाताल से पानी का स्रोत बह निकला, जो आकाश-गंगा के नाम से प्रसिद्ध हुई।

पितामह ने अर्जुन की बहुत प्रशंसा की। सब लोग उनके इस कर्तव्य को देख कर चकित हुए। भगवान कुछ भी नहीं बोले। अर्जुन ने कनखियों से भगवान की ओर देखा। भगवान समझ गये अर्जुन को बड़ा गर्व हो गया है। भगवान तो गर्वहारी हैं। उन्होंने अर्जुन के इस गर्व को खर्व करने की बात मन में सोची।

× × ×

कर्ण मारे गये, भगवान बड़े उदास से दिखाई देते थे। वे बार-बार लम्बी-लम्बी सांसें ले रहे थे।

अर्जुन ने पूछा—'प्रभो! आज आप दुखी से मालूम पड़ते हैं।'

'हाँ, दुखी तो हूँ' भगवान बोले।

'इसका कारण जानना चाहता हूँ।' अर्जुन ने कहा।

'कारण! कारण क्या जानोगे पार्थ? मेरा हृदय रो रहा है। आज संसार का एक अद्वितीय दानवीर उठ गया। कर्ण के बराबर त्यागी, दानी, शूरवीर संसार में अब कोई नहीं रहा।'

अर्जुन को मन ही मन बुरा लगा। अपने भाव को रोककर उन्होंने कहा—'सचमुच वे शूर थे, किन्तु आप उनकी सदा इतनी प्रशंसा क्यों किया करते हैं? उनके पास अटूट धन था,

मनमाना खर्च करते थे; किन्तु संसार में ऐसा कोई और दानी और शूरवीर है ही नहीं, यह तो आप की अत्युक्ति है।

भगवान ने कहा—'पार्थ! मेरी अत्युक्ति नहीं; ध्रुव-सत्य हैं। पास में पैसा हो और उससे खूब दान धर्म करे तो यह तो पैसे की शोभा ही है, इसमें कोई विशेपता नहीं। न होने पर भी शक्ति भर याचक को विमुख न जाने दे, यही प्रशंसा की बात है। कर्ण में ये ही सब गुण थे।'

अर्जुन ने कहा—'कर्ण में ये सब गुण हैं?'

'हाँ, हैं' दृढ़ता के साथ भगवान ने कहा।

'और शूरवीरता में?' उत्सुकता के साथ अर्जुन ने पूछा।

'शूरवीरता में, शूरवीरता में पूछते हो? तो मैं कहना तो नहीं चाहता था, किन्तु कहता हूँ—तुम उसके पासंग भी नहीं हो?' भगवान ने आवेश के साथ कहा।

अर्जुन का चेहरा फक पड़ गया। उसने कहा—'भगवन्! मुझे आप की बातों में संदेह हो रहा है।'

भगवान् ने कहा—"अच्छा, चलो चलें। अभी कर्ण बिलकुल मरे थोड़े ही हैं। अभी तक उनके शरीर में थोड़े प्राण शेष हैं। अभी वे जीवित हैं, तुम्हें मैं उनके गुणों को दिखलाऊँगा।' यह कहकर भगवान चलने को तैयार हुए।

भगवान् ने अपना वही पुराना पेटेन्ट वृद्ध ब्राह्मण का वेष बनाया। अर्जुन भी छिप कर उनके पीछे-पीछे चले। कमर झुका कर लाठी टेकते हुए, खाँसते-खाँसते रणभूमि में पहुँचे। इधर-उधर भूले से, भटके से चारों ओर देखने लगे और अपने आप ही कहते जाते थे—'सुना है, आज अर्जुन ने दानवीर कर्ण को मार डाला। हाय, संसार का एक महान् दानवीर उठ गया। संसार दानवीरता से शून्य हो गया। पता नहीं यशस्वी कर्ण

मर गये या जीवित हैं। मैं तो बड़ी आशा लगाकर उनके पास आया था।'

कर्ण के कानों में ये शब्द पड़े। उस समय उनके सम्पूर्ण शरीर से रुधिर बह रहा था। उनका कटिदेश बिलकुल घायल हो रहा था। पैर निर्जीव थे। गला भी आधा कट गया था। थोड़े प्राण शेष थे। अंतिम साँसें ले रहे थे और बाणों के घाव से व्याकुल थे। उन्होंने बड़े कष्ट से अत्यंत मृदुवाणी में कहा—'ब्रह्मन्! मैं अभी जीवित हूँ। कौन मुझे कृतार्थ करने यहाँ समर-भूमि में पधारे हैं?'

वृद्ध ब्रह्मण कर्ण के समीप पहुँच गये। हाँफते हाँफते लम्बी लम्बी साँसें लेते हुए बोले—'स्वस्ति स्वस्ति। राजन्! आप का कल्याण हो। बड़े भाग्य की बात है, जो आप मुझे जीते हुए मिले। आप बड़े कष्ट में हैं?'

कर्ण ने ब्राह्मण का आदर किया। मन ही मन प्रणाम किया। बड़े कष्ठ से हाथ जोड़ कर पूछा—'इस ऐसी समरभूमि में आपने कैसे कष्ट किया?'

ब्राह्मण अन्यमस्क भाव से बोले—"क्या बताऊँ, मेरे भाग्य ही फूट गये। मैं बड़ी आशा लगाकर एक कामना से आपकी प्रशंसा सुन के ढूंढ़ता-ढूंढ़ता आया हूँ। अब आप को इस दशा में देख कर मेरी आशा निराशा में परिणित हो गई। आप स्वयं ही दुःखी हैं, तो मेरी अभिलाषा क्या पूर्ण करेंगे?'

कर्ण ने कष्ट से धीरे-धीरे रुक-रुक कर कहा—'ब्रह्मन्! मैं आपकी इच्छा जान तो लूँ?'

'क्या करोगे जान कर राजन्! आप की यह दशा मुझसे देखी नहीं जाती। मेरी लड़की सयानी हो गई है। कुछ धन की आशा से आप के निकट आया था। थोड़ा भी धन मिल

जाता, तो मेरा काम चल जाता।' ब्राह्मण ने उदास मन से कहा।

कर्ण ने विनीत भाव से कहा--"ब्रह्मन् ! मेरे घर आप चले जायें। मेरी स्त्री आप को यथेच्छ धन देगी।'

'मुझमें इतनी शक्ति कहाँ? फिर मैं दूसरे से माँगना भी तो नहीं चाहता। मेरा संकल्प तो केवल आप से ही लेने का था ! आप के पास नहीं है, तो मैं जबरदस्ती थोड़े ही करता हूँ।' ब्राह्मण ने कहा।

कर्ण ने कहा--"विप्रवर। मेरी स्त्री का धन मेरा है। आप जैसे बने तैसे चले जायँ, जितना आप माँगेंगे, उतना सुवर्ण मिलेगा।'

ब्राह्मण बोले--'आप पर नहीं है, तो सीधे से मना कर दीजिये। मैं चला जाऊँगा। मैं लोभी ब्राह्मण थोड़े ही हूँ। मैं बहुत धन का भूखा भी नहीं हूँ। आप के हाथ से थोड़ा भी मिल जाता तो मैं सन्तुष्ट होकर चला जाता। हर किसी के सामने हाथ नहीं फैलाता। आप कष्ट न करें, मैं जाता हूँ।'

मरते समय ब्राह्मण निराश होकर जाय। कर्ण तेरे जीवन को धिक्कार है। कर्ण ने क्षण भर सोचा। उन्हें याद आगया। मेरे दाँतों में सुवर्ण लगा है। स्मरण आते ही उनका मुख-कमल खिल उठा। प्रसन्नता के स्वर में वे बोले--"ब्रह्मन् ! आप निराश न हों। मेरे दातों में सुवर्ण लगा है। पास से इस पत्थर को उठाकर मेरे दाँतों में मारिये आप को सुवर्ण मिल जायगा। आज तक मेरे यहाँ से कोई भग्न-आशा नहीं लौटा है। आप निराश होकर मेरे मरने के समय न जायँ।'

कानों पर हाथ रखते हुए बूढ़े ब्राह्मण गरज कर बोले--'शिव, शिव ! आप यह कैसा अनर्थ करने के लिये मुझसे कह

रहे हैं। मैं ब्राह्मण हूँ या हत्यारा। आप के दाँत तोड़कर सुवर्ण लूँ। ऐसा हिंसा का दान मुझे नहीं चाहिये। आप मुझे जवाब दे दें। मैं लौट जाऊँगा। ऐसा पाप कर्म कभी भी न करूँगा।'

कर्ण बड़े दुखी हुए। वे बोले—'अच्छा, आप नहीं तोड़ते तो वह पास में जो पत्थर का टुकड़ा पड़ा है, उसे ही मुझे उठाकर दे दीजिये। मैं तोड़कर आप को दे दूँगा।'

ब्राह्मण ने झूठे आश्चर्य के साथ कहा—'राजन्! लोग जो यह कहा करते हैं कि मृत्यु के समय मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, यह बात ठीक ही मालूम पड़ती है। आप धर्मात्मा होकर मुझे ऐसी आज्ञा दे रहे हैं। आप का काम करके तब मैं दान लूँ, ऐसी मजदूरी करना मैं नहीं चाहता।'

कर्ण बड़े धर्म संकट में पड़े। उन्होंने हाथ से अपने कटे सिर को दबाया और बड़े कष्ट से धीरे-धीरे हिलते हुए, सरकते सरकते एक पत्थर के पास पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने पत्थर पर जोर से मुँह मारा। सब दाँत टूट कर गिर पड़े। मुख से रक्त की धारायें बहने लगी। रक्त में भीगा हुआ सुवर्ण निकाल कर उन्होंने ब्राह्मण को देना चाहा। किन्तु ब्राह्मण ने हाथ नहीं बढ़ाया।

(३)

वे ब्राम्हण साधारण ब्राम्हण थोड़े ही थे। दिवाला निकालने वाले निर्दयी ब्राह्मण थे। उन्होंने उसे लेना स्वीकार नहीं किया। कर्ण ने कहा—'ब्रह्मन्! इस सुवर्ण को ग्रहण कीजिये।'

ब्राह्मण अन्यमनस्क भाव से बोले—'क्या बतावें राजन्! आपको इतना कष्ट भी दिया फिर भी मेरा मनोरथ सिद्ध होते नहीं दीखता?'

'क्यों क्या हुआ? इस सुवर्ण से आप अपना काम चलावें। क्या अधिक चाहिये ?' कर्ण ने कहा।

ब्राह्मण बोले—'मुझे अधिक की आवश्यकता नहीं। काम तो मैं इतने से भी चला लूँगा। किन्तु ब्राह्मण के हाथ पर उच्छिष्ट और रक्तरंजित सुवर्ण देकर आप पाप के भागी क्यों बन रहे हैं ? मैं उच्छिष्ट सुवर्ण न लूँगा।'

'सुवर्ण का क्या उच्छिष्ट, विप्रवर ? सोना चाँदी पानी से धोने से ही पवित्र हो जाते हैं ?' कर्ण ने कहा।

'हाँ ठीक है, धोने से पवित्र अवश्य हो जाते हैं,किन्तु आप धोकर दें तब तो। अपने हाथ धोइये, मुँह के सुवर्ण को जल में प्रक्षालन कीजिये। तब शुद्ध-चित्त से प्रेमपूर्वक दान करें।'

कर्ण बड़े धर्म-संकट में पड़े। यहाँ समरभूमि में जल कहाँ। थोड़ी देर में उन्हें याद आई। उन्होंने जल्दी से कहा—'ब्रह्मन्! मेरा वह धनुष उठा दीजिये। मैं अभी धोता हूँ।'

ब्राह्मण जल्दी से बोल उठे—'फिर वही बात। मुझ बूढ़े पर तुम्हारा धनुष कैसे उठेगा। तुम ब्राह्मण से धनुष उठाने को कहते हो, लज्जा नहीं आती ?'

कर्णने यह उत्तर सुनकर क्रोध नहीं किया। उन्हें अपने ऊपर बड़ी लज्जा आई। बड़े कष्ट से वे सरकते हुए धनुष के समीप पहुँचे। एक हाथ उनका कुछ काम देने योग्य था। उससे धीरे-धीरे उन्होंने धनुष को उठाया। धनुष की एक नोक जमीन पर रखी, दूसरे अच्छे हाथ से दूसरे सिरे को नवाया। दाँतोंसे डोरी चढ़ाई। एक सींक को मन्त्र से अभिमन्त्रित करके दाँतों से उन्होंने उसे छोड़ा। देखते ही देखते पाताल से भगवती-गंगा निकल आईं। उसमें उन्होंने हाथ धोये। उस सुवर्ण को उन्होंने ब्राह्मण के हाथ पर ज्यों ही रखा त्यों ही आकाश से फूलों की

वर्षा होने लगी। गन्धर्व गाने लगे, अप्सरायें नाचने लगीं, देवता दुंदुभी बजाने लगे। चारों ओर से 'दानवीर कर्ण की जय, महात्मा वसुषेण की जय, शूरवीर वृष की जय का गगन-भेदी शब्द सुनाई पड़ने लगा। कर्ण का यश संसार में छागया।

भगवान ने उन्हें साक्षात् दर्शन दिये। सामने श्याम-सुन्दर की मनोहर मूर्ति को देखकर कर्ण एकटक भाव से आँखें फाड़-फाड़ कर देखते रहे। उनके पलक नहीं गिरते थे,वे अनि-मेष भावसे मदनमोहन की रूप माधुरी का पान करने लगे। उनकी आखें ऐसी फटीं कि वे फटी की फटी रह गईं, फिर कभी बन्द नहीं हुईं ? महात्मा कर्ण का शरीर अब नहीं रहा, किन्तु उनकी धवलकीर्ति से दिशायें अब भी पूरित हैं और तब तक पूरित रहेंगी,जब तक पृथ्वी पर चन्द्र-सूर्य विद्यमान रहेंगे।

